भारतीय दर्शन के मूल तत्व

भारतीय दर्शन के मूल तत्व

मूललेखक

एम० हिरियन्ना, एम० ए०

अनुवादक

प्रकाश नारायण शर्मा, एम० ए०

सम्पादक और संशोधक

मधुकर, एम० ए०

सेन्ट्रल बुक डिपो

प्रथम प्रकाशित, अप्रैल १९५४

वैनगार्ड प्रेस, इलाहाबाद, द्वारा मुद्रित

भूमिका

'आउटलाइन्स ऑव् इन्डियन फिलासोफी' नामक मेरी पुस्तक को प्रकाशित हुए कई वर्ष हुए। इसका मुख्य उद्देश्य अपने विश्व-विद्यालयों के विद्यार्थियों के लिये ऐसी पाठ्य-पुस्तक को प्रस्तुत करना था जो कि उनकी सुविधाओं के अनुरूप हो। सामान्य पाठक के लिये विषय को कुछ सरल तथा संक्षिप्त रूप में प्रतिपादित करने की आवश्यकता थी। प्रस्तुत प्रयत्न इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए किया गया है। आशा है यह पुस्तक इस उद्देश्य के लिए उपयुक्त सिद्ध होगी और इसका भी पूर्व पुस्तक की भांति उदारतापूर्वक स्वागत किया जायगा।

दोनों पुस्तकों का विवेच्य-विषय एक ही होने के कारण उनमें स्वभावतः एक प्रकार की समानता आ गई है; परन्तु पूर्व ग्रन्थ का कोई भी अंश इसमें शब्दतः उद्धृत नहीं किया गया है। पूर्व ग्रन्थ में जिन बहुत सी विस्तृत बातों का समावेश किया गया था उन्हें प्रस्तुत पुस्तक में इसके उद्देश्य को ध्यान में रखते हुये छोड़ दिया गया है। इन दोनों पुस्तकों में केवल यही अन्तर नहीं है कि इसमें उन विस्तृत बातों को छोड़ दिया गया है, परन्तु कई बातों के प्रतिपादन में भी भेद है, जैसे कि प्रथम दो परिच्छेदों में, जिनमें आरम्भिक भारतीय विचारधारा का विवेचन किया गया है। फिर कम से कम दो स्थलों पर कुछ महत्वपूर्ण बातें जोड़ भी दी गई हैं। पूर्व ग्रन्थ में बौद्धमत का प्रतिपादन उसकी दो विकसित अवस्थाओं को ही लेकर किया गया था। परन्तु इसका एक तीसरा रूप भी है, जिसमें बुद्ध के मूल सिद्धान्तों का दर्शन होता है। इधर विद्वानों ने इसको पुनः नवीन रूप से प्रतिष्ठापित किया है। इसके संक्षिप्त विवरण को भी स्थान दे दिया गया है। इसी प्रकार द्वैत सम्प्रदाय का भी समावेश करके वेदान्त के वर्णन को भी परिवर्द्धित

कर दिया गया है। भारतीय दर्शन जैसे विषय का प्रतिपादन करने में संस्कृत शब्दों का प्रयोग न करना बहुत कठिन है। पर जहाँ तक सम्भव हो सका है इस ग्रन्थ में संस्कृत शब्दों का प्रयोग बहुत कम किया गया है।

इस ग्रन्थ को तैयार करने में मैंने अपने दो लेखों का उपयोग किया है। इनमें एक तो 'आर्यन पाथ' नामक पत्र में लिखा था और दूसरा (रामकृष्ण मिशन द्वारा प्रकाशित)'हेरिटेज ऑव् इन्डियन कल्चर' में। मैं उनका उपयोग करने की अनुमति के लिये दोनों पत्रों के सम्पादकों की सहृदयता का आभारी हूँ। पुस्तक की टाइप की हुई पाण्डुलिपि को पढ़ने की कृपा और दी गई अमूल्य सम्मतियों के लिये मैं लिवरपूल विश्वविद्यालय के स्वर्गीय डा० जे० ई० टर्नर का बहुत ऋणी हूँ। प्रोफेसर एस० राधाकृष्णन् ने सदा से ही मेरे ग्रन्थों में उदारतापूर्वक रुचि प्रदर्शित की है। इसके लिये अन्त में उनके प्रति भी मैं अत्यन्त कृतज्ञता प्रदर्शित करता हूँ। इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं कि बिना उनकी सहायता और प्रोत्साहन के न तो यह पुस्तक और न पहले ही लिखी गई पुस्तक प्रकाशित होती।

(अप्रैल १९४८) एम० एच०

विषय-सूची

परिच्छेद			पृष्ठ
१—वैदिक धर्म तथा दर्शन	..	...	१
२—दार्शनिक सम्प्रदायों की ओर ...		...	३३
३—अवैदिक मत	..	...	७२
४—न्याय-वैशेषिक	...	..	११५
५—सांख्य-योग	...	...	१५१
६—पूर्व मीमांसा	...	...	१८८
७—निर्विशेष वेदान्त	..	...	२२३
८—सविशेष वेदान्त	...	...	२६०

—:o:—

पहला परिच्छेद

वैदिक धर्म तथा दर्शन

भारतीय विचारधारा के विषय में ज्ञान प्राप्त करने के लिये सबसे प्राचीन साधन वेद हैं, जिनका तात्पर्य, जैसा कि कहा जाता है, किसी ग्रन्थ विशेष से न होकर एक सम्पूर्ण साहित्य से है। प्रायः यह माना जाता है कि इस साहित्य के दो भाग हैं—मंत्र तथा ब्राह्मण। प्रारम्भ के कितने ही उपनिषदों का समावेश तो ब्राह्मणों में ही है। परन्तु भारतीय विचारधारा के इतिहास में उनका अत्यधिक महत्व होने के कारण उनको वेद का एक पृथक् अंग मानना अपेक्षित है। साधारणतया ये तीनों भाग वैदिक साहित्य के विकास की क्रमिक अवस्थाओं के सूचक हैं। साथ ही ये तीनों भाग एक दूसरे से बहुत कुछ विभिन्न मतों का भी प्रतिपादन करते हैं। वैदिक साहित्य की इन विभिन्न अवस्थाओं की ठीक ठीक कालानुक्रमिक सीमाएँ निश्चित करना सम्भव नहीं है। यहाँ तक कि यह भी निश्चित रूप से पता नहीं है कि 'वैदिक काल' का समय कब से कब तक है यद्यपि विद्वानों ने बहुत समय तक इस प्रश्न पर मीमांसा की है। केवल इतना ही निश्चित है कि प्रमुख उपनिषदों के सहित वेद महात्मा बुद्ध के पहले के हैं जिनके शरीर त्याग का समय लगभग ४८० ई० पू० है। इसके अनुसार वैदिक काल का उत्तर विस्तार ५०० ई० पू० तक माना जा सकता है। जहां तक इस विस्तार की पूर्व सीमा का सम्बन्ध है, कुछ दिनों पहले प्रचलित मतानुसार इसका समय ई० पू० १२००-१५०० तक ठहराया जाता था। और आज भी इस मत को पूर्णतया छोड़ा नहीं गया है। डा० विन्टर-नित्स ने अपने 'भारतीय साहित्य का इतिहास' (History of

Indian Literature) नामक ग्रन्थ में जिस मत का प्रतिपादन किया है वही अब इस मत का स्थान ले रहा है। यह मत वैदिक काल के आरम्भ का समय ईसा के पूर्व २०००-२५००० के बीच में ठहराता है। यह अभी नहीं मालूम कि सिन्ध नदी की घाटी में मोहेञ्जोदारो और हरप्पा में निकट हाल के कुछ वर्षों में जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण खोजें हुई हैं उनके विषय में जब पूरी छानबीन हो चुकेगी तो प्रस्तुत मत में क्या परिवर्तन (यदि कोई परिवर्तन हुआ) करना पड़ेगा। इन विस्तृत बातों का यहाँ पर हमारे लिये कोई विशेष महत्त्व नहीं है अतः हम त्रिधा-विभिन्न वेद के सिद्धान्तों पर विचार करेंगे।

[१]

मन्त्र शब्द स्तोत्र अथवा धार्मिक सूक्तों का पर्यायवाची माना जाता है। वेद में संकलित सूक्त विभिन्न काल के हैं। इनमें सबसे पहले और सबसे बाद वाले सूक्तों में शताब्दियों का अन्तर है। बाद में अर्थात् उनकी रचना काल के बहुत समय बाद उनको एकत्र कर लिया गया और वे आज भी अलग अलग संग्रहों में, जिन्हें 'संहिता' कहते हैं, सुरक्षित हैं। उनमें ऋग्वेद और अथर्व वेद के नाम से ख्यात दो संहितायें हैं। उनका उल्लेख यदा कदा इस पुस्तक में किया जायेगा। हम नहीं जानते कि उस समय मिलने वाले धार्मिक सूक्तों में से कितनों को इन संहिताओं में संकलित किया गया था। केवल इतना ही निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि उनका सम्पूर्ण संकलन नहीं मिलता है। मैक्समिलर के अनुसार "हमें ऐसा मानने का कोई अधिकार नहीं है कि वैदिक काल के धार्मिक तथा प्रचलित काव्य का सतांश भी हमें प्राप्य है।" प्रस्तुत खण्ड में हम केवल आरम्भ के मन्त्रों पर विचार करेंगे। बाद वाले मन्त्रों पर ब्राह्मणों पर लिखे गये अगले खण्ड में विचार किया जायेगा क्योंकि उनसे इनकी शिक्षाओं का अधिक साम्य है। परन्तु

हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि पहले वाले सूक्तों में कितने ही इतने अधिक दुर्बोध हैं कि उनकी सन्तोषजनक व्याख्या सम्भव नहीं है। इस दुर्बोधता और उसके साथ ही प्राप्त सूक्त सामग्री की अपूर्णता के कारण उस काल में प्रचलित विश्वासों के स्वरूप के विषय में किसी भी निश्चय पर पहुँचना अत्यन्त कठिन हो जाता है। इस कारण हमें विद्वानों द्वारा साधारणतया मान्य मत का उल्लेख करके ही सन्तोष करना पड़ेगा। इस मत के अनुसार पहले वाले मन्त्रों में प्रकृति उपासना के एक रूप का प्रतिपादन किया गया है। भारत में आने वाले आर्यों के पूर्वज, इस प्रकृति उपासनामूलक धर्म को मूलतः अपने आदि निवास-स्थान से लाये थे।

इस धर्म में अग्नि, वायु और सूर्य जैसी प्राकृतिक शक्तियों को पुरुषाकार से आरोपित किया गया है। ये ऐसी शक्तियाँ हैं जिनके बीच में मनुष्य का जीवन बीतता है और जिनका प्रभाव उस पर निरन्तर पड़ता रहता है। इस पुरुषाकार आरोपण के पीछे यह विश्वास निहित है कि विश्व में सर्वत्र जो व्यवस्था दृष्टिगोचर होती है वह इन नियामक शक्तियों के ही कारण है जैसे अहो-रात्रि अथवा ऋतुओं का नियत क्रम। इसी कारण इन शक्तियों को अलौकिक अर्थात् देवता माना गया है जिनके प्रति मनुष्य का यह कर्त्तव्य है कि वह उनका आज्ञावर्ती रहे और उनकी पूजा करे। अस्तु यह कहा जा सकता है कि ये सूक्त, विश्वनियन्त्रण के लिये उत्तरदायी मानी जाने वाली इन देव-विद् प्राकृतिक शक्तियों के प्रति रची गई प्रार्थनाएं हैं। इस प्रकार जिन देवताओं की प्रार्थना की गई है उनकी संख्या काफी बड़ी है। इनमें से कुछ तो, जैसे अग्नि जिसको अन्य देवताओं के लिये हव्य-ग्राही माना गया है, आर्यों के भारत में आकर बसने के पहले से ही माने जाते थे। परन्तु कुछ नवीन देवताओं की भावना उन्होंने अपने नवीन

आवास में आकर की, उदाहरणार्थ देवी उषस् (उषा) जो प्रेमिक सूर्य द्वारा अनुसृत लज्जारक्त तरुणी चित्रित की गई है। यद्यपि वैदिक देवताओं का यह कुटुम्ब काफी विशाल है तथापि सुरक्षित सूक्तों में कुछ देवता जिस प्रकार चित्रित किये गये हैं उससे यही प्रतीत होता है कि वे दूसरे देवताओं से अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। यह ध्यान देने की बात है कि जिन दो प्रमुख देवताओं विष्णु और शिव को बाद में हिन्दू धर्म में अत्यधिक महत्व दिया गया वे वैदिक युग में अज्ञात न होने पर भी इन प्रमुख देवताओं में नहीं हैं। अपेक्षतया अधिक प्रभावशाली देवताओं में वरुण और इन्द्र का उल्लेख करना ही पर्याप्त होगा। एक मन्त्र के अनुसार वे "समस्त प्राणिवर्ग को धारण करने वाले दो राजा हैं।" एक महान् 'व्रत' को अटल नियम के साथ धारण करता है और दूसरे का यह गुण है कि वह सदा अपने भक्तों के शत्रुओं का हनन करके उनकी रक्षा में तत्पर रहता है।

इन संहिताओं में सबसे प्रमुख देवता इन्द्र हैं। प्रमुख रूप से वह वीर्य और शक्ति का प्रतीक है परन्तु साथ ही उसके स्वभाव में कुछ ऐसे गुणों का समन्वय भी मिलता है जिनको देवतत्व के साथ मिलाना ठीक नहीं प्रतीत होता। वह अत्यन्त दर्पयुक्त तथा ओजायमान है और सोमरस का असाधारण रूप से प्रेमी है। अतएव ऐसा प्रतीत होता है कि उसने वैदिक देवताओं में इतना श्रेष्ठ स्थान किन्हीं घटनात्मक परिस्थितियों के कारण ही पा लिया था। उसको "आर्य वर्ण का रक्षक" और "दास वर्ण का संहारक" कहा गया है। इस चित्रण से सूचित होता है कि वह परिस्थिति सम्भवतः यह थी कि बाहर से आने वाले आर्यों को यहाँ के विरोधी आदि वासियों को अपना शासित बनाने के सहायतार्थ एक संग्रामशील तथा अपना आतंक जमाने वाले देवता की आवश्यकता थी, या वह परिस्थिति यह थी कि उनके नये निवासस्थान में बहुधा अकाल का भय रहता था जिससे इन्द्र को "वज्रबाहु" वर्षा और बिजली का अधिष्ठातृदेव तथा "वर्षा को रोक रखने वाले असुर का हनन करके उसको

मुक्त करने वाला'' भी कहा गया है। प्रो० राधाकृष्णन लिखते हैं—"जब आर्य भारत में आये तो उन्हें ज्ञात हुआ कि उनकी समृद्धि केवल वर्षा की द्यूत क्रीड़ा पर निर्भर है—जैसा कि आजकल भी है। स्वभावतः वर्षा का देवता इन्द्र भारतीय आर्यों का 'राष्ट्रीय देवता' बन गया।

वैदिक काल के आर्य एकमात्र इन्द्र को ही देवता तत्व का प्रतीक नहीं मानते थे। इन मन्त्रों में एक अन्य प्रमुख देवता वरुण के विषय में भी स्पष्ट रूप से कहा गया है। परन्तु उसका उल्लेख इन्द्र की भाँति बहुधा नहीं किया गया है। वरुण सदाचार और नैतिकता का देवता है और शिव तथा सुन्दर का संरक्षक। वह सर्वज्ञ है और मनुष्यों के सत्य और मिथ्या व्यवहार को देखता रहता है जैसा कि कहा भी गया है कि 'चाहे जब भी दो मनुष्य छिपकर कोई षड़यन्त्र रचें वह वहाँ उपस्थित ही रहेगा।' वह केवल मनुष्य के अन्तरतम में छिपे पापों को जान ही नहीं लेता वरन् इतना सहृदय भी है कि यदि पापी मनुष्य वस्तुतः पश्चाताप करते हैं तो वह उन्हें दया करके क्षमा कर देता है। "जिन पाप कर्मों को हमने किया है हमें उनसे मुक्त कर दो,'' यह वरुण देवता के प्रत्येक सूक्त की टेक है। उसकी प्रशंसा में रचित सूक्त वेद के कुछ सर्वश्रेष्ठ सूक्तों में गिने जाते हैं। परन्तु आज जिस रूप में संहितायें मिलती हैं उनमें यदि सूक्तों की संख्या की दृष्टि से देखा जाय तो वरुण नितान्त महत्वहीन देवता ठहरता है। उसकी यह महत्वहीनता बाद में भी वैसी ही रही। यह बात इस उदाहरण से स्पष्ट हो जाती है कि उत्तरकालीन पुराणों के देवताओं में उसका स्थान सर्वश्रेष्ठ न होकर केवल समुद्रों के अधिपति का है—जैसा कि कहा भी गया है कि वह "भारतीय नेपचून" है। सम्भवतः वह किसी पूर्व आदर्श का प्रतीक था परन्तु कुछ ऐसी नवीन परिस्थितियों के प्रभाव में जिनके विषय में ऊपर संकेत कर दिया गया है वह इन्द्र के महत्व के सम्मुख छिप सा गया, जिस प्रकार इन्द्र भी कालान्तर में पृष्ठभूमि में

चला गया और स्वर्ग लोक का यशस्वी अधिपति मात्र ही रह गया। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि वरुण के रूप में उस आदर्श का प्रतीक ही नष्ट हुआ न कि वह आदर्श—क्योंकि बाद के भारतीय ईश्वरवाद में उसको बहुत ऊँचा स्थान दिया जाने लगा।

इस काल में देवत्व के एक स्वरूप की ओर हमें विशेष ध्यान देना चाहिये जो 'ऋत' के बहुत निकट रूप से सम्बन्धित रहा है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से ऋत का अर्थ प्रगति होता है। मूलतः इसका अर्थ विश्वव्यापी व्यवस्था था जिसको जैसा कहा जा चुका है स्थिर रखना समस्त देवताओं का कर्त्तव्य है। बाद में यह सत्य के अर्थ में भी आने लगा। इस प्रकार देवता विश्व की भौतिक अव्यवस्था से ही नहीं बल्कि नैतिक अव्यवस्था से भी रक्षा करने वाले माने जाने लगे। वस्तुतः एक भाव दूसरे में निहित है और विश्व में सुव्यवस्था इस कारण है कि उसका शासन नैतिक शक्ति के हाथों में है। वरुण नैतिकता के इस सिद्धान्त के धारण करने वालों में प्रमुख है। उसको 'गोपा ऋतस्य' ऋत का सच्चा रक्षक कहा गया है। कुछ न कुछ अंशों में तो इन्द्र के सहित दूसरे देवता भी हमारे सम्मुख इसी स्वरूप में आते हैं। वस्तुतः मन्त्रों में 'गोपा ऋतस्य' देवताओं के लिये साधारणतया व्यवहृत हुआ है। ये सब देवता कल्याण चाहने वाले और अपनी उस इच्छा को कार्य रूप में परिणत करने के प्रयत्नशील चित्रित किये गये हैं। वेद में इस शब्द का एक तीसरा अर्थ भी है। इसके विषय में हम बाद में कहेंगे। संस्कृत भाषा में इस शब्द का प्रयोग लगभग समाप्त ही हो गया है परन्तु हम देखेंगे कि बाद में धर्म के नाम से इसी भाव का भारतीय जीवन विषयक विचारों में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है।

इन पूर्वकालीन मन्त्रों के अनुसार देवता केवल विश्व के नियन्ता ही नहीं हैं वरन् उसका अस्तित्व भी उन पर निर्भर है क्योंकि

उन्होंने ही इसकी सृष्टि की है। इन मन्त्रों के अनुसार समस्त विश्व तीन विभागों में बँटा हुआ है। वे भाग द्यौः (आकाश), अंतरिक्ष और मर्त्य—लोक हैं। इनमें प्रत्येक प्रदेश के अपने अपने अधिनायक देवता हैं। मनुष्य का देवताओं के साथ जो सम्बन्ध दिखलाया गया है वह पूर्ण आश्रितत्व का है किन्तु वह सम्बन्ध एक प्रकार से अति घनिष्ट है क्योंकि वैदिक आर्यों ने पिता भ्राता कह कर देवताओं का सम्बोधन किया है। कहा जाता है कि देवताओं के लिए स्नेह का सम्बोधन "वैदिक शब्दावली में नितान्त सामान्य हैं और इसके विपरीत देवताओं को अपने भक्तों पर अनुरक्त दिखलाया गया है।" देवता सम्पूर्ण विश्व के शक्तिशाली शासक हैं। इस कारण मनुष्य को उनका भक्त होना चाहिए। फिर वे केवल शक्तिशाली ही नहीं वरन् सदाचारी भी हैं। अतएव मनुष्य को सदाचारपूर्ण पवित्र जीवन व्यतीत करना चाहिए। इन मन्त्रों में भौतिक जगत अथवा उसके किसी स्वरूप विशेष के मिथ्या होने का प्रतिपादन नहीं किया गया है। इसके विपरीत ऐसा होता है कि उस समय मनुष्यों में नित्यप्रति के इस व्यावहारिक जगत के प्रति काफी तीव्र राग था, क्योंकि बहुधा भौतिक समृद्धि के लिए ही देवताओं की प्रार्थना की गई है जैसे पुत्रों, पशुओं अथवा धन के लिये। इस समय तक आवागमन के सिद्धान्त में विश्वास उत्पन्न हो गया हो ऐसा नहीं प्रतीत होता। परन्तु मृत्यु के अनन्तर मनुष्य का अस्तित्व माना गया है। इसका अर्थ है कि आत्मा अमर मानी गई है। यह विश्वास है कि मृत्यु के पश्चात् साधु तथा पवित्र आत्माएँ स्वर्ग लोक को जाती हैं और वहाँ देवताओं के साथ पूर्ण आनन्द का जीवन व्यतीत करती है। दुष्ट और अपवित्र आत्माओं के विषय में इतनी स्पष्टता से नहीं कहा गया है किन्तु यह प्रतीत होता है कि मृत्युपरान्त उनके अस्तित्व को भी माना गया है क्योंकि यदि कभी भी उनके विषय में उल्लेख किया गया है तो उन्हें 'अनन्त 'तमिस्रा' में ही जाते हुए कहा गया है। इसके विपरीत सदाचारी मृत्यु के पश्चात् 'शुभ्रज्योति' में जाते हैं।

[२]

अब तक हमने प्रारम्भिक काल के सूक्तों के विषय में कहा है। अब हम अपनी निश्चित योजना की सीमाओं के अन्दर ही उत्तरकालीन सूक्तों एवं ब्राह्मणों पर विचार करेंगे। ब्राह्मण शब्द की व्युत्पत्ति 'ब्रह्मन्' से हुई है जिसका अर्थ 'स्तुति' अथवा भक्ति है। इस प्रकार ब्राह्मणों का तात्पर्य मुख्यतया यज्ञों के विषय में पुरोहितों की प्रामाणिक उक्तियों से है। इस प्रकार की युक्तियों का संग्रह होने के कारण ब्राह्मणों को यह नाम दिया गया है। सामान्य दृष्टि से देखने पर यह ज्ञात होता है कि प्रारम्भिक सूक्तों के दार्शनिक विचारों का विकास इस काल में निम्नलिखित धाराओं में हुआ है—एकदेववाद, एकत्ववाद और कर्मकाण्डवाद। इनमें से प्रथम दो धाराएँ तो प्रायः एक दूसरे से मिली हुई पाई जाती हैं किन्तु शीघ्र ही यह बतलाया जायेगा कि उनकी भावनाएँ नितान्त विभिन्न हैं। इसी कारण हमने उनकी विवेचना अलग अलग की है।

(१) **एकदेववाद :—**इस काल में प्रारम्भिक सूक्तों में वर्णित अनेक देवताओं के स्थान पर एकदेववाद में विश्वास बहुत कुछ निश्चित सा हो गया। इन सूक्तों में ही यह प्रवृति विभिन्न रूपों में प्रकट हो जाती है। उनमें से एक उन सूक्तों में वर्णित देवताओं का पारस्परिक साम्य है। देवताओं में कुछ समान विशेषताएँ हैं, जिससे यह सूचित होता है कि उनकी एकरूपता स्वीकार कर ली गई थी, यद्यपि यह पूर्णतया जान-बूझकर नहीं किया गया था। उन सबों के लिये समान विशेषण 'देव' जिसकी व्युत्पत्ति 'प्रकाशित होने' के अर्थ में आने वाली एक धातु से हुई है प्रयुक्त होता है। इस प्रकार इससे यह सूचित होता है कि वे सब 'प्रकाशमान्' हैं। इसके अतिरिक्त जैसा कि ऊपर कहा गया है वे सब भौतिक व्यवस्था को बनाये रखते हैं। इस काल में इस प्रवृत्ति का और आगे विकास होता है; किन्तु जिस सामान्यतया मान्य अर्थ में एकत्ववाद

का व्यवहार होता है उसके अनुरूप ही इस प्रवृत्ति का अन्त परमेश्वर के एक पूर्णतया निश्चित आदर्श में नहीं होता। इसका उद्देश्य अन्य देवताओं के ऊपर एक परमदेव का अन्वेषण न होकर उन सबों के पीछे एक समान सक्रिय शक्ति का ढूँढ़ना है अथवा दूसरे शब्दों में हम इसे उन सबों में व्याप्त मूल तत्व कह सकते हैं। "एक ही तत्व को विद्वान् पुरुष बहुत प्रकार से पुकारते हैं, कोई उसे अग्नि कहता है, कोई यम और कोई वायु।" इस प्रकार उत्तर वैदिक काल में परमेश्वर की भावना धार्मिक से अधिक दार्शनिक कही जा सकती है। उदाहरणतया अनन्त शक्ति का होना सभी देवताओं का एक विशेष लक्षण है; किन्तु व्यक्तित्व का आरोप करके उसे सर्वोपरि कर दिया गया है और "विश्वकर्मा" (सब कुछ करने वाला) की संज्ञा दे दी गई है। इस सूक्त के अनुसार वह विश्व का महान् शिल्पी है "वह सर्वज्ञ है, उसीने देवताओं को उनके नाम दिए हैं और आदेश पाने के लिये सब उसी के पास जाते हैं।" देवताओं की समान विशेषताओं के आधार पर परमेश्वर की एक सामान्य तथा निरपेक्ष सी भावना की अवतारणा करने का बार बार प्रयत्न किया गया है—और ऐसा करने में विचारों की उड़ान को पूरी छूट दे दी गई है। इस कारण हम देखते हैं इस काल में ऐसी बहुत सी भावनाएँ हैं जो एक दूसरे के बाद आती रहती हैं और एक दूसरे का स्थान ग्रहण करती रहती हैं।

इस प्रकार प्रतिष्ठित करके बाद में परमेश्वर की जिन भावनाओं को अप्रतिष्ठित कर दिया गया है उनमें सर्व प्रमुख प्रजापति अथवा "देव-पिता" की भावना है। इनके नाम से यही तात्पर्य है कि समस्त सृष्टि प्राणिवर्ग इनकी ही संतान है। यह उपाधि "देवताओं के अधिपति" अपने इस शाब्दिक अर्थ में ही पहले पहल विभिन्न देवताओं के लिये प्रयुक्त की हुई मिलती है परन्तु बाद में इससे देवत्व के केवल एक स्वरूप का ही परिचय मिलना बन्द हो गया और इसने स्वतन्त्र स्थिति प्राप्त कर ली। इस प्रकार ऋगवेद के एक प्रचलित सूक्त में नौ बार पूछे

गये प्रश्न के—"हम किस देवता को हवि अर्पित करें ?" उत्तर में कहा गया है कि प्रजापति को जो कि समस्त भूत-समुदाय के एकमात्र अधिकारी हैं।" अन्य स्थलों में पाये जाने वाले वर्णन के अनुसार वे जगत का नियमन करने वाले नैतिकता के मूलतत्व ऋत से उत्पन्न हुए हैं। इस वर्णन के अनुसार यह देवता अमूर्त हैं क्योंकि एक विशेषक मात्र का सर्वशक्तिमान् परमेश्वर के पद तक उत्कर्ष हो जाने के कारण ही उनकी भावना की गई है; किन्तु तब भी नैतिक प्रतिष्ठा की जो विशेषताएँ प्रारम्भिक और अपेक्षतया अधिक मूर्तमान देवताओं में मिलती हैं उनका इसमें अभाव नहीं है। वास्तव में वे प्राय: नैतिक बातों में प्रमाण माने जाते हैं। उत्तर काल के मन्त्रों और ब्राह्मणों को एक में लेने पर उनमें प्रजापति देवत्व की एकता की सर्वोच्च भावना को प्रदर्शित करते हैं। कालान्तर में उनका स्थान भी दूसरों ने ले लिया। इस काल के अनन्तर- उदाहरण के रूप में कुछ उपनिषदों को ले लीजिए—ब्रह्मा (पु०) का नाम देकर इन देवता को स्पष्टतया द्वितीय श्रेणी में पहुँचा दिया गया है।

(२) **एकत्ववाद** :—जिस दूसरी दिशा में पूर्वकालीन मन्त्रों की विचारधारा का विकास हुआ वह अवश्य दार्शनिक है। इसके अनुसार जगत् किसी स्रष्टा की रचना नहीं है। कोई आदि कारण इन समस्त विभिन्नताओं से युक्त विश्व के रूप में अपने को परिवर्तित करता रहता है। पूर्व मत की भांति ही हेतुमूलक इस तत्व की अथवा उत्पत्ति के मूलाधार की कल्पना भी भिन्न-भिन्न प्रकार से की गई है। किसी स्थान पर यह 'अदिति' के रूप में मिलती है तो कहीं काल के रूप में। एक अत्यन्त गम्भीर सूक्त में उसे "तत् एकम्" की संज्ञा दी गई है। यह सूक्त—"ऋगवेद के दार्शनिक विचारों की पराकाष्ठा" का द्योतक है और यह संज्ञा देवताओं तथा प्राकृतिक घटनाओं में व्यक्तित्व का आरोपण करके आरम्भ में रचे गये साहित्य का निराकण करते हुए हमें उपनिषदों में वर्णित उपाधिहीन शक्ति के विषय में निश्चित रूप

से बताती है कि वह शक्ति क्या है। इसके विषय में हम शीघ्र ही कहेंगे। सूक्त में कहा गया है—"सृष्टि के आदि काल में न तो सत् था न असत्। बस वह एक ही था जो अपनी सामर्थ्य से शान्त होकर श्वास ले रहा था।" इसके पश्चात् इस सूक्त में कहा गया है कि उसमें वह शक्ति (तपस्) अन्तर्निहित थी जिससे कि देवताओं को लेकर समस्त विश्व बाद में इस रूप में विकसित हो गया। यहाँ मूलभूत सत्ता की भावना सक्रिय और स्वयं विकास पाने वाली शक्ति के रूप में की गई है। इस कारण इसको निर्देश देने और स्वरूप देने के लिए किसी वाह्य शक्ति की आवश्यकता ही नहीं है। यही बात यहाँ विशेषतया ध्यान देने की है।

जैसा कि कहा जा चुका है इस विचारधारा का प्रायः एकदेववाद की दूसरी धारा से सांकर्य हो गया है। इसका कारण यह है कि इस काल की कल्पना के अनुसार परमेश्वर का केवल अन्य देवताओं के साथ ही नहीं अपितु उस सम्पूर्ण विश्व के साथ भी जिसका वह स्रष्टा है एकत्व स्थापित किया गया है। उदाहरणार्थ एक स्थल पर प्रजापति के विषय में कहा गया है कि "वे ही सबों के अधिपति हैं उनके अतिरिक्त और कोई नहीं है।" इसके अर्थ यह हुए कि परमेश्वर को स्रष्टा के रूप में जगत् का केवल निमित्त कारण ही नहीं माना गया है वरन् एकत्ववाद के अनुसार उसे उपादान कारण भी माना गया है। आजकल प्रायः उत्तरकाल के मन्त्रों और ब्राह्मणों के एकत्ववाद को सर्वेश्वरवाद के रूप में प्रदर्शित किया जाता है किन्तु यह ठीक नहीं है। इसका कारण यह है कि इस मत में हम जब इस शब्द का प्रयोग करते हैं तो उसका आशय केवल सर्वव्यापकता ही नहीं वरन् अतिव्यापकता भी होता है। उदाहरणतया पुरुष-सूक्त में कहा गया है—"वह पुरुष भूमि को सब ओर से परिवेष्टित करके उसका दशाङ्गुल से अतिक्रमण करता हुआ स्थित हुआ है।" आदि तत्व तो निस्सन्देह जगत में सर्वव्याप्त है। यह जगत् यद्यपि उसी से संसृत होता है तथापि

वह उसी में परिसमाप्त नहीं होता।

(३) कर्मकाण्डवाद:—सर्वप्रथम प्रकृति के विभिन्न देवताओं का आह्वान करने का उद्देश्य प्रायः इस लोक तथा परलोक में सफलता पाने के लिये उनकी कृपादृष्टि प्राप्त करना ही था। अतः स्वभावतः उस समय प्रार्थना के साथ हविष्य अन्न और घृत भी उपहृत किया जाता था। किन्तु देवार्चना का यह सीधा साधा ढंग अधिकाधिक जटिल होता गया। कालान्तर में इससे विस्तृत यज्ञों की उद्भूति हुई। पुरोहितों का एक ऐसा विशेष वर्ग भी बन गया जिनकी वृत्ति ही तत्सम्बन्धी कर्म सम्पादन थी और ऐसा विश्वास किया जाने लगा कि भजन का अधिकार उन्हीं को है। उत्तर काल के सूक्तों में बहुत समय तक चलने वाले यज्ञों का उल्लेख मिलता है। इन यज्ञों में यजमान को कितने ही पुरोहितों को रखना पड़ता था। इस विस्तृत कर्मकाण्डवाद की शिक्षा देने वाले इन ब्राह्मणों ने पूर्व काल के मन्त्रों को गौण स्थान पर पहुँचा दिया है। वे इन मन्त्रों का प्रयोग अवश्य करते हैं पर ऐसा प्रायः उनको मूल-प्रसंग से या कभी-कभी तो मूल अर्थ से भी असम्बद्ध करके किया जाता है।

इस काल में देवताओं को जिस भावना से प्रेरित होकर बलि अर्पित की जाती थी उसमें परिवर्तन हो गया और यह बात कर्मकाण्ड के विस्तार की अपेक्षा अधिक ध्यान देने योग्य है। देवताओं को प्रसन्न करके किसी देव प्रसाद को पाने अथवा किसी आपदा से बचने की भावना से यजन की प्रेरणा मिलना बन्द हो गया। अब यजमान जो कुछ करवाना चाहते थे उसकी पूर्ति से लिये देवताओं को विवश और लाचार करने के उद्देश्य से ही यज्ञ के लिये प्रेरित होते थे। बहुत से आधुनिक विद्वानों ने इस भावना परिवर्तन का कारण समझाते हुए वैदिक धर्म में जादू टोने के समावेश को ही इसका उत्तरदायी ठहराया है। उनके अनुसार यह देवताओं से पुरोहितों के हाथ में शक्ति चले जाने का सूचक है। इसमें कोई संदेह नहीं कि उस समय जादू टोने में बहुत व्यापक रूप से विश्वास

किया जाता था। यह अथर्व वेद से स्पष्ट हो जाता है क्योंकि उसका विषय प्रधानतया जादू टोना ही है। किन्तु जैसा कि शेष वैदिक साहित्य से सामान्यतया ध्वनित होता है वह केवल समाज के निम्न वर्ग तक ही सीमित था। सम्भवतः यज्ञों के पीछे जो परिवर्तित भावना आ गई थी उसका केवल इतना ही अर्थ निकलता है कि वैदिक मन्त्रों में ही इस प्रकार की शक्ति का विश्वास किया जाता था न कि पुरोहितों में। जो अनन्य श्रद्धा विभिन्न आस्तिक सम्प्रदायों में सम्पूर्ण वेद के प्रति दिखाई देती है उसका इससे पूर्ण साम्य है यह हम आगे देखेंगे। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्यों का मंगल करने की शक्ति देवताओं से पुरोहितों में नहीं बल्कि सीधे वेद ही में पहुँच गई।

हम इसे चाहे जो नाम दें और इसका चाहे जो मतलब निकालें इतना तो निश्चित है कि यज्ञ की भावना में एक गम्भीर परिवर्तन आ गया था। इसके परिणाम स्वरूप देवताओं और मनुष्यों के सम्बन्ध में भी परिवर्तन आ गया। विविध यज्ञों से सम्बन्धित विस्तृत क्रियाओं के पूर्णतया अवहित चित्त होकर सम्पादन करने पर ही सारा जोर दिया जाने लगा। ऐसा विश्वास किया जाने लगा कि उससे जो कुछ भी इहलौकिक अथवा पारलौकिक फल सम्भावित होता है वह स्वभावतया स्वयं ही आ जाता है। ऋत का तृतीय अर्थ यही है कि यज्ञ सम्बन्धी विधानों का क्रम सम्पादन ठीक-ठीक हो। यह वही ऋत है जिनके विषय में हम ऊपर कह चुके हैं। इस प्रकार कर्मकाण्ड सम्बन्धी विधि विधानों को वही स्थान दिया गया है जो कि प्राकृतिक व्यवस्था और नैतिक सदाचार को। प्राप्य ग्रन्थों का अनुशीलन करने पर तो यही प्रतीत होता है कि विकास की चरम कोटि पर पहुँचे हुए इस रूप में ही कर्मकाण्डवाद उत्तर वैदिक काल की प्रमुख शिक्षा है। हाँ एकदेववाद की तथा एकत्ववाद की दो अन्य प्रवृत्तियाँ भी उस समय पाई जाती थीं इसलिये उन ग्रन्थों (ब्राह्मणों) में कर्मकाण्डवाद को जो महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है सम्भवतः उसका कारण यह था कि विद्वान

पुरोहितों की प्रवृत्ति कर्मकाण्ड के पक्ष में थी और जिस रूप में वेद हमें मिलते हैं उनके संकलन का भार उन पर ही था।

[३]

अब उपनिषदों पर विचार किया जायगा। उपनिषद् का शाब्दिक अर्थ है "गूढ़ विद्या" (रहस्य) अथवा वह विद्या जो केवल दीक्षित शिष्यों को एकान्त में दी जाती है और इसका पूरा ध्यान रक्खा जाता है कि वह किसी अनधिकारी को न दे दी जाय। उसी समय से यह शब्द उस शास्त्र के लिये भी प्रयुक्त होने लगा जिसमें कि इस विद्या के विषय में कहा गया था। साधारण गणना के अनुसार इन ग्रन्थों की संख्या बहुत अधिक हो जाती है किन्तु उनमें केवल लगभग एक दर्जन ही वैदिक साहित्य के वास्तविक अंगों की श्रेणी में आते हैं। शेष बाद के उपनिषद् हैं और अपेक्षतया कम महत्व के हैं। पहले वालों को हम प्रामाणिक उपनिषद् कह सकते हैं और ये वैदिक विचारधारा के अमूल्य रत्न कहे जाते हैं। जहाँ वे छन्दोबद्ध करके नहीं लिखे गये हैं वहाँ वे संगीतात्मक गद्य में हैं। एक में लेने पर उनमें एक संगीतमय विशेषता है जो कि उनकी निजी है। उनकी शिक्षाओं से परिचित न होने पर भी पाठक सहज ही में उनके सामान्य आशय को ग्रहण कर लेता है। आत्मोद्रेक से हृदय को प्लावित करके अपनेपन कों भुला देने की उनकी शक्ति बड़ी ही विलक्षण है।

ब्राह्मणों में, जैसा कि कहा जा चुका है, कर्मकाण्ड के विस्तृत विधानों का समावेश है। उपनिषदों की शिक्षा एक प्रकार से इनके प्रतिक्रिया स्वरूप हैं। एक ही उदाहरण ले लीजिए। एक उपनिषद में कहा गया है कि देवताओं को यह अच्छा नहीं लगता कि मनुष्य परम सत्य को जाने। ऐसा होने से विश्व में उनका वास्तविक महत्व मनुष्यों पर प्रकट हो जायेगा और परमपद के अधिकारी तो वे किसी प्रकार हैं ही नहीं।

परिणामस्वरूप देवताओं को यज्ञों का हविष्य मिलना बन्द हो जायगा जो कि अन्यथा उन्हें मिलता। इस मत के अनुसार देवता बहुत कुछ मनुष्यों के ही समान हैं। आध्यात्मिक तत्व के प्रति श्रद्धा रखने से जैसे नित्य फल की प्राप्ति होती है वैसे उनकी अर्चना अथवा यजन से नहीं होती। किन्तु यहाँ यह कहना आवश्यक है कि वैदिक-काल में ही कर्म काण्ड के प्रति विरोध रखने वाली भावनाओं में परिवर्तन हो गया। जीवन में परमनिश्रेयस प्राप्त करने के लिये इन विधि विधानों को जीवन में स्थान देना आवश्यक माना जाने लगा। इस प्रकार अन्ततोगत्वा उपनिषद् केवल वेदान्त की ही नहीं वरन् सम्पूर्ण वेद की शिक्षा का निरूपण करते हैं। भारतीय संस्कृति की प्रगति की यह एक विशेषता रही है कि जब प्रगति उन्नति की एक नवीन अवस्था में पहुँच जाती है तो वह पहले वाली अवस्था को पीछे ही नहीं छोड़ती बल्कि उसे आगे या पीछे अपने में ही समाविष्ट कर लेती है। यही विशेषता उपनिषदों की उपर्युक्त विशद् शिक्षा से सूचित होती है।

यह निश्चय करने में कि कुछ महत्वपूर्ण विषयों में उपनिषदों की वास्तविक शिक्षा क्या है बड़ी कठिनाइयां उपस्थित होती हैं और ये कठिनाइयां प्रायः असाध्य होती हैं। इसी वजह से बाद में वेदान्त में भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय निकल आये और वे सबके सब उपनिषदों की ही शिक्षा के प्रतिपादन का दावा करते हैं। हां, यह स्पष्ट है कि उन सबों का प्रतिपाद्य मत अद्वैतवादी और एकत्ववादी है। कहने का तात्पर्य यही है कि वे यही शिक्षा देते हैं कि परम सत्य एक और केवल एक है। एक उपनिषद् में इस सत्य के अदृश्य किन्तु व्यापक अस्तित्व के विषय में इस प्रकार कहा गया है—"ब्रह्म ही ऊपर और नीचे है, वही पूर्व और पश्चिम में है और वही उत्तर तथा दक्षिण में है, वास्तव में यह समस्त विश्व ब्रह्म ही है।" यह परम सत्य स्वभाव से ही आध्यात्मिक माना गया है तथा इस सत्य के अतिरिक्त समस्त सत्तात्मक पदार्थों का अस्तित्व इसी में और

इसी से हुआ माना जाता है। इस अर्थ में यह मत प्रत्ययवाद का निरूपण करता है। एक अन्य उपनिषद् में समस्त पदार्थ समुदाय तथा प्राणि वर्ग के विषय में कहा गया है कि—'इन सब की स्थिति का आधार प्रज्ञा ही है, प्रज्ञा ही विश्व की प्रतिष्ठा है, और प्रज्ञा ही ब्रह्म है।" इसका अर्थ यह नहीं है कि अनेकवाद (अर्थात् यह मानना कि 'परम सत्ता' अनेक हैं) और वस्तुवाद (अर्थात् यह मानना कि भौतिक तत्व भी आत्मिक तत्व अथवा मनस्तत्व के समान ही सत् हैं) इन दोनों वादों का उपनिषदों में कोई उल्लेख ही नहीं मिलता। जैसा कि कहा जा चुका है इसका इतना ही अर्थ है कि उनका उपनिषदों में कोई महत्वपूर्ण स्थान नहीं है। वे वैदिक साहित्य के प्रारम्भिक अंगों की शिक्षाओं की अस्पष्ट प्रतिध्वनि के समान प्रतीत होते हैं। ये शिक्षायें न तो अद्वैतवादी हैं और न प्रत्ययवादी। इसमें कोई संदेह नहीं कि वेद को दो विभागों में विभक्त कर देना भारतीय परम्परा के नितान्त प्रतिकूल है क्योंकि उसमें सर्वदा ही वेद की शिक्षाओं के एकत्व पर जोर दिया गया है। इसको निम्नरूप से प्रतिपादित किया जाता है—वेद के समस्त विभाग समान रूप से श्रुत (प्रकाशित) हुए हैं अतएव उनकी शिक्षाओं में किसी प्रकार के वैषम्य को स्थान नहीं मिल सकता। किन्तु वैदिक साहित्य इतना अधिक विस्तृत है तथा वेद के पूर्व-कालीन एवं उत्तरकालीन अंगों की रचना में इतना अधिक अन्तर है कि यह कहना कि समस्त वैदिक साहित्य बिलकुल एक ही प्रकार की शिक्षा का प्रतिपादन करता है बहुत ही अनोखी बात होगी।

एकत्व सिद्धान्त उपनिषदों की मुख्य शिक्षा है। इसका वास्तविक स्वरूप क्या है? इस प्रश्न का उत्तर देने के पहले पूर्वकाल के वैदिक साहित्य की शिक्षा की कुछ विशेष बातों पर ध्यान देना आवश्यक है। उत्तरकाल के सूक्तों में हमें एकत्ववाद के सिद्धान्त मिलते हैं, इस बात का उल्लेख तो हम कर ही चुके हैं। इस प्रसंग में हमने

"तदेकं" का जो उदाहरण दिया था उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि एकत्ववाद सम्पूर्ण विश्व—प्रकृति, मनुष्य और देवता—की बाहर या विषय रूप से व्याख्या करने के प्रयत्न का नतीजा है। इस प्राचीन साहित्य में इसके समान और दूसरी भावनाएँ भी प्राप्य हैं। इनमें से एक ब्रह्म की भावना है जो धीरे-धीरे प्रधानता पाती गयी। ऋगवेद में एक प्रश्न उठाया गया है कि "वह कौन सा काष्ठ है, कौन सा वृक्ष है जिससे इस पृथ्वी और आकाश की रचना हुई है।" इसके उत्तर में बाद में एक ब्राह्मण में कहा गया है—"ब्रह्म ही वह काष्ठ है और ब्रह्म ही वह वृक्ष है जिससे पृथ्वी और आकाश की रचना हुई है।" उपनिषदों में इसी मत का प्राधान्य है। हां, यह अवश्य है कि ब्रह्म शब्द की व्युत्पत्ति स्पष्ट नहीं है किन्तु इस शब्द के जो बहुत से अर्थ बताये जाते हैं उनमें एक का उल्लेख कर देना यहाँ पर्याप्त होगा। पाठक को स्मरण होगा कि हमने ब्रह्म का अर्थ "स्तुति" के अर्थ में किया था। ब्रह्म शब्द की व्युत्पत्ति बृह् धातु से हुई है। इस धातु का अर्थ होता है "बढ़ना अथवा फैलना।" इस प्रकार ब्रह्म शब्द का अर्थ यह लगाया जाने लगा कि वह सूक्ति अथवा स्तोत्र (सूक्त) रूप में स्वयं प्रस्फुटित हो जाने वाली शक्ति है। आधुनिक काल के कतिपय विद्वानों के मतानुसार इस शब्द का दार्शनिक अर्थ यह है कि यह सम्पूर्ण विश्व एक शक्ति अथवा आदि तत्व के स्वाभाविक स्फुरण से अनायास ही अभिव्यक्त हो गया है।

उपनिषदों के एकत्व को समझने के लिए इस प्रारम्भिक साहित्य की एक दूसरी विचारधारा की ओर भी ध्यान देना अपेक्षित है। इसका उद्देश्य समष्टि रूप में विश्व के मूलभूत तत्व का अनुसन्धान न होकर व्यष्टि रूप में व्यक्ति के आत्म तत्व अथवा अन्तस्तत्व का पता लगाना है। व्यक्ति ही मानवता को समझने का वास्तविक साधन है, यह विश्वास ही उपर्युक्त भावना की जड़ में है। व्यक्ति के 'स्व' का कोई निश्चित

रूप तो है नहीं। स्थूल शरीर को लेकर कारण शरीर तक के लिए यहाँ तक कि आत्म तत्व के लिये भी उसका प्रयोग किया जाता है। वैदिक साहित्य में प्राण इन्द्रिय आदि शब्द प्रायः समस्त सम्भव पर्यायों के लिए आए हैं। आत्मा के रूप में इस अनुसन्धान की पराकाष्ठा की परिसमाप्ति हुई है। इस बात की पुष्टि के लिए यह बताना आवश्यक है कि बहुत स्थानों पर इसी आत्मा को निषेधात्मक रूप से समझाते हुए यह कहा गया है कि वह (मूलतत्व) प्राण नहीं है, इन्द्रिय नहीं है आदि आदि क्योंकि ये सब अनात्मा हैं। कभी-कभी इसको वास्तविक ज्ञाता कहते हैं। किन्तु वह ज्ञानवान होने पर भी अज्ञात होता है—"अदृश्य द्रष्टा है अश्रुत श्रोता है तथा अचिंत्य विचारक है।" इसका तात्पर्य यही है कि दोनों ही पक्षों में वह जनसाधारण की भाषा में अपरिज्ञेय है। एक अन्य उपनिषद् में आत्मा की इस विलक्षणता को स्पष्ट करने के लिए असंगत वाक्यों का आश्रय लिया गया है। उसमें कहा गया है कि आत्मा को केवल वे जानते हैं जो उसे नहीं जानते। इसका अर्थ यह है कि प्रातिभ ज्ञान से अनुभवगम्य होने पर भी आत्मा बुद्धि के विषय रूप में ग्राह्य नहीं है।

इस प्रकार ब्रह्म का अर्थ हुआ समष्टि रूप से लिए गये विश्व में पाया जाने वाला नित्यतत्व और आत्मा का अर्थ हुआ व्यक्ति के 'स्व' का मूलभूत तत्त्व। ब्रह्म और आत्मा इन दोनों की भावनाएँ अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं। इस काल के वैदिक साहित्य में ये दोनों केवल स्वतन्त्र रूप में ही नहीं मिलती वरन् कभी-कभी परस्पर एक दूसरे से सम्बद्ध मिलती हैं। उनके इस सहचार की व्याख्या के लिये विश्व-आत्मा और भौतिक विश्व के सम्बन्ध को व्यक्ति की आत्मा और शरीर के सम्बन्ध की तरह बताया गया है। अथर्ववेद में विश्व आत्मा के विषय में कहा गया है कि—"पृथ्वी उसके पैर हैं, अन्तरिक्ष उसका उदर है, आकाश उसका सिर है, सूर्य और चन्द्र उसके नेत्र हैं और वायु प्राण है।" ब्रह्म और आत्मा की अलग-अलग की गई भावनाओं में कभी-कभी एकत्व

भी स्थापित किया गया है। इन दोनों के एकत्व का प्रतिपादन ही उपनिषदों की शिक्षाओं का सार है। "तत्वमसि" वह (ब्रह्म तुम ही हो, "अहं ब्रह्मास्मि" (मैं ब्रह्म हूँ) इन सुविख्यात महावाक्यों द्वारा इस शिक्षा का निरूपण किया जाता है। इसका अर्थ यह है कि इस विश्व की समष्टि का जो मूलतत्व है वही व्यष्टि रूप से व्यक्ति का भी मूलतत्व है और इस प्रकार अन्ततोगत्वा वे एक ही हैं। समस्त भूत में भौतिक समुदाय के सर्वव्याप्त मूल कारण के दीर्घकालीन अनुसन्धान का अन्त इसी में हुआ है---वह अनुसन्धान उपनिषदों के अनुसार "जिसको जानने से सब ज्ञात हो जाता है।" उपनिषदों में केवल ब्रह्म अथवा केवल आत्मा का वर्णन करने वाले वाक्य हमें प्रायः मिलते हैं किन्तु यह उपनिषदों की ही विशेषता नहीं है क्योंकि वे पूर्वकालीन साहित्य में भी पाये जाते हैं। उनका स्पष्ट एकत्व विशेषरूप से उपनिषदों में ही प्रतिपादित किया गया है।

इस एकत्व का पूर्ण महत्व समझाना यहाँ आवश्यक है। सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त परमतत्व अथवा उसके उद्गम के रूप में ब्रह्म सर्वव्याप्त माना जाता है। यहाँ यह आवश्यक नहीं है कि यह तत्व आध्यात्मिक ही है क्योंकि यह भौतिक भी हो सकता है। विश्व के आदि कारण के रूप में ब्रह्म की ऊपर जो भावना की गई है वह विषयसापेक्ष है और इस प्रकार की भावना बहुत कुछ अंशों में अनुमान मात्र ही होगी। अतः हम इसे एक वास्तविक सत्य के रूप में मानने के लिये मजबूर नहीं हैं क्योंकि इसको अस्वीकार करने में कोई तर्क सम्बन्धी असंगति नहीं होगी। उपनिषद्-काल के कुछ मुनियों ने इस प्रकार के मत का प्रतिपादन भी किया है और माना है कि "यह जगत आरम्भ में असत् था"। आत्मा के साथ इस तत्व के एकत्व को स्थापित करके इसके आध्यात्मिक स्वरूप का निरूपण और इसके अस्तित्व के विषय में जो संदेह है उसका निराकरण दोनों ही किये जा सकते हैं। इसका कारण यह है कि विषयि रूप में तो हमें आत्मा का आभास मिलता ही है और फिर प्रातिभ

ज्ञान द्वारा उसकी सत्ता का एक प्रकार से संशयहीन प्रत्यक्ष ज्ञान भी प्राप्त हो जाता है। यदि हम ब्रह्म के स्थान पर आत्मा को लेकर विश्वतत्व के मूल कारण को ढूँढ़ने को निकलते हैं तो भी हमें वैसी ही कठिनाई मिलती है। ऐसा इसलिये है क्योंकि हमें आत्मा के विषय विभूत आध्यात्मिक तत्वों से मुक्त होने तथा एक अकाट्य सत्य होने का संकेत मिलता तो अवश्य है किन्तु हमें उसके जिस स्वरूप का अनुभव होता है वह होता परिच्छिन्न ही है। हम इसके किसी स्वरूप को भी लें वह एक ओर प्रकृति और दूसरी ओर आत्म तत्व से निर्धारित होता है। ब्रह्म अथवा विश्व के सर्वव्यापी आदि कारण के साथ एकत्व स्थापित करके ही आत्मा की परिच्छिन्नता के दोष को दूर करने का प्रयत्न किया गया है। इस एकत्व स्थापन का तात्पर्य यही है कि वह परमतत्व (सत्य)—जिसको निरपेक्ष रूप से ब्रह्म अथवा आत्मा कुछ भी कह सकते हैं—है आध्यात्मिक ही। और यह सत्य सम्पूर्ण प्राणियों के आत्म तत्व के ही नहीं वरन् सम्पूर्ण भौतिक जगत् के कारण के रूप में लिया जाता है। उपनिषदों में प्रतिपाद्य एकत्ववाद का यही अर्थ है।

इस परम सत्य का आध्यात्मिक और एकत्वमय स्वरूप सच्चिदानन्द वाक्य से स्पष्टतया व्यक्त हो जाता है इसके स्वरूप का निरूपण करने के लिये इसका प्रयोग एक सामासिक पद के रूप में केवल उत्तर काल के उपनिषदों में मिलता है। हाँ, सत्, चित् और आनन्द समास के तीनों विभिन्न पद सब से प्राचीन उपनिषदों में भी ब्रह्म के लिये पृथक और एक साथ दोनों ही प्रकार से प्रयुक्त हुये हैं। सत् का अर्थ अस्तित्व मात्र से है। इससे ब्रह्म की सत्ता होने का संकेत मिलता है और साथ ही असत् से ब्रह्म का पृथक्करण भी हो जाता है। किन्तु हमारा अनुभव तो यही बताता है कि सत्तात्मक पदार्थ आध्यात्मिक भी हो सकते हैं और भौतिक भी। दूसरी उपाधि चित् से सूचित होता है कि वह आध्यात्मिक है

क्योंकि चित् का अर्थ है चेतन। अन्तिम उपाधि आनन्द का अर्थ है 'शान्ति'। इससे हमें यह मालूम पड़ता है कि वह केवल एक है और सर्वव्यापी है क्योंकि भिन्नता ही सारी अशान्ति और उत्पातों की जड़ है। एक प्रसिद्ध उपनिषद् वाक्य में कहा भी गया है "द्वितीय से ही भय होता है।" [इस प्रकार एक सामासिक पद से ब्रह्म के विषय में निम्न बातें स्पष्ट होती हैं कि वह एकमात्र आध्यात्मिक अथवा पूर्ण सत्य है और केवल पूर्ण सत्तात्मक भूत भौतिक जगत का (सत्) ही व्याप्य नहीं है अपितु ज्ञान का भी है।] अतएव जहाँ कहीं भी इनमें से किसी के भी स्वभाव का अंश दृष्टिगोचर होता हो हमें उसको ही इन दोनों का कारण ठहराना चाहिये। दूसरे शब्दों में वह समस्त विश्व का मूल है और साथ ही स्वयं-भू तथा स्वयं-प्रकाश है क्योंकि ऐसे कोई अन्य पदार्थ तो है नहीं जिसमे उसकी उत्पत्ति हो सके अथवा जिससे वह जाना जा सके।

उपनिषदों को समझने में दूसरी प्रमुख कठिनाई इस अभिन्न तत्व का विश्व और प्रत्येक आत्माओं के साथ सम्बन्ध स्थापित करने में पड़ती है। ऐसे बहुत से वाक्य हैं जो जगत को प्रातिभासिक और परम् सत्य में उसके स्थान कों नहीं मानते। किन्तु ऐसे वाक्यों की संख्या भी कम नहीं है जो जगत् की सत्यता को प्रतिष्ठापित करते हैं किन्तु साथ ही यह भी मानते हैं कि जगत् ब्रह्म अथवा परम तत्व से भिन्न नहीं है। शंकर ने अपने कई भाष्यों में इन दोनों मतों की समीक्षा की है और अन्त में वे इसी निर्णय पर पहुँचे हैं कि पहले वाला मत ही उपनिषदों का यथार्थ प्रतिपाद्य विषय है। उनके मतानुसार पिछला मत केवल सत्य की परीक्षा के लिये अभ्युपगम सिद्धान्त के रूप में लिया गया है। इसका अर्थ यह हुआ कि वास्तविक शिक्षा को समझने के लिये वह प्रथम सोपान है। बाद में उपनिषदों ने इस मत को निराकृत कर दिया है और इसके स्थान पर दूसरे मत को प्रतिष्ठापित किया है। वह मत यह है कि ब्रह्म के

अतिरिक्त और कुछ भी यथार्थ में सत्य नहीं है। इस प्रकार जगत को इन उपनिषद वाक्यों में जो सत्यता प्रदान की गई है उसका यह अर्थ नहीं है कि हम उसे परम सत्य मानें। साधारण अथवा व्यावहारिक ज्ञान के अनुसार भिन्नता नितान्त सत्य मानी जाती है। इसीलिये इन वाक्यों में जगत् को सत्य मानने की छूट दे दी गई है जिससे परम सत्य व्यावहारिक ज्ञान के भी अनुकूल हो जाय। इसका तात्पर्य "अपरा विद्या" (साधारण सत्य) से है। यह 'परा विद्या' (परम सत्य) को समझने के लिये प्रथम सोपान का काम देती है। उपनिषदों में कहीं कहीं इन विद्याओं के अन्तर की विवेचना अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में की गई है। जीवात्माओं के विषय में शंकर का यह मत है कि ब्रह्म ही देह तथा ऐसी ही अन्य उपाधियों के कारण सीमित रूप में प्रतिभासित होता है और देहादि उपाधियाँ भौतिक जगत् के अङ्ग होने के कारण परमार्थतः सत्य नहीं हैं।

औपनिषद् मत विवेचन करने वाले और भी कितने ही हुए हैं। उनमें भर्तृप्रपंच आदि कई तो शंकर के भी पूर्व के हैं। ये सब यह मानते हैं कि आत्मा और भौतिक जगत परिच्छिन्न और अपूर्ण होते हुए भी सत्य हैं। हाँ वे ब्रह्म से नितान्त भिन्न नहीं हैं—अर्थात् वे दोनों उसके समान भी हैं और उससे भिन्न भी। इस प्रकार तीनों मिलकर अनेकता में एकता स्थापित करते हैं। ब्रह्म के रूप में परमार्थ सत् एक है किन्तु आत्मा और जगत् के रूप में वही अनेक है। इस मत के अनुसार सम्पूर्ण विश्व वस्तुतः ब्रह्म से ही आविर्भूत होता है अतः उसकी प्रकृति भी अंशतः सत् स्वरूप ही होती है। इसके तत्वों की उत्कृष्टता से यह सूचित होता है कि इसके मूल स्रोत ब्रह्म का स्वरूप बड़ा ही जटिल है किन्तु केवल इतना ही है कि यह जटिलता कभी व्यक्त रहती है और कभी अव्यक्त। पहली सृष्टि की दशा होती है और दूसरी प्रलय की। अनादि काल से ही भारतवासियों का यह विश्वास रहा है कि यह अनन्त

क्रम से एक दूसरे के बाद होते रहते हैं। प्रत्येक क्रम के अन्त में सम्पूर्ण अनेकता ब्रह्म में समा जाती है और नवीन क्रम के आदि में उससे फिर संसृत होती है। यहाँ विश्व की व्यक्त और अव्यक्त अवस्था में जो अन्तर बताया गया है उससे यही मतलब निकलता है कि परमार्थ सत् गतिशील है। तदनुसार इस मत को "ब्रह्म परिणाम-वाद" (स्वाभाविक रीति से ब्रह्म का रूप परिवर्तन) कहते हैं। पूर्व मत की भाँति ही यह मत अद्वैतवादी है क्योंकि इस मत में भी ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ सत् नहीं माना गया है। एक प्रकार हम इस मत को 'प्रत्ययवाद' की संज्ञा दे सकते हैं। [यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि यद्यपि इस मत में जगत् को दृश्य मात्र नहीं कहा जाता फिर भी उसका कोई पारमार्थिक महत्व नहीं माना जाता। यदि कुछ महत्व दिया भी जाता है तो वह तभी जब उसे परब्रह्म परमात्मा के तात्विक अंश के रूप में ग्रहण किया जाता है।]

ब्रह्म को हम इन किन्हीं भी दो स्वरूपों में लें इतना तो निश्चित है कि वह विश्व को उसके सम्पूर्ण जड़ और चेतन स्वरूप के सहित आविर्भूत करने वाला उद्गम है। सर्व-प्रथम उससे प्रपंच 'तत्वों' (भूतों) की उद्भूति होती है। वे पंचभूत आकाश, वायु, अग्नि, अप (जल) और पृथिवी हैं। इन पंचभूतों में प्रत्येक के अपने विशेष गुण हैं। आकाश का विशेष गुण है शब्द, वायु का स्पर्श, अग्नि का रूप, जल का रस और पृथिवी का गन्ध। भारत के लगभग सभी बाद के दार्शनिकों ने इस वर्गीकरण को स्वीकार किया है और यह स्पष्ट है कि वह श्रोत, त्वक्, चक्षु, रसना और घ्राण इन पाँच प्रकार की इन्द्रियों के क्रम के अनुरूप है। सम्भवतः इसी से उनका संकेत मिला है। एक ओर तो इन पाँच भूतों से सरिता, पर्वतादि पदार्थों का जड़ जगत उत्पन्न होता है और दूसरी ओर वृक्षों, पशुओं और मनुष्यों के समान आत्मा को धारण करने वाले चेतन पदार्थों का जो अन्ततोगत्वा ब्रह्म

नहीं तो उससे नितान्त विभिन्न तो किसी प्रकार भी नहीं होते।

यहाँ प्रश्न उठता है कि यदि परमार्थ सत्य को इसी दृष्टि से देखा जाय तो हमारे दैनिक जीवन पर क्या प्रभाव पड़ेगा? दूसरे मत की विशिष्टता यह है कि उसके साथ हमें अनेकता को परम सत्य मानना पड़ता है। जीवन की सम्पूर्ण नहीं तो अधिकांश क्रियाशीलता अवश्य इस पूर्वानुमित धारणा पर आश्रित रहती है कि प्रत्येक मनुष्य एक दूसरे से भिन्न है। सामाजिक तथा राजनैतिक संगठनों द्वारा मनुष्यों को एकता के सूत्र में बाँधने के जो प्रयत्न होते हैं उससे भी यही सूचित होता है कि मनुष्यों को परस्पर भिन्न समझा जाता है। यदि मनुष्य आपस में एक दूसरे से भिन्न हैं तो यह और भी स्पष्ट हो जाता है कि वह अपने भौतिक वातावरण से तो भिन्न होगा ही। यही नहीं कि मनुष्य ही भौतिक तत्वों से भिन्न हो, स्वयं भौतिक तत्वों की प्रकृति भिन्न-भिन्न होती है। और यह भिन्नता सदैव रहती है चाहे वह भौतिक तत्व देह और इन्द्रियों आदि के रूप में आत्मा की उपाधि का स्थान ग्रहण किये हो और चाहे उसके वातावरण के रूप में। ऐसा इसलिए है क्योंकि प्रत्येक भौतिक पदार्थ का अपना व्यक्तित्व होता है। इसी को उपनिषदों में इस प्रकार कहा जाता है कि प्रत्येक वस्तु का अपना नाम और रूप होता है। यह तो स्पष्ट है कि यदि अद्वैतवाद ही वस्तुतः सत्य है तो इस अनेकता का कोई अंग भी परम सत् नहीं हो सकता। जहाँ तक हमारी सामान्य धारणाओं का सम्बन्ध है उनके अनुसार उपनिषदों की शिक्षा का यही महत्व है।

उपनिषदों के भाष्यकारों का एक सम्प्रदाय यह मानता है कि नित्य प्रति के अनुभवों में हमें जो अनेकता दृष्टिगोचर होती है वह ब्रह्म का आभास मात्र है और इस कारण हम उसको मिथ्या कह सकते हैं। दूसरे सम्प्रदाय के अनुसार यह पूर्ण सत्य नहीं है क्योंकि एकता भी उतनी ही सत्य होती है। किन्तु फिर भी हमारे मनस्

की मूलभूत आदत के कारण जिसका मूल हमारा परम सत्य विषयक अज्ञान (अविद्या) है यह पूर्ण सत्य लगता है। सत्य के वास्तविक स्वरूप को आवृत करने वाली शक्ति माया का यही अर्थ है। अविद्या को हम सत् और असत् दोनों ही मान सकते हैं। सत् इस अर्थ में कि एक भावात्मक पदार्थ के रूप में अविद्या भ्रम की उत्पादिका है क्योंकि उसके कारण हम ब्रह्म और एकमात्र ब्रह्म के स्थान पर नाना रूप जगत को देखते हैं। असत् इस अर्थ में कि उसमें सामान्य अनुभव में आने वाली अनेकता में मूलतः अनुस्यूत एकता के ज्ञान का अभाव रहता है। पहली दशा में हमारा सामान्य ज्ञान अपनी पहुँच तक तो ठीक ही रहेगा, हाँ यह अवश्य है कि एकता को ग्रहण करने की शक्ति उसकी पहुँच के बाहर है। परन्तु दूसरी दशा में वह नितान्त मिथ्या है। दोनों ही दशाओं में पूर्ण ज्ञान प्राप्ति से इस जन्मजात अज्ञान को अभिभूत कर देना ही उपनिषदों के अनुसार जीवन का चरम लक्ष्य है। ज्ञान की इस अवस्था को मोक्ष कहते हैं। आत्मा का ब्रह्म से साक्षात्कार हो जाना ही इसका मतलब है।

इस ज्ञान का केवल यही अर्थ नहीं है कि हमें इस बात की बौद्धिक उपलब्धि हो जाये कि यह सब कुछ एक (ब्रह्म) ही है बल्कि यह भी आवश्यक है कि हमें अपने अनुभव में उस ऐक्य का वास्तविक साक्षात भी हो जाय। दूसरे शब्दों में दर्शन-शास्त्र के अध्ययन का उद्देश्य सैद्धान्तिक जिज्ञासा की तुष्टि मात्र ही नहीं है, भले ही यह जिज्ञासा निरपेक्ष क्यों न हो। ज्यों ज्यों बौद्धिक श्रद्धा और विश्वास उत्पन्न होते जाँय त्यों त्यों उनके अनुसार अपने आचार विचारों का नियमन करना भी अपेक्षित है। इस अर्थ में धर्म के उच्चतर आदर्शों के अनुरूप आचार विचारों में श्रद्धा और भक्ति रखने से भारत में धर्म और दर्शन का समन्वय माना जाता है, न कि सिद्धान्त मात्र और अन्धविश्वास के अर्थ में। इस प्रकार के ज्ञान की प्राप्ति का

अर्थ यही है कि दीर्घ काल तक गुरु के आदेशानुसार साधना की जाय। उपनिषदों में सर्वप्रथम जिस रूप में सत्य का प्रतिपादन हुआ है उसे योग्य गुरु के द्वारा समझना चाहिए। साधना के इस अंग को 'श्रवण'—(प्रारम्भिक रूप में शास्त्रों के सिद्धान्तों का समझना) कहते हैं। परन्तु पूर्णतः सत्य उपदेशों को स्वीकार कर लेना केवल अन्धविश्वास है और जब तक उन्हें तर्क की कसौटी पर नहीं कसा जाता जब तक उन्हें वस्तुतः 'दर्शन' नहीं कहा जा सकता। हम सर्वज्ञ तो हो नहीं सकते हैं अतः इसमें कोई संदेह नहीं कि कभी कभी दूसरों के विश्वासों से भी हमें बहुत लाभ होता है। मनुष्य में इतनी क्षमता है कि वह दूसरे के विचारों और अनुभवों को ग्रहण कर सकता है और उनसे लाभ उठा सकता है। उसने जो प्रगति की है वह बहुत अंश में इसी कारण की है। परन्तु 'दर्शन' का जीवन से इतना घनिष्ट सम्बन्ध है कि उसके विषय में उपर्युक्त बात लागू नहीं हो सकती। जिन दार्शनिक तत्वों पर दूसरे पहुँच चुके हैं वे चाहे उन्हें और उन तक पहुँचने के साधन हमें सिखा ही क्यों न दें किन्तु जब तक हम उन साधनों के द्वारा पुनः उनका दर्शन नहीं कर लेते तब तक श्रद्धा और विश्वास उस गहराई तक नहीं पहुँचते कि उन्हें पूर्ण अर्थ में 'दर्शन' की संज्ञा दी जाय। यदि वे तत्व हमारी तर्क बुद्धि की पहुँच से बाहर हैं और इस कारण पूर्ण रूपेण प्रमाणित नहीं किये जा सकते तो कम से कम 'दर्शन शास्त्र' से इतना तो होना ही चाहिये कि उनकी सत्यता की सम्भावना ही प्रकट हो जाय। उपनिषदों में इस बात को स्वीकार किया गया है क्योंकि जहाँ तत्व ज्ञान के लिये गुरु की शिक्षा का प्रश्न है वहाँ 'श्रवण' के अतिरिक्त 'मनन' का भी विधान है। इसका मतलब यही है कि दर्शन का आदि चाहे श्रद्धा से ही क्यों न हो किन्तु उसका अन्त उसी में नहीं होता।

उपनिषद्-विहित साधना की समाप्ति यहीं नहीं होती। ध्यान भी इसके अन्तर्गत है। ध्यान का अर्थ जिन सत्यों पर बौद्धिक विश्वास हो

जाय उन पर निरन्तर विचार करना है। ध्यान को ही योग कहा जाता है जिस पर आगे और अधिक कहा जायगा। उपनिषदों के कितने ही अध्यायों में उपासना का वर्णन मिलता है। इनसे साधक को ऐसा अभ्यास पड़ जाता है कि वह विक्षिप्त करने वाले विचारों से चित्त निग्रह करके उसे एक विषय पर धारण करने में समर्थ हो जाता है। इस प्रकार साधक इस योग्य बन जाता है कि वह परम सत्य का मनन कर सके। इस परम निदिध्यासन का उद्देश्य है कि साधक अनेकता की भाँति ही अस्तित्व मात्र की एकता को प्रत्यक्ष रूप में ग्रहण कर सके। यदि मनन बौद्धिक विश्वास प्राप्त करने का साधन है तो ध्यान प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करने का। इस प्रकार प्रत्यक्ष अथवा प्रातिभ ज्ञान के बिना तर्क सम्मत सत्य का निरूपण करने पर भी दर्शन कोरे बौद्धिक महत्व की वस्तु हो जायगा। ऐसा सैद्धान्तिक ज्ञान मानसिक शक्तियों का अलंकार भले ही हो किन्तु वह होता परोक्ष है। इधर अनेकता का ज्ञान प्रत्यक्ष होता है अतः उससे परमार्थ में दृढ़ विश्वास उत्पन्न नहीं होता और जीवन पर उसका कोई स्थाई प्रभाव नहीं पड़ता। उपनिषदों की शिक्षा के इस अंश का आधार एक अनुभूत सत्य माना गया है। वह यह है कि सत्य का परोक्ष ज्ञान प्रत्यक्ष भूत भ्रम का निवारण नहीं कर सकता क्योंकि प्रत्यक्ष पर ही विश्वास किया जा सकता है।

ध्यान को प्रभावशाली और सम्भव बनाने के लिये यह आवश्यक नहीं है कि केवल परम सत्य का बौद्धिक प्रत्यय ही हो जाय वरन् अहंकारमूलक स्वार्थ बुद्धि से मुक्त होना भी जरूरी है। उपनिषदों की शिक्षा को गोप्य बनाकर रखने और केवल सच्चे एवं परीक्षित शिष्यों को देने की जिस प्रथा का पहले उल्लेख किया जा चुका है उसके पीछे यही भावना निहित है। एक उपनिषद में कहा गया है—"जो प्रशान्त चित्त नहीं हो उसको यह शिक्षा नहीं देनी चाहिये।" क्योंकि यदि इस सत्य का कि यह सब कुछ एक ही है अधिकारी भेद के बिना प्रचार

होगा तो उससे उसके विकृत हो जाने और उस पर से श्रद्धा हट जाने का भय है। सन्यास, जिस नैतिक साधना का द्योतक है उसे उपनिषदों में सामान्यतया उसी प्रकार स्वीकार कर लिया गया है और इस कारण उस पर अधिक विचार नहीं किया गया है; परन्तु जहाँ भी प्रसंग आया है इसके महत्व की स्पष्ट विवेचना की गई है। उदाहरण के लिये कठोपनिषद को ले लीजिये। उसमें प्रारम्भ में ही एक युवक का वर्णन है जो यमदेव से यह जानना चाहता है कि आत्मा शरीर के मरने के पश्चात् रहती है या नहीं। उस सत्य का ज्ञान कराने के पूर्व सम्पत्ति और शक्ति आदि के वरदान का कई प्रकार से प्रलोभन दिया गया है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि उपनिषदों की शिक्षा केवल सन्यास की भावना को मानकर ही चली हो क्योंकि सामाजिक दृष्टि से मनुष्य के क्या आचार विचार होने चाहिये इस इस भी उतना ही जोर डाला गया है। इस प्रकार एक अन्य उपनिषद में प्रजापति ने, जो नैतिक प्रमाण के रूप में है, केवल वैराग्य का ही नहीं अपितु उदारता और करुणा का भी विधान किया है। उपनिषदों में ब्रह्म को निर्विकार (निष्पाप) कहा गया है इससे यही ध्वनित होता है कि ब्रह्मत्व की प्राप्ति के लिये विकारों और दुष्कृतियों से मुक्त होना चाहिये। ऐसा ही मैक्समिलर महोदय भी कहते हैं कि सुकृति तथा सदाचार "परमार्थ ज्ञान की प्राप्ति के लिये आवश्यक है। वे ही आत्मा को उसके उद्गम और आवास स्थान तक पहुँचा कर उसके वास्तविक स्वरूप में मिला देते हैं।" सदाचार सम्बन्धी इस साधना की पराकाष्ठा का अन्त प्रतीक रूप से सन्यास में होता है। उपनिषदों में सन्यास को प्रमुख स्थान मिला है। ब्राह्मणों में उपदिष्ट प्रवृत्ति-मार्ग से विशिष्ट यह निवृत्ति मार्ग है। अगले अध्याय में इस विशिष्टता का उल्लेख कुछ विस्तार के साथ किया जायगा।

इस सम्पूर्ण साधना के विषय में हम यहाँ संक्षेपतः यही कह सकते

हैं कि वेदान्त के अनुसार ज्ञान प्राप्ति के अधिकारार्थ जिज्ञासा मात्र के पूर्व वैराग्य का होना अनिवार्य है। दूसरे शब्दों में जिसने चरित्र संयम की साधना से सम्पन्न होकर इतनी प्रगति नहीं कर ली है कि उसकी समस्त भावनाएँ मर जाँय वह उपनिषदों के अध्ययन का कदापि अधिकारी नहीं हो सकता। इस प्रारम्भिक योग्यता को प्राप्त करने के पश्चात् एक अन्य त्रिविध साधना भी है। वह मुख्यतया मानसी है। उसके तीन अंग हैं। (१) श्रवण :—गुरु की सहायता से परमार्थ सत्य को समझना (२) मनन :—उपलब्ध ज्ञान पर इस दृष्टि से विचार करना कि उसकी वास्तविकता या कम से कम उसकी सम्भावना पर विश्वास हो जाय और (३) निदिध्यासन :—उस विश्वास को हृदय में जमाने और दृढ़ करने के लिये ध्यान करना जिससे विपरीत भावनाओं का भली भांति उन्मूलन हो जाय।

जैसा कहा जा चुका है जीवन का उद्देश्य अनुभवमूलक संसार अथवा बार बार होने वाले जन्म मरण के चक्कर की जिस अवस्था को सत्य मान लिया जाता है उससे मोक्ष प्राप्त कर लेना है। यह ब्रह्म हो जाना ही है। हम इसको आत्म-साक्षात्कार भी कहते हैं, किन्तु इसका भी वही मतलब होता है। परमार्थ सत्य विषयक द्विविध औपनिषदीय मत के अनुसार इसकी दो रूपों में कल्पना की गई है [शंकर प्रभृति कुछ दार्शनिकों के अनुसार यह वह अवस्था है जहाँ आत्मा निरवयव तथा प्रशान्त होकर अपने स्वरूप में स्थित हो जाती है। भर्तृप्रपंचादि के मतानुसार यह वह अवस्था है जिसमें केवल परमार्थ में अनेकता की भावना लुप्त हो जाती है और सर्वव्याप्त परम सत् अपनी आत्मा से एकाकार होकर अनुभूत होने लगता है]। दोनों ही दशाओं में यह आत्मा और अनात्मा, सुकृति और दुष्कृति के सामान्य भेद से परे जाने वाली नैतिक और बौद्धिक पूर्णता की अवस्था है। समष्टि रूप में लेने पर उपनिषदों की यही शिक्षा है कि यह लक्ष्य इसी जीवन में प्राप्य है। इसको जीवन्मुक्ति

(जीवन काल में ही मुक्त हो जाना) कहते हैं। उदाहरणतया कठोपनिषद में कहा गया है "जब हृदय में अन्तर्निहित समस्त कामनाएँ नष्ट हो जाती हैं तो मनुष्य अमर हो जाता है और यहीं ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है।" यहाँ इस अवस्था का स्पष्ट उल्लेख किया गया है। जीवन्मुक्ति की अवस्था में जगत की विविधता के मिथ्यात्त्व में विश्वास करने वालों के अनुसार उसका प्रतिभासित होना तो बन्द नहीं होता, उसकी परमार्थता में सदा के लिये विश्वास नष्ट हो जाता है। मुक्ति की यह कल्पना पूर्वकालीन वेद की इस धारणा से कि मानव जीवन के परम आदर्श की प्राप्ति केवल मृत्युपरान्त ही सम्भव है बहुत आगे बढ़ गई है। कहा जाता है कि सुकरात 'दर्शन' को स्वर्ग से मर्त्य लोक में उतार ले आया। यहाँ हम यह कह सकते हैं कि उपनिषद के ऋषियों ने तो पृथ्वी पर ही स्वर्ग को ढूंढ़ लिया, कसर उसके दर्शन भर की है। इस अवस्था को पहुँचा हुआ मनुष्य जब अन्त में अपने भौतिक बन्धनों से भी मुक्त हो जाता तो स्वयं ब्रह्म हो जाता है। यह 'विदेह मुक्ति'' (परम मुक्ति) है।

अभी तक हमने अपने ध्यान को केवल उन व्यक्तियों तक ही सीमित रक्खा जो प्रत्येक वासना का शमन करके इसी जीवन में पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ हैं। इनकी संख्या अवश्य ही बहुत कम होगी। दूसरे बहुसंख्यक व्यक्तियों के विषय में यह कहा जा सकता है कि उपनिषदों ने उन्हें दो व्यापक विभागों में बाँटा है। एक तो वे जो सत्य मार्ग का अवलम्बन करते हैं यद्यपि वे इस जीवन में पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ नहीं होते और दूसरे वे जो आत्म संयम के अभाव के कारण अपने को स्वाभाविक प्रवृति के अभाव में छोड़ देते हैं। पहले मध्यम श्रेणी के हैं। जब तक वे आवागमन के चक्कर से मुक्ति पाकर अन्त में पूर्ण मोक्ष नहीं पा लेते तब तक मर्त्य लोक में लौटे बिना ही क्रमशः उत्कृष्टतर योनि को प्राप्त करते चले जाते हैं।

जीवन के आदर्शों की यह क्रमिक उपलब्धि (क्रममुक्ति) ही कतिपय वेदान्तियों के अनुसार उपनिषद् उपदिष्ट मुक्ति का एक मात्र स्वरूप है। वैदिक-काल की प्रारम्भिक अवस्था में मृत्यु, स्वर्ग, नरक आदि के दृष्टि-कोण को (Eschatological view) जिस रूप में समझा गया था उसका इससे पूर्ण साम्य है। केवल इतना ही है कि यहाँ इसका फल सांसारिक स्थिति से पूर्ण मुक्ति ही माना गया है न कि देव लोक का आनन्दमय अलौकिक जीवन। इसके विपरीत दूसरी श्रेणी के मनुष्य जो सदैव रागासक्त रहते हैं और अपनी कामनाओं पर लगाम नहीं लगा सकते बार-बार जन्म लेते हैं। पूर्व जन्म के "कर्मों और वासनाओं के अनुसार" ही उनके जन्म विशेष की योनि और भोग नियत होते हैं। कर्म सिद्धान्त के प्रति यह श्रद्धा उपनिषदों की प्रमुख विशेषता है किन्तु यहाँ उसको अगले अध्याय के लिये छोड़ देना ठीक होगा। "पुण्य कर्म मनुष्य को पुण्य की ओर ले जाता है और पाप कर्म पाप की ओर" इस मत की आधारभूत नैतिक व्यवस्था का जो नियम है उपनिषदों में उसकी स्पष्ट विवेचना की गई है। इस समय उसका उल्लेख मात्र कर देना पर्याप्त होगा।

इस परिच्छेद को समाप्त करने के पूर्व एक अन्य विषय का भी संक्षेप में उल्लेख कर देना आवश्यक है—वह है उपनिषदों में आस्तिकतावाद का स्थान। इसका वर्णन तो हम कर ही चुके हैं कि ब्राह्मण काल के अन्त तक इसका कितना विकास हुआ। अगले परिच्छेद में इसके बाद के इतिहास का अन्वीक्षण करते समय हम इस बात का उल्लेख करेंगे कि उपनिषदों में एकेश्वरवाद को क्या स्थान मिला है। किन्तु उनमें उसका एक अन्य स्वरूप भी मिलता है। यहाँ उसके विषय में दो चार शब्द कह देना ठीक होगा। प्रजापति की भावना की तरह इसका अभ्युदय भी मन्त्रों के बहुदेववाद से नहीं हुआ बल्कि इसे सीधे ब्रह्म और आत्मा की भावना से लिया गया है। उसके अनुरूप ही देवताओं और मनुष्यों को लेकर विश्व में जो कुछ भी है परमेश्वर को उस

सब में व्याप्त माना गया है। परमेश्वर को ईश अथवा ईश्वर की जो संज्ञा उपनिषदों में सामान्यता दी गई है उससे भी इसी बात का संकेत मिलता है क्योंकि ईश्वर "विश्व के समस्त विषयों में अन्तर्यामी होकर रहता है।" इस अर्थ में जब ब्रह्म पर व्यक्तित्व आरोपित कर दिया जाता है तब उसके उस रूप को ही ईश्वर कहते हैं। इसके अनुसार ईश्वर सृष्टि से भिन्न एक स्रष्टा का द्योतक नहीं है क्योंकि अद्वैतवाद में यह माना जाता है कि अन्ततोगत्वा ईश्वर और उसकी सृष्टि एक ही है। इसी को उत्तरकालीन वेदान्त की शब्दावली में इस प्रकार प्रकट करेंगे कि यहाँ ईश्वर को जगत का उपादान और निमित्त दोनों ही कारण माना गया है। ब्रह्म की यही व्यक्तित्वमय भावना उपनिषदों में प्रायः अनजाने में ही पूर्ण की भावना से जा मिली है जिसकी बहुत सम्भावना है।

—:o:—

दूसरा परिच्छेद

दार्शनिक सम्प्रदायों की ओर

वैदिक धर्म और दर्शन पर तो संक्षेप में विचार किया जा चुका। अब हम भारतीय दर्शन के विभिन्न सम्प्रदायों को जरा अधिक विस्तार के साथ लेंगे। इन सम्प्रदायों का उदय वैदिक काल के ठीक बाद ही नहीं हुआ। ये काफी बाद में आये। हाँ, इस अवान्तर काल के ठीक समय का विस्तार अवश्य नहीं निश्चित किया जा सकता। कुछ वर्ष पहले तो यही सोचा जाता था कि इनमें से कोई भी दार्शनिक सम्प्रदाय ईस्वी सन् से अधिक प्राचीन नहीं था। वर्तमान प्रवृत्ति यह है कि वे अधिक पूर्व तिथि के हैं, किन्तु इस प्रकार भी वैदिक तथा इन सम्प्रदायों का बताया जाने वाला काल एक दूसरे से दो तीन शताब्दियों से पृथक् है। भारतीय दार्शनिक विचारों ने इस मध्यवर्ती काल में बड़ी तीव्रता से प्रगति की। स्थूल रूप में हम यह कह सकते हैं कि इस काल में इसी देश में ही नहीं वरन् अन्य देशों में भी, उदाहरण रूप से ग्रीस को ले लीजिए, अत्यधिक बौद्धिक हलचल रही। इस काल में केवल पूर्व परिच्छेद में वर्णित विभिन्न वैदिक विचारधाराएँ ही नहीं फलीं फूलीं बल्कि दर्शन और धर्म के नवीन तथा अत्यन्त महत्वपूर्ण सम्प्रदाय भी आविर्भूत हुए। यह तो स्वाभाविक है कि जिन सम्प्रदायों पर हम विचार करने जा रहे हैं वे इन समस्त दार्शनिक विचारों को ही मानकर चले हैं, इस कारण आगे बढ़ने के पहले उसके सामान्य रूप की ओर संकेत कर देना आवश्यक है।

[१]

आरम्भ में हम वैदिक काल की विचार धाराओं के और आगे के

इतिहास का अन्वीक्षण करेंगे। किन्तु ऐसा करने में हम अद्वैतवाद को एकेश्वरवाद से पृथक् नहीं करेंगे क्योंकि जैसा कहा जा चुका है वे एक दूसरे से इतने मिले हुए हैं कि उनमें बहुधा अन्तर करना कठिन हो जाता है। जहाँ तक अद्वैतवाद का सम्बन्ध है यहां इतना कहना पर्याप्त होगा कि पूर्वोल्लिखित 'पूर्ण' विषयक दोनों मत वैदिक काल के बाद के प्रारम्भ में भी मिलते हैं। उदाहरणतया इस काल के 'गीता' ग्रन्थ को ही ले लीजिए। इसमें कहीं-कहीं तो परमार्थ सत्य को समस्त सत्तात्मक पदार्थों में व्याप्त कहा गया है, किन्तु दूसरे स्थानों पर उसी को उन सबों से वस्तुतः निरासक्त और पृथक् बताया गया है। इन विचारधाराओं का ज्ञान प्राप्त करने के लिये हमारे पास ये प्रमुख साधन हैं—(१) कल्पसूत्रः—इसमें छोटे-छोटे सूत्रों का संग्रह है और ये वैदिक कर्मकाण्ड से सम्बन्ध रखनेवाले विशेष ग्रन्थ हैं। इनमें तत्सम्बन्धी शिक्षा को विविध रूप से संग्रहीत किया गया है। (२) महाभारत :—यह सुविख्यात महाकाव्य मानव ज्ञान का वास्तविक भंडार है। "उत्तर कालीन अथवा "छोटे मोटे" उपनिषद् :—जो उपनिषद वेद साहित्य के वास्तविक अंग हैं उनसे इनका भेद स्पष्ट करने के लिये ही इनको आजकल यह संज्ञा दी जाती है। अन्तिम दो साधनों का प्रयोग हमें बड़ी सावधानी से करना चाहिये क्योंकि उनका बहुत बड़ा अंश जिस काल से सम्प्रति हमारा सम्बन्ध है उसके बहुत बाद का है। प्राचीन साहित्य के साथ-साथ उसमें अपेक्षतया अर्वाचीन साहित्य भी मिलता है और उसको पृथक् करने में अत्यन्त कठिनाई का सामना करना पड़ता है। परिणाम-स्वरूप विस्तारपूर्वक वर्णित विषयों पर हमारा वक्तव्य जहां तक इन दो साधनों पर आश्रित है वह बहुत कुछ अनुमान रूप में ही है। हाँ उनकी विचारधाराओं का सामान्य प्रवाह अवश्य ही निश्चित है।

(१) **एकेश्वरवाद** :—पूर्व परिच्छेद में हमने आस्तिकतावाद के जिस निर्विशेष (निराकार) स्वरूप का उल्लेख किया था वह

वेदोत्तर काल में भी चलता आया। हम यह भी देख चुके हैं कि ब्राह्मणों के प्रमुख देवता प्रजापति बाद में ब्रह्मा के नाम से एक अप्रधान देवता माने जाने लगे। इन दोनों की भावना में जो मौलिक साम्य है उससे समझ में आ जाता है कि प्रारम्भिक साहित्य में ब्रह्मा को भी कभी-कभी परमेश्वर के रूप में क्यों निरूपित किया गया है। उदाहरणतया महाभारत में यही हुआ है। किन्तु यहाँ यह अत्यन्त महत्त्व का विषय है कि ब्रह्मा का इस रूप में निरूपण अधिकतर महाकाव्य के उन भागों में ही हुआ है जो आस्तिकवाद का उल्लेख करने वाले अध्यायों में सबसे प्राचीन हैं। इससे यही मालूम पड़ता है कि एक बार उनकी जो प्रधानता स्वीकार कर ली गई थी वह क्रमशः क्षीण होती गई। कालान्तर में उनका स्थान शिव और विष्णु इन दो अन्य देवताओं ने ले लिया। सम्पूर्ण महाकाव्य को लेने पर वे दो ही प्रधान रहते हैं।

ये देवता प्रजापति से प्राचीन हैं किन्तु सामान्य दृष्टि से देखने पर यही मालूम पड़ता है कि आरम्भ में उनको कोई महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं मिला। उनकी जो भावना की गई है वह सविशेष (साकार) है। जैसे-जैसे उनको प्रधानता मिलती जाती है यह व्यक्तिगत विशिष्टता भी अधिकाधिक स्पष्ट होती जाती है, यहाँ तक कि अन्त में जिस प्रकार मन्त्रों में वरुण परम देवत्व के प्रतीक माने जाते हैं उसी प्रकार ये भी माने जाने लगे। वरुण की पूजा पाठ के क्षयोन्मुख होने के पश्चात् इस व्यक्तिगत (Personal) आस्तिकवाद के इतिहास का पता नहीं चलता, किन्तु इसका प्रचार बाद में भी रहा। इससे हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि इस समय यह पूर्णतया लुप्त न हो सका होगा और जैसा कि सामान्यतः पाया जाता है इसी प्रकार यह इस समय भी अधिकांशतः जन साधारण के विश्वास के रूप में रहा होगा। सम्भवतः उसी विश्वास के प्रभाव में आकर ही इन दोनों देवताओं पर व्यक्तित्व का आरोपण कर दिया गया। शिव और विष्णु दोनों ही अपने सम्पूर्ण स्वरूप में देवताओं के

भी देवता (देव देव अथवा देवाधिदेव) कहे जाते हैं। प्रत्येक के व्यक्तित्व को इतनी स्पष्टता से अंकित किया गया है कि एक दूसरे के स्वरूप को मिला देना असम्भव है। इस विभिन्नता से कम से कम अंशतः तो यह समझ में आ ही जाता है कि इस काल में आस्तिकवाद सामान्य रूप में इतना साम्प्रदायिक क्यों हो गया।

शैवमतः— इस मत में शिव को "परमेश्वर" माना जाता है। शिव की जो भावना की गई है उसके उद्भव का मूल अ-वीक्षण करने पर वेद के प्रारम्भिक सूक्तों में मिलेगा क्योंकि इन सूक्तों में प्रकृति की विध्वंसक शक्तियों पर व्यक्तित्व का आरोपण करके ही रुद्र की कल्पना की गई है। ये शक्तियां उदाहरण रूप में झंझा विद्युत आदि के रूप में मिलती हैं। रुद्र का शाब्दिक अर्थ ही "चिल्लाने वाला" है। ऋगवेद में बहुत कम सूक्त ऐसे हैं जो रुद्र का वर्णन करते हों, परन्तु बाद में शिव के स्वरूप की जो प्रमुख विशेषतायें मिलती हैं उनका उल्लेख उनमें पहले से ही किया गया है। वे विशेषतायें ये हैं—पर्वतों में उनका आवास है, सिर पर वे जटायें धारण किये हैं और चर्म पहने हुये हैं। बाद की अवस्थाओं में उन्हें योगी-यतियों के संरक्षक और आदर्श के रूप में चित्रित किया गया है। प्रारम्भिक काल में तो इनका आह्वान इनके भयोत्पादक स्वरूप के कारण किया जाता था जिससे वे कल्याणकारी अथवा शिव हो जायँ। वेद के बाद के भागों में "शिव" उनकी विशेष संज्ञा हो गई। वहाँ उनके लिए 'महादेव" शब्द भी आया है। श्वेताश्वतर उपनिषद में—(इसमें यदा कदा शिव की भावना ब्रह्म की भावना से समन्वित हो गई हैं)—उनको उतना ही प्रमुख स्थान दिया गया है और उनको भक्ति के द्वारा ज्ञेय बतलाया गया है। इस उपनिषद् में यह भी कहा गया है कि मोक्ष के लिए उनके दिव्यप्रसाद की आवश्यकता होती है। इस प्रकार यह समस्त सविशेष आस्तिकवाद के एक विशिष्ट सिद्धान्त को

स्पष्टतया प्रस्तुत करता है। वह सिद्धान्त है—ईश्वर का प्रसाद और उसका आवश्यक सहायक अंग अर्थात् ईश्वर के प्रति मनुष्य की भक्ति।] बाद के साहित्य में इस मत की उपर्युक्त विशेषता अधिक स्पष्टता से प्रकट होती है, उदाहरणतया महाभारत के उन अध्यायों में जिनमें शिव महात्म्य है। इसकी मूर्तियाँ और देवत्व के प्रतीक मोहेञ्जो-दारो के ध्वंसावशेषों में मिलते हैं किन्तु जिस मत का संकेत इससे मिलता है तथा रुद्र शिव की जिस भक्ति का उल्लेख वेदों में है उन दोनों का ठीक सम्बन्ध क्या है यह अब तक नहीं मालूम हो सका है। आजकल हम जिसे 'सिन्ध की घाटी की सभ्यता'' कहते हैं उसके वास्तविक स्वरूप की छानबीन सम्भवतः इस विषय पर नवीन प्रकाश डाले। यह तो स्पष्ट ही है कि इस भावना में शिव की पूर्व कथित भावना से सिद्धान्ततः कुछ विरोधी बातों का भी समन्वय है और सम्भवतः इसके स्वरूप की यह विशेषताएँ शायद अंशतः विदेशी हों। बाद में भले ही ये विशेषतायें आर्यों की भावना से घुल मिल गई हों। ऐसे बहुत से लक्षण भी मिलते हैं जिससे इसके इस समन्वित स्वरूप का संकेत मिलता है। इनमें से एक तो दक्ष के यज्ञ की वह कथा है जिसमें शिव को '' छोटे देवता'' होने के कारण यज्ञ में आमन्त्रित नहीं किया गया था। यह कथा एक से अधिक ग्रन्थों में मिलती है। दूसरा लक्षण यह है कि शिव की उपासना अधिकतर आगमों (इसका शाब्दिक अर्थ है 'परम्परा') पर निर्भर है। शंकर प्रभृति कतिपय विचारकों के अनुसार यह वेदों अथवा श्रुतियों की शिक्षा से पूर्णतया सहमत नहीं है।

वैष्णव मत :—इस मत में विष्णु की उपासना परम ईश्वर के रूप में होती है। जैसा कहा जा चुका है विष्णु भी वैदिक देवता हैं। मन्त्रों में उन्हें एक सौर्य मंडल के देवता के रूप में चित्रित किया गया है। इस कारण उनका सम्बन्ध जीवन और प्रकाश से है। तीन डग भरना (त्रिविक्रम) यही सूक्तों के चित्रण के अनुसार उनका आव-

श्यक लक्षण है। सम्भवतः यह सूर्य के उदय, उत्कर्ष और अस्त की ओर संकेत करता है। "गतिशील भगवान भास्कर" सूर्य की यह उपासना ही धीरे-धीरे परिवर्तित होकर परमेश्वर के रूप में विष्णु (व्याप्त होने वाला) की उपासना के स्वरूप को प्राप्त हो गई। विष्णु ब्राह्मण काल में ही प्रधानता प्राप्त कर चुके थे। एक प्राचीन उपनिषद् में तो विष्णु के परम पद तक पहुँचने को ही मनुष्य जीवन का उद्देश्य माना गया है। एक और सहायक भावना भी थी, वह है नारायण की। अन्वीक्षण करने पर इसका मूल ऋगवेद में मिलेगा। ब्राह्मणों में तो इसका पूर्ण विकसित स्वरूप मिलता है। नारायण शब्द का अर्थ होता है "मनुष्यों का आवास अथवा विश्राम-स्थल" इसी को यदि अधिक सामान्य रूप में लें तो उसका अर्थ होगा "समस्त अस्तित्व का गन्तव्य।" एक उपनिषद् में कहा गया है कि नारायण ने अपने को सम्पूर्ण जगत और समस्त देवताओं में अन्तर्भूत कर लिया और वे सब उनमें अन्तर्भूत हो गये। एक अपेक्षतया बाद के उपनिषद् महानारायण में नारायण का वही स्थान है जो श्वेताश्वतर में शिव का हैं उसमें उनके विश्वरूप का इस प्रकार वर्णन किया गया है—"इस जगत् में जो कुछ भी सुनाई अथवा दिखाई पड़ता है नारायण उस सब को अन्दर और बाहर से व्याप्त करके स्थित रहते हैं।" महाभारत में उन्हें "धर्म पुत्र" कहा गया है इससे यही तात्पर्य निकलता है कि केवल विश्वरूप में उनकी भावना नहीं की गई है वरन् प्रमुख रूप से वह भावना नैतिक स्वरूप की ही की गई है।

एतद्कालीन वैष्णव-मत का एक तीसरा मूलभूत तत्व भी है। उपर्युक्त दोनों स्वरूप के विपरीत उसकी उद्भूति अनार्य तो नहीं किन्तु अवैदिक उद्गम से अवश्य हुई है। ऐसा प्रतीत होता है कि बुद्ध और जैनियों के अन्तिम तीर्थंकर महावीर के कुछ समय पूर्व श्रीकृष्ण नामक एक धर्म सुधारक हुए थे। वे वासुदेव के पुत्र थे और उन्होंने एक आस्तिक मत का

उपदेश दिया था। इस मत में परमेश्वर को "भगवान्" ("पूज्य") संज्ञा दी गई है और उनको वरुण के समान माना गया है क्योंकि वरुण उनके सदृश ही उत्कृष्ट नैतिक गुणों से सम्पन्न है और दूसरी दृष्टि से उनके सदृश ही पूज्य भी हैं। भागवत धर्म के रूप में शीघ्र ही इस पर साम्प्रदायिक रङ्ग चढ़ गया। जहाँ तक यह आस्तिक मत का प्रतिपादन करता है इसकी एक अवस्था सुप्रसिद्ध भगवद्गीता में ही उपदिष्ट मिलती है। यह वही ग्रंथ है जिसके विषय में हम कह चुके हैं। आगे हम इसकी व्यावहारिक शिक्षा के महत्व के विषय में उल्लेख करेंगे। मैगस्थनीज़ जब भारत आया था उस समय यह व्यापक रूप से प्रचलित था इससे मालूम पड़ता है कि यह धर्म काफ़ी पहले उत्पन्न हो चुका होगा। कालान्तर में एकेश्वरवादियों का यह मत विष्णु-नारायण के वैदिक सम्प्रदाय से जा मिला। मूलतः इसी समन्वय के प्रभाव के कारण वैष्णवों के ईश्वर शैवों के ईश्वर की अपेक्षा अधिक साकार हैं। कुछ काल पश्चात् भागवत धर्म के प्रवर्तक श्रीकृष्ण देवता के रूप में पूजे जाने लगे और विष्णु नारायण के अवतार के रूप में तद्रूप ही माने जाने लगे।

इस प्रकार वैष्णव मत तीन विचार धाराओं का समन्वित रूप है। शैव मत की भांति इसमें भी वेदेतर तत्व मिलते हैं। ईश्वर की उपासना के जिस ढंग का विधान इसमें किया गया है अधिकांश में उसका आधार आगम हैं। इस मत की विशिष्टता के द्योतक कुछ लक्षण ये हैं—जैसा कि पहले कहा जा चुका है यह शैव मत की अपेक्षा एकेश्वरवाद का प्रतिपादन करता है क्योंकि शैव मत में भी कभी कभी आस्तिकवाद का निर्विशेष स्वरूप अधिक दृढ़ता से मिलता है। दूसरा लक्षण यह है कि विष्णु विभिन्न रूपों में अवतार लेते हैं। 'अवतार' शब्द का अर्थ है "उतरना" और इसका इतना ही तात्पर्य निकलता है कि हमारे सम्मुख जीवन का एक उच्च आदर्श रखने के लिये ईश्वर स्वयं मर्त्यलोक में उतर आते हैं। इस प्रकार हमें ऊँचा उठाकर

अपनी ओर ले जाना ही उनका उद्देश्य है । हिन्दुओं की धारणा के अनुसार विश्व में अनवरत प्रगति नहीं है। कभी कभी धर्म क्षीणतर होता चला जाता है और तब ईश्वर "पापियों का नाश करके धर्म के साम्राज्य की स्थापना करने के लिये अवतार लेते है।" हिन्दू धर्म का सदा से एक महत्वपूर्ण लक्षण यह रहा है कि दूसरे धर्म के उपास्य देवताओं को केवल एक ही ब्रह्म के व्यक्त स्वरूप के रूप में ग्रहण करके वह उसके सिद्धान्तों को अपने में ही समन्वित कर लेता है। अवतारों के इस सिद्धान्त से इस समन्वय में बहुत सहायता मिलती रही। भगवान श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं—"अन्य देवताओं की उपासना करने वाले भी मेरी ही उपासना करते हैं यद्यपि वह विधि-पूर्वक नहीं होती है।" इस प्रकार इसमें उन मतान्तरों का विच्छेद नहीं कर दिया जाता वरन् उनकी पुनर्व्याख्या करके उनमें 'सत्य' के जो भी तत्व मिलते हैं उनसे लाभ उठाया जाता है। उदाहरणतया इसी प्रकार की पुनर्व्याख्या के कारण भगवान श्रीकृष्ण की उपासना भी वैष्णव मत में जा मिली और बाद में तो बुद्ध को भी विष्णु के दश प्रमुख अवतारों में स्थान दे दिया गया। वैष्णव मत की और दूसरी विशेषता यह है कि मुक्ति के साधन रूप में भक्ति पर बहुत जोर दिया गया है। हम देख चुके हैं कि शैव मत में भी यही विशेषता है। इस समय पशुयज्ञ वैदिक धर्म का एक प्रमुख लक्षण था किन्तु इस धर्म के अनुयायियों ने उसका भी त्याग कर दिया इससे उसके प्रति इसकी विरोध भावना प्रदर्शित होती है। वैष्णव मत का माहात्म्य वर्णन करने वाले महाभारत के एक अध्याय में एक ऐसे "अश्वमेध" का उल्लेख है जिसमें किसी भी पशु का वध नहीं होता था।

एकेश्वरवादियों के सिद्धान्तों का, चाहे वे शैव मत का प्रतिपादन करते हों अथवा वैष्णव मत का, एक विशेष लक्षण यह है कि उनमें ईश्वर, जीव और जगत में (जिसका कर्ता ईश्वर ही है) अन्तर माना गया है। जीव को प्रायः नित्य किन्तु ईश्वर (परमात्मा) पर पूर्णतया आश्रित माना जाता है। अतएव उसके उद्देश्य की सिद्धि के लिए अपने

को स्वेच्छापूर्वक निमित्त बना देना मनुष्य का प्रथम कर्तव्य है। भारत के प्रारम्भिक आस्तिकवाद के अनुसार जीवन के लक्ष्य की क्या भावना की गई थी यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि यह विविध रूपों में मिलता है। सामान्यतया यह कहा जा सकता है कि यह ईश्वर का सामीप्य अथवा सारूप्य प्राप्त करना ही है। सदाचरण या चर्या अतिरिक्त इस उद्देश्य की प्राप्ति का प्रमुख साधन ईश्वर-भक्ति है जिससे उनका प्रसाद प्राप्त कर लिया जाता है। पाठकों को स्मरण होगा कि वह यही साधन है जिसकी शक्ति को वेद के प्राचीनतम भागों में भी स्वीकार किया गया है।

(२) **कर्मकाण्डवाद**:—उत्तर वैदिक विचारधारा का एक अत्यन्त प्रमुख लक्षण यह है कि उसमें कर्मकाण्डवाद के तत्त्व व्याप्त हैं। जैसा कि कल्पसूत्रों से दर्शित होता है, वेदोत्तर काल में इन तत्त्वों का आगे और विकास हुआ। यह तो कहा ही जा चुका है कि कल्पसूत्रों का उद्देश्य यज्ञ-सम्बन्धी विधानों का विधिवत निरूपण करना है। इनके तीन विभाग हैं। इनमें से एक जो अत्यन्त विशाल हैं, विस्तृत यज्ञों का वर्णन करता है। कहना न होगा कि यही ब्राह्मणों का भी मुख्य विषय है। दूसरे का सम्बन्ध विवाह, पुत्रजन्म आदि के संस्कारों से सम्बद्ध गृह-यज्ञों से है। हमें इन दोनों प्रकार के ग्रन्थों से कोई मतलब नहीं क्योंकि उनका सम्बन्ध मुख्यतया विधि विधानों से ही है। अतएव हम उन पर और अधिक विचार नहीं करेंगे। हमारे लिए इन सूत्रों का अवशिष्ट विभाग ही महत्त्व का है यद्यपि वह भी परोक्ष रूप में ही है। व्यक्ति के लिए कुछ कर्त्तव्यों का विधान करके उसके आचार-विचारों का संयम करना और इस प्रकार उसे श्रौत क्रियाओं के करने का अधिकारी बना देना ही उनका उद्देश्य है। बहुत प्राचीन काल से स्वीकृत रूप से चले आने वाले एक सिद्धान्त के अनुसार जो अब अधिक स्पष्ट रूप में समझा जाने लगा है, ये क्रियाएँ तभी फलीभूत होती हैं जब कि उनका

सम्पादन करने वाला मनुष्य विचारों से पवित्र हो। एक सूत्र इस प्रकार कहता है—"वेद नैतिक आयोग्य पुरुष को पवित्र नहीं बनाते।" महाभारत के इस कथन में कि "वे पाखण्डी की रक्षा नहीं करते" इसी विचार की पुनरुक्ति है। इनको "धर्म सूत्र" कहते हैं क्योंकि इनका उद्देश्य धर्म की मर्यादा का निरूपण करना है।

अब हम आगे धर्म शब्द के अर्थ पर विचार करेंगे। भारतीय विचारधारा के इतिहास में धर्म शब्द अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है, किन्तु अभाग्यवश इसके अर्थ की व्याख्या करना सरल नहीं है। इसका शाब्दिक अर्थ है "जो धारण करता हो"। इससे तात्पर्य यही है कि यह संपूर्ण व्यवस्था का आधार है चाहे वह सामाजिक हो अथवा नैतिक इसलिये जहाँ तक इसके नैतिक स्वरूप का सम्बन्ध है ऋत और धर्म समानार्थ हैं। वास्तव में धर्म की भावना इस काल में ऋत का, जिसके विषय में पहले कहा जा चुका है स्थान ले लेती है। कभी-कभी इसको विशुद्ध नैतिक अर्थ में भी प्रयुक्त किया जाता है, और यह फलरूप में किसी न किसी प्रकार का कल्याण करने वाले सदाचार के लिए आता है। परन्तु इसका अधिक प्रचलित अर्थ है सुकृत अथवा पुण्य। इसके विषय में यह सोचा जाता है कि यह किसी अदृष्ट ढंग से इहलोक अथवा परलोक में व्यक्ति का कल्याण संग्रह करता है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि कुछ विशेष यज्ञों के करने से यजमान इस जीवन के पश्चात् स्वर्ग-लोक को जाता है। कुछ अन्य यज्ञों का सम्पादन पुत्र धन और ऐसी ही काम्य वस्तुओं की प्राप्ति कराना है। यद्यपि यज्ञ की इस भावना में कर्मकाण्डवाद की ही प्रधानता है तो भी अभी हमने जिस सिद्धान्त का उल्लेख किया है उसके अनुरूप इसमें नैतिक महत्त्व को कोई स्थान नहीं दिया गया है ऐसा नहीं है। यहाँ हमारे लिए इन सूत्र-ग्रन्थों में रूपित नैतिक तथा आचरण सम्बन्धी पवित्रता का आदर्श ही महत्त्व का विषय है, यद्यपि हो सकता है कि उनमें इस आदर्श को परमलक्ष्य के रूप में न

रख कर केवल कर्मकाण्डों की सफलता के साधन रूप में ही रक्खा गया हो।

धर्मसूत्रों में जिन नित्यकर्मों का विधान किया गया है उनका विस्तृत वर्णन तो यहाँ सम्भव है नहीं। हम यहाँ केवल सामान्यरूप से इसका ध्यानभर दिला सकते हैं कि वे चित्त-शुद्धि के द्वारा आत्मज्ञान उत्पन्न करने वाले नैतिक गुणों की प्राप्ति तथा साथ ही सामाजिक कर्तव्यों की पूर्ति में सहायक सिद्ध होते हैं। यह बात इन सूत्र-ग्रन्थों में उपदिष्ट दो मुख्य प्रकार के धर्मों का उल्लेख करने से स्पष्ट हो जायेगी।

(१) प्रथम प्रकार के धर्मों को साधारण धर्म कहा गया है। आत्म-संमय, सत्य, दया आदि इसी प्रकार के अन्य नैतिक गुण ही साधारण धर्म कहे जाते हैं। इनका अनुष्ठान प्रत्येक मनुष्य के लिए समान रूप से आवश्यक है। जब उन्हें अधिक व्यापक रूप में अथवा इस रूप में कि वे दूसरों पर भी लागू हों लिया जाता है तो यह माना जाता है कि वे मानव समाज तक ही सीमित नहीं है बल्कि उनके शासन के क्षेत्र में निम्नतर योनि के वे प्राणी भी आ जाते हैं जिनके लिए फल का ही विधान माना गया है, किसी कर्त्तव्य का नहीं।

(२) दूसरे प्रकार के धर्मों के स्वरूप को समझने के लिए यह स्मरणीय है कि आर्यों का समाज सुविख्यात चार वर्णों में विभाजित था और वह आज भी चला आ रहा है। उनमें से तीन श्रेष्ठतर वर्णों के व्यक्तियों के जीवन को भी उसी प्रकार चार आश्रमों (अवस्थाओं) में विभक्त कर दिया गया था। जीवन के ये चार आश्रम अथवा अवस्थाएं निम्न हैं—(१) ब्रह्मचर्य अथवा ब्रह्म विद्या (धार्मिक विद्या) का अध्ययन करने वाले विद्यार्थियों का जीवन। इसमें ब्रह्मचारी अत्यन्त संयमित जीवन व्यतीत करके वेदाध्ययन करता है। (२) गार्हस्थ्य:—गृहस्थ का जीवन, जिसमें वह देव-यज्ञ तथा दान आदि अन्य कर्त्तव्यों का पालन करता है। (३) वानप्रस्थ:—जब मनुष्य सब कुछ त्याग कर वन में चला

जाता है और साधुओं की भाँति एकान्तवास करता है। (४) सन्यासः—"रमता जोगी" बनकर समस्त सांसारिक एषणाओं और अहं भावनाओं का सर्वथा त्याग करके परम सत्य के ध्यान में लगे रहना। प्रत्येक वर्ण और आश्रम के लिए अलग-अलग विशिष्ट कर्त्तव्यों का विधान है। अतएव यह सोचना कि जो सन्यासियों का वेष धारण कर लेते हैं उनके लिए कोई कर्त्तव्य अवशिष्ट नहीं रहते नितान्त भ्रमपूर्ण है। इस आश्रम को ग्रहण करने से यही तात्पर्य निकलता है कि विशेष रूप से गार्हस्थ्य जीवन से सम्बन्ध रखने वाले कर्मकाण्डों का त्याग कर देना चाहिए। इसका यह अर्थ नहीं कि वे दूसरों के कल्याण के प्रति उदासीन हो जाते हैं। विभिन्न वर्णों और आश्रमों के लिए जो कर्म उपयुक्त बतलाये गये हैं उन्हें "वर्णाश्रम-धर्म" की विशेष संज्ञा दी गई है। यद्यपि प्रथम प्रकार के (साधारण) धर्मों के विपरीत इसका विधान सापेक्षित दृष्टि से किया गया है तब भी ये वर्णाश्रम धर्म के समान और उतने ही आवश्यक और अनिवार्य हैं अन्तर केवल इतना ही है कि पहले वाले तो आयु और अवस्था के बिना किसी भेद के सब के लिए समान रूप से अपेक्षित हैं किन्तु दूसरे केवल विशेष वर्णों के लिए। इनमें से बहुत से कर्मों का स्वरूप धार्मिक है किन्तु तब भी वे आत्मसंयम आदि व्यक्ति के नैतिक गुणों की उत्पत्ति और सार्वजनिक कल्याण के उत्कर्ष में सहायक होते हैं। इसके साथ ही दीर्घकाल तक उनका सेवन करने पर साधक का भी मङ्गल होता है। इसको दिखाने के लिए यहां "महायज्ञ" नाम से प्रख्यात पांच यज्ञों का उल्लेख करना पर्याप्त होगा, जिनका अनुष्ठान प्रत्येक गृहस्थ के लिए अपेक्षणीय है। ये निम्न हैं:— वेद-यज्ञ (वेदाध्ययन) देव-यज्ञ, अतिथि यज्ञ, पितृयज्ञ (पित्रों को पिण्ड दानादि अर्पित करना) और भूत यज्ञ (पक्षियों आदि को भोजन देना)।

इन सूत्रों में प्रायः यही मत प्रतिपादित किया जाता है कि चारों आश्रमों के संयम का यथाक्रम पालन करना चाहिए। इसका अर्थ यह

है कि इनमें सक्रिय सामाजिक जीवन की शिक्षा (प्रवृत्ति) का सन्यास (निवृत्ति) से समन्वय है। यह उपनिषदों में सामान्य रूप से निर्दिष्ट जीवन के क्रम के समान ही है क्योंकि सन्यास के लिये वहाँ भी जीवन के अन्य आश्रमों, विशेषतया गार्हस्थ्य, की पूर्व साधना आवश्यक मानी गई है। आत्म संयम की पराकाष्ठा का सूचक होने के कारण ही सन्यास के लिये यह पूर्व साधन अपेक्षित है। उदाहरणतया हम यह जानते हैं कि उपनिषदों के महान आचार्य याज्ञवल्क्य सन्यास लेने के पूर्व बहुत समय तक गृहस्थ रहे थे। किन्तु धर्म-सूत्रों में सन्यास का खण्डन करने वाले एक मत का भी उल्लेख मिलता है। यह कर्मकाण्डवाद में व्याप्त भावना के अधिक अनुरूप है और बहुत सम्भवतः वेदों के मौलिक विचारों का निरूपण करता है। इसके अनुसार स्वर्गलोक के आनन्दों की प्राप्ति ही जीवन का परमलक्ष्य ठहराया गया है। किन्तु इन सूत्रों को समष्टि रूप में लेने पर ऐसा प्रतीत होता है कि ये कर्म-काण्डवाद और उपनिषदों के मुक्ति विषयक मत के समन्वय का निरूपण करते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि एक सूत्र में तो आत्मलाभ मनुष्य के लक्ष्य के रूप में स्थापित किया गया और दूसरे में यह मत प्रस्तावित किया गया है कि यदि मनुष्य को चुनना ही है तो इन धार्मिक कृत्यों से उत्पन्न पुण्य की अपेक्षा आत्मिक उन्नति को अधिक महत्त्व देना चाहिए। इस साधना के द्वारा जो लक्ष्य प्राप्त होता है उसे "ब्रह्मलोक" कहा गया है। यह लक्ष्य बहुत कुछ उपनिषदों में प्रतिष्ठापित क्रममुक्ति के समान ही है।

[२]

अभी तक हम वेदों अथवा उनके अंगभूत ग्रन्थों की शिक्षा में ही पूर्णतः लगे रहे। परन्तु उस समय एक अन्य प्रकार का मत भी प्रचलित था जो अपने मौलिक स्वरूप तथा सामान्य भावना दोनों ही में

नितान्त भिन्न था। उसके कई स्वरूप मिलते हैं किन्तु प्रत्येक स्वरूप की मुख्य विशेषता यही है कि उसमें वेद के प्रात तीव्र विरोध भावना का प्रदर्शन है। जैसा कि कहा जा चुका है स्वयं वैदिक शिक्षाओं में विरोधी तत्वों का समावेश है। यह विरोध ब्राह्मणों और उपनिषदों का था किन्तु कालान्तर में वह किसी प्रकार दब गया था। जिस विरोध की ओर हम अब संकेत कर रहे हैं वह कहीं अधिक मौलिक है। इसकी उद्भूति वेदोत्तर काल में नहीं हुई बल्कि यह अधिक प्राचीन है क्योंकि हमें वैदिक साहित्य की समस्त महत्त्वपूर्ण अवस्थाओं में इसके प्रसंग मिलते हैं, हॉ यह अवश्य है कि मिलते कहीं कहीं ही हैं। परमार्थ सत्य की उपनिषदों में क्या भावना की गई है इसकी विवेचना करते समय एक ऐसे ही शून्दवादी मत का उदाहरण रूप में उल्लेख किया गया था। उस मत में यही माना जाता है कि ऐसा कोई भावात्मक कारण नहीं है जिसे हम अनुभव जगत का मूल कह सकें। किन्तु वहां यह मत अपरोक्ष रूप में ही है अथवा वहां वह इस रूप में आया है कि वैदिक विचारकों ने उसका प्रतिवाद करना आवश्यक समझ कर ही उसे लिया है। उसका कोई ऐसा प्रत्यक्ष विवरण नहीं मिलता जो उसी समय से किसी रूप में चला आता हो। इसीलिये हम यह नहीं कह सकते कि उस समय तक इस मत का विकास किस अंश तक हुआ था, अथवा उसका प्रभाव ठीक ठीक कितने विस्तृत रूप में फैला हुआ था।

जहां तक उसकी उत्पत्ति का सम्बन्ध है हमें उसका सम्बन्ध आर्यों के इस देश में सर्वप्रथम आकर बसने के समय में प्रचलित मत मतान्तरों से ही स्थापित करना होगा। अथवा यह कहा जा सकता है कि वह स्वयं आर्य-विचारकों के विभिन्न सम्प्रदायों में इतने अधिक गहरे मतभेदों का परिणाम था जिनको वे आसानी से एक दूसरे से सम्मत नहीं कर सकते थे। यदि हम उसकी परीक्षा इस दृष्टि से करें कि उस नास्तिक

मत के अनुयायी भी सामान्यतः आर्य ही थे तो दूसरे मत के अधिक ठीक होने की सम्भावना मालूम पड़ती है यद्यपि हो सकता है कि आर्यों के आने के पूर्व इस देश में जिन मतों का प्रचार था उनसे भी वे काफी प्रभावित हुए। किन्तु इस मत का उद्गम कहीं से भी हुआ हो वेदोत्तर काल के प्रारम्भ के करीब से इसका महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ना शुरू हो गया था। समष्टि रूप में भारतीय विचारों की प्रगति में इससे अत्यधिक सहायता मिली। इसके विरोध का फल यही निकला कि दोनों प्रकार की विचारधाराओं के प्रवर्तक अपने-अपने स्थानों पर अधिक दृढ़ता से जमते गये। वैदिक मतों से यह संकेत मिलता है कि वे उत्तर और पश्चिम में फले-फूले किन्तु अवैदिक मत से यही सूचित होता है कि उनका जमघट पूर्वी भारत में ही रहा। यह जरा ध्यान देने की बात हो सकती है जैसा कि इतिहास से प्रकट होता है इस काल में राजनैतिक सरगर्मी का केन्द्र भी इसी दिशा की ओर खिंचता चला गया था।

इस काल में इस विचारधारा के भी तीन मुख्य भेद मिलते हैं। पहले को हम स्वभाववाद कह सकते हैं और अन्य दोनों सुविख्यात जैन तथा बौद्धमत के नाम से प्रसिद्ध हुए हैं। इनमें से एक तो सदा भारत तक ही सीमित रहा, किन्तु दूसरा विश्व-धर्म बन गया। इन दोनों का अपना-अपना साहित्य है यद्यपि इनमें से कोई भी उस काल तक नहीं पहुँचता है जब कि उसके महान आदि प्रवर्तकों ने मनुष्य की वाणी में प्रवचन दिये थे। इस साहित्य के प्राचीनतम भाग उनके कुछ शताब्दियों बाद के हैं किन्तु इतना तो विश्वास किया ही जा सकता है कि जिन परम्पराओं का उनमें संकीर्तन किया गया है वे उस काल तक पहुँचती हैं। इनके साहित्यों की एक विशेषता यह है कि ये सब संस्कृत में न होकर उस समय के जनसाधारण की बोल-चाल की भाषा प्राकृत में हैं। इससे यह सूचित होता कि ये प्रस्तुत धार्मिक आन्दोलन पुरोहितों तक ही सीमित न होकर जन-साधारण में अधिक प्रचलित थे। जहां तक

स्वभाववाद का सम्बन्ध है उसमें इस प्रकार का कोई साहित्य नहीं है। केवल आस्तिक और नास्तिक सम्प्रदायों के ग्रन्थों में इसका प्रसंग यत्र-तत्र मिलता है। इस विषय में ज्ञान प्राप्त करने का हमारे लिए सर्वश्रेष्ठ साधन महाभारत है। इसमें प्रायः उसका उल्लेख किया गया है। यद्यपि यह प्रसंगवश ही किया गया है। हम इस मत के विषय में विस्तृत बातों का बहुत कम ज्ञान प्राप्त कर पाते हैं। अतः हम इसके बारे में जो कुछ कहना चाहते हैं उसे अगले परिच्छेद के लिये स्थगित किये देते हैं। विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों के आविर्भूत होने के समय तक इन दोनों मतों का काफी विकास हो चुका था। सुविधा की दृष्टि से हम यहां उनकी प्रारम्भिक शिक्षाओं पर विचार न कर उस परिच्छेद में करेंगे जहां उनका विधिवत् निरूपण किया जायगा।

[३]

भारतीय मतमतान्तरों का जो संक्षिप्त वर्णन हमने किया है इतना तो उसी से स्पष्ट हो जाता है कि ईसा से तीन-चार शताब्दियों के लगभग दार्शनिक साहित्य की एक विशाल राशि एकत्र हो गई थी। इस साहित्य की मूलभूत विषमता के कारण ही इसको विभिन्न सम्प्रदायों में विधिवत रूप से बांटने की आवश्यकता हुई। परन्तु इसकी प्रारम्भिक अवस्था के सम्बन्ध में विस्तृत बातों का कोई पता नहीं चलता और सम्भवतः यह अब अनुसंधान के परे का विषय हो गया है। बाद में जो विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदाय इसके फलस्वरूप अस्तित्व में आये उनके विषय में ज्ञान प्राप्त करने के सर्वप्रथम साधन वे ग्रन्थ हैं जो सामान्यतया आज भी "सूत्र" नाम से हमें मिलते हैं। केवल "सांख्य" दर्शन को छोड़कर प्रत्येक आस्तिक दार्शनिक सम्प्रदायों के अपने अपने सूत्र ग्रन्थ हैं। अब तो 'सांख्य' दर्शन का निरूपण करने वाले सूत्र भी प्राप्य हैं किन्तु हमें ऐसे निश्चित प्रमाण मिलते हैं जिनसे

यही मालूम होता है कि वे बहुत बाद के हैं। नास्तिक अथवा अवैदिक दार्शनिक सम्प्रदायों के भी बहुत कुछ इसी प्रकार के आधारभूत प्रामाणिक ग्रन्थ हैं। इन सूत्र ग्रन्थों का चाहे वे पहले सम्प्रदाय के हों या दूसरे के विविध उद्देश्य है—एक तो यह कि जिस दार्शनिक सम्प्रदाय से वे संबद्ध हैं उस सम्प्रदाय विशेष के सिद्धान्तों का एकत्रीकरण और दूसरा यह कि जहां दूसरे सम्प्रदाय इसके सिद्धान्तों से मेल न खाते हों वहाँ उनका खंडन करना। इसी कारण इसमें परस्पर विरोधी प्रसंग मिलते हैं और इसलिये सब सम्प्रदाय एक दूसरे के समकालीन मालूम पड़ते हैं। इसकी तो कोई सम्भावना ही नहीं हो सकती कि वे समकालीन थे अतएव इनमें जो एक दूसरे के प्रति विरोधी प्रसंग मिलते हैं उनका कारण प्रायः बाद के क्षेपकों को ही मानना पड़ेगा। इन ग्रन्थों का कलेवर सूत्रों से निर्मित है। इन सूत्रों में इतने कम शब्दों का प्रयोग किया जाता है कि बिना टीकाओं (भाष्यों) के इनको समझना भी असंभव सा हो जाता है। प्रत्येक सूत्र ग्रन्थों पर हमें ऐसे भाष्य मिलते हैं और स्वयं इन भाष्यों पर बाद में टीकाएँ लिखी गई हैं। प्रत्येक दार्शनिक सम्प्रदायों के साहित्य में पहले तो उनके अपने अपने सूत्र होते हैं फिर उन पर वृत्ति और भाष्य और उन पर भी टीकाएँ होती हैं। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे 'प्रकरण' भी होते हैं जिनमें जिज्ञासुओं की सहायतार्थ समष्टि रूप में मतमतान्तरों की विवेचना रहती है। अथवा अधिक गम्भीर विद्यार्थियों की दृष्टि से उनके एक अथवा एक से अधिक स्वरूपों की समीक्षा की जाती है।

इस काल में प्राचीन विचारों के विधिवत वर्गीकरण का प्रमुख चिन्ह यह है कि ज्ञान के स्वरूप और कार्यों अथवा इस समस्या पर कि हम क्या और कैसे जानते हैं, ध्यान दिया जाने लगा। इसी को भारतीय शब्दावली में इस प्रकार प्रकट किया जायेगा कि इन समस्त दार्शनिक सम्प्रदायों का सामान्य लक्षण उनमें प्रमाणों की समीक्षा का समा-

वेश है चाहे उनका आदि प्रमाणों की समीक्षा से न हुआ हो। प्रमाणों का अर्थ प्रमा अथवा यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने का निकटतम साधन है। प्रमाणों को केवल नवीन ज्ञान प्राप्ति में ही नहीं अपितु उपलब्ध ज्ञान की यथार्थता की परीक्षा में भी सहायक माना जाता है। इसी कारण भारत में तर्कशास्त्र को खोज और प्रमाण दोनों का विज्ञान माना गया है। प्रमाण प्रत्यक्ष की भांति अज्ञात वस्तुओं के अस्तित्व और स्वरूप को उद्भासित कर सकता है। वह जाँच करने का साधन हो सकता है जैसे नेत्रेन्द्रिय से परिलक्षित वस्तु को हम स्पर्श द्वारा जांच लेते हैं या जैसे किसी अनुमानित ज्ञान के सम्बन्ध में उठने वाले संशय को वास्तविक अवलोकन से दूर कर लेते हैं। भारतीय दार्शनिकों में प्रमाण के क्षेत्र और स्वरूप की सूक्ष्म बातों में बड़ा मतभेद है। विभिन्न सम्प्रदायों को लेते समय हम उनमें से कुछ का उल्लेख करेंगे। प्रमाणों की सख्या भी एक ऐसा ही विषय है जिस पर विभिन्न सम्प्रदायों के विचारों में व्यापक अन्तर है। साधरणतया विभिन्न सम्प्रदायों का वर्गीकरण उनमें मानी गई प्रमाणों की संख्या के अनुसार किया गया है जो एक से लेकर छः या उससे भी अधिक है। वस्तुतः यह वर्गीकरण है जरा तर्कबुद्धि के आधार से हीन। भारत के अधिकांश नैयायिक उनमें से तीन प्रमाणों को ही स्वीकार करने में सहमत हैं— प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द। यहां हम अंतिम प्रमाण के विषय में कुछ कहेंगे क्योंकि प्रमाणों में उसकी अन्तर्भूति भारतीय तर्कशास्त्र एक महत्वपूर्ण लक्षण है।

यहां सर्वप्रथम हम शब्द के उन दो स्वरूपों का अन्तर स्पष्ट करेंगे जो जिज्ञासुओं को भय में डाल सकते हैं। जब कोई वाक्य बोला जाता है तो सर्वप्रथम शब्द हमारे कर्ण-कुहरों से होकर हमारे मन में एक प्रकार का संस्कार उत्पन्न कर देता है। यह प्रत्यक्ष का एक उदाहरण है और इसमें जिन विषयों का ज्ञान प्राप्त होता है वह है

एक विशेष क्रम से उत्पन्न होने वाली ध्वनियां (शब्द)। एक प्रमाण के रूप में (आप्त) शब्द का यह अर्थ नहीं होता। वाक्य का एक और स्वरूप भी होता है। वह उसकी व्याख्या अथवा उसके अर्थ से संबन्धित है। "शब्द" को हम यहां जिस रूप में ले रहे हैं उसका सम्बन्ध वाक्य के इसी स्वरूप से है। जीवन में इस प्रमाण की उपयोगिता के विषय में कोई अत्युक्ति नहीं हो सकती। मनुष्य को जिन सैकड़ों बातों का ज्ञान प्राप्त करने की आवश्यकता रहती है वह स्वयं उनके एक बहुत छोटे अंश के विषय में ही थोड़ा बहुत ज्ञान पाता है शेष के लिये उसे दूसरों के शब्दों की प्रामाणिकता पर ही निर्भर रहना पड़ता है—चाहे वे शब्द कहे गये हों अथवा लिखे गये। इसका कोई विशेष महत्त्व नहीं। अतएव दूसरों को अपने विचारों से अवगत कराने और दूसरों के अनुभवों से अपने अनुभव-ज्ञान की वृद्धि करने के साधन के रूप में "शब्द" के महत्त्व को निःसंकोच स्वीकार करना होगा। हाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि क्या इतनी ही बातें इसको एक स्वतन्त्र प्रमाण का रूप देने के लिये पर्याप्त होंगी। इस प्रकार तर्क-शास्त्र में शब्द प्रयोग का क्या स्थान है केवल इसी प्रश्न पर सारा झगड़ा है न कि शब्द की उपयोगिता पर।

कतिपय भारतीय नैयायिक केवल प्रत्यक्ष और अनुमान को ही ठीक मानते हैं और शब्द के पृथक् प्रमाण होने का निराकरण करते हैं। उनके अनुसार उन दोनों प्रमाणों का अथवा सामान्य रूप में लिये जाने वाले अनुभव का प्रत्यक्षतया अथवा परोक्षतया आश्रय लेने पर ही उसको प्रामाणिक माना जा सकता है। इस तरह उनके मत को अनुभववाद कहा जा सकता है। इस प्रकार का भारतीय मत सबसे अच्छी तरह स्वभाववाद के रूप में निरूपित हुआ है। सरसरी तौर पर हम इसका उल्लेख कर आये हैं और अगले परिच्छेद में हम प्रमाण मीमांसा करने वाले इसके सामान्य सिद्धान्तों की विवेचना करेंगे। जहाँ तक

पौरुषेय वाक्यों का सम्बन्ध है दूसरे सम्प्रदायों ने भी इस बात को स्वीकार किया है। परन्तु अनुभववादियों की भाँति यह मान लेना कि इंद्रियाँ और तर्क केवल ये दोनों ही ज्ञान प्राप्त करने के साधन हैं उनके मतानुसार सत्य ही परिधि को बहुत ही सीमित कर देना है। वे कहते हैं कि मानवीय मन को प्रत्यक्ष और अनुमान के परे का निश्चित ज्ञान भले ही न होता हो किन्तु तब भी ऐसा नहीं है कि उसे उसका बिलकुल आभास ही न हो। सत्य का ज्ञान साधारण अनुभव में ही प्रतिभाष्य है। इस कथन का यह तात्पर्य निकलता है कि मन उस सीमा का अतिक्रमण कर गया है। हमारे मन की पहुँच उसके ग्रहण करने की शक्ति के आगे पहुँचती है परन्तु एक ऐसे अनुभवातीत सत को मान लेना जो केवल अपरिज्ञेय "कुछ" हो स्पष्टतया व्यर्थ होगा। एक ऐसे उपयुक्त प्रमाण की भी आवश्यकता है जिससे हम उसका या कम से कम उसके उन स्वरूपों का ज्ञान प्राप्त कर सकें जो हमारे लिये महत्त्वपूर्ण हैं। ऐसी ही धारणा के आधार पर भारतीय दर्शन में शब्द को पृथक् प्रमाण माना गया है। उदाहरणतया जैमिनी ने ही बताया है कि जहाँ प्रत्यक्ष और अनुमान ज्ञान प्राप्त कराने में असफल रहते हैं वहाँ वेद ही ज्ञान का साधन हैं। बिना विस्तार में गये हम यह कह सकते हैं कि इस अर्थ में शब्द-प्रमाण का काम हमें धर्म और मोक्ष इन दोनों उच्च आदर्शों का ज्ञान और उनका साक्षात करने के उपयुक्त साधनों की अवगति कराना है।

कुछ लोगों के अनुसार इस प्रमाण के मूल में योगियों का प्रातिभ-दर्शन होता है और जिस माध्यम से वह प्रातिभज्ञान प्रवाहित होता है उसे "स्मृति" अथवा "आगम" (परम्परागत ज्ञान) कहते हैं। हम जैन मत को इसके एक सुन्दर उदाहरण के रूप में ले सकते हैं क्योंकि महावीर प्रभृति महान तीर्थंकरों के अंतर्ज्ञान से ही इसके मौलिक सिद्धान्तों को लिया गया बताया जाता है। इस मत के अनुसार

जगत के उस ज्ञान के लिए जो सामान्य अनुभव के परे है हमें व्यक्ति विशेष के अंतर्ज्ञान की प्रामाणिकता पर पूर्णतया आश्रित रहना पड़ता है। व्यक्ति विशेष के अनुभव के इस संकीर्त्तन को बहुत से दूसरे लोग खतरे से खाली नहीं समझते क्योंकि उनके विचार से किसी मनुष्य के अंतर्ज्ञान के साथ-साथ उसकी यथार्थता का प्रमाण नहीं जुड़ा रहता। आस्तिक सम्प्रदाय के एक प्रसिद्ध आचार्य कुमारिल ने इसी से सम्बन्धित एक विषय की समीक्षा करते हुए कहा भी है, कि केवल एक ही व्यक्ति को होने वाला दर्शन बहुत सम्भव है भ्रम मात्र ही हो। इससे ऋषियों की श्रद्धा पर कोई आंच नहीं आती। इसका अर्थ तो केवल इतना ही है कि गुरु के चरित्र की श्रेष्ठता उनके उपदेश की सत्यता का कोई प्रमाण नहीं है। आस्तिक सम्प्रदाय के विचारकों व्यक्ति के इस विषयिसापेक्ष सम्भावित दोष से बचने के लिए ऋषि-विशेष के प्रातिभ ज्ञान पर आश्रित शब्द प्रमाण के स्थान पर एक दूसरा प्रमाण मानते हैं वह है "श्रुति" जो 'वेद' नाम से प्रख्यात हैं। यह बड़े विश्वास के साथ कहा जाता है कि या तो वेदों की आविर्भूति ईश्वर से हुई है अथवा ये किसी दूसरे अर्थ में अपौरुषेय हैं इस कारण वे हमें असत्पथ पर नहीं ले जा सकते। सामान्यतया श्रुति का अर्थ सनातन मानी जाने वाली परम्परा है क्योंकि उसका मूल व्यक्ति के ज्ञान में नहीं है। पूर्व मत के विपरीत इस मत का भाव यह——कि अनुभवातीत ब्रह्म का ज्ञान मनुष्य के मन के द्वारा प्रत्यक्ष रूपेण प्राप्य नहीं है—चाहे उसका जीवन नैतिक और बौद्धिक दृष्टि से कितना ही उन्नत क्यों न हो।

ये तो हुई धार्मिकता से प्रेरित धारणाएँ। इनको छोड़िये। यहां तो यही मानना पड़ेगा कि जिन बातों को वेद सत्य के रूप में प्रतिष्ठापित करते हैं उनको किन्हीं विशिष्ट मनीषियों की कृति के रूप में ग्रहण करना सम्भव है या नहीं; अन्ततोगत्वा हमें यही मानना होगा कि कभी न कभी उनका उद्भव किसी मनुष्य से हुआ होगा। यह तथ्य इस कथन

में ही निहित मालूम पड़ता है कि प्राचीन ऋषियों ने आत्म-प्रेरणा से उद्भासित हो कर ही इन सत्यों का साक्षात् कर पाया था। यदि यह यथार्थ है तो यह भी मानना पड़ेगा कि वेद में हमें प्राचीन ऋषियों के प्रातिभ ज्ञान के फलस्वरूप प्राप्त अनुभवों का ज्ञान प्राप्त होता है। किन्तु एक महत्वपूर्ण अन्तर यह है कि "श्रुतिज्ञान" के लिए कभी कभी यह अनिवार्य शर्त लगा दी जाती है कि वह समाज के महाजनों यह स्वीकार्य सिद्ध हुआ हो, परन्तु यह तो केवल प्रस्तुत साध्य को स्वीकार करके चलना ही होगा क्योंकि यह भी उतने ही जोर से स्थापित किया जाता है कि अवैदिक परम्परा को भी समाज के महाजनों ने स्वीकार कर लिया था। इस नवीन शर्त का यह अर्थ मालूम होता है कि पूर्व परम्परागत मतों की यथार्थता के विषय में संशय उत्पन्न होने पर इस सम्प्रदाय के अनुयायी विद्वान मनुष्यों द्वारा मान्य होने को ही प्रमाण ठहराते हैं किन्तु दूसरे मत के लोग यह नहीं करते। इस प्रकार अन्ततोगत्वा यहां व्यक्तियों को न लेकर मनुष्यों के समाज को ही प्रमाण के रूप में लिया जाने लगा और इस प्रकार इसको विषय रूप में ग्रहण किया जाने लगा। इसका प्रभाव यह पड़ा कि इसमें समाज को प्रामाणिकता दी जाने लगी जो किसी व्यक्ति विशेष के प्रातिभ ज्ञान को नहीं दी जा सकती। ऊपर दिया गया श्रुति का अर्थ स्मृति मात्र से इसी बात में श्रेष्ठ है। मीमांसा और वेदान्त ये दो सम्प्रदाय इसी अर्थ में 'श्रुति' को अतीन्द्रिय तत्वों के ज्ञान प्राप्त करने का साधन मानते हैं।

इस दृष्टि से भारतीय दर्शन के सम्प्रदायों को साधारण रूप से दो भागों में बाँटा जा सकता है। पहले को अनुभवात्मक अथवा भावात्मक कहा जा सकता है क्योंकि उसमें सत्य का स्वरूप सामान्य अनुभव की सीमाओं से बँधा होता है। दूसरे के अनुसार यह माना जाता है कि सत का साम्राज्य किसी प्रकार भी इस साधारण अनुभव के अन्दर

नहीं होता और अनुभवातीत ज्ञान की उपलब्धि के लिए एक अलौकिक प्रमाण स्वीकार किया जाता है। दूसरा वर्ग भी दो उपवर्गों में विभाज्य है--एक का तो मत यह है कि अनुभवातीत ज्ञान के लिए अन्ततः व्यक्ति का अन्तर्ज्ञान ही समर्थ है, दूसरा एतदर्थ श्रुति की सहायता की अपेक्षा करता है। यदि हम ऊपर दी हुई श्रुति की व्याख्या को ध्यान में रक्खें तो इन दोनों को 'प्रातिभात्मक' कहा जा सकता है। दोनों ही समान रूप से यह मानते हैं कि परम दार्शनिक सत्य का अनुभव न तो असंदिग्ध रूप से स्वीकृत मान्यताओं अथवा वक्तव्यों से होता है और न केवल साधारण अनुभव के आधार पर उसके तर्क सम्मत स्वरूप को खड़ा किया जा सकता है। उसका तो प्रत्यक्ष दर्शन ही होता है।

साधारणतया दार्शनिक सम्प्रदायों की संख्या छह मानी जाती है। इनके नाम ये हैं—न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा अर्थात् वेदान्त। प्रायः इनको दो-दो के वर्गों में यथा-क्रम बांट दिया जाता है क्योंकि वे परस्पर आश्रित हैं। इनका विवेचन करते समय हम इसी वर्गीकरण का अनुसरण करेंगे। कम से कम कुछ लोगों के अनुसार अंतिम दो सम्प्रदायों के सैद्धान्तिक स्वरूपों में इतना अधिक साम्य नहीं है अतएव हम उनको अलग-अलग लेंगे। साक्षात वेद ही इन सब दार्शनिक सम्प्रदायों के आधार हैं। अपने वर्तमान स्वरूप में शेष दूसरे चारों मत भी वेदों को आप्त मानते हैं यद्यपि यह अवश्य है कि वे उनकी अपनी व्याख्या करते हैं किन्तु यह सन्देहास्पद है कि वे अपने इतिहास के प्रारम्भ से वैदिक थे अथवा नहीं। उनके इस बाद वाले लक्षण को ध्यान में रखकर उनको भी आस्तिक दर्शन कहा जाता है। इन दार्शनिक सम्प्रदायों में हमें देहात्मवाद (जो स्वभाववाद के बाद का स्वरूप है) जैन मत और बौद्ध मत इन तीन मतों को और जोड़ना पड़ेगा। ये नास्तिक सम्प्रदाय हैं और इन्होंने स्पष्टतया वेदों को प्रमाण स्वरूप मानने से इन्कार किया

है। सर्वप्रथम हम इन्हीं पर "अवैदिक सम्प्रदाय" नामक परिच्छेद में संक्षेप से विचार करेंगे। इनको लेने के पूर्व देहात्मवाद के अतिरिक्त वैदिक तथा अवैदिक इन सब मतों में जो दो समान लक्षण हैं उनका निर्देश करना अधिक उपयोगी होगा।

(१) कर्म सिद्धान्त में विश्वास:—भारतवासियों के जीवन पर बहुत समय से इस विश्वास का व्यापक प्रभाव पड़ता आया है। इसके दो स्वरूप हैं और हमें स्पष्ट रूप से उनका अन्तर समझना चाहिए प्रथमतः कार्यकारण के सिद्धान्त का विस्तार मानवी आचार विचार के क्षेत्र तक फैला दिया गया है। इस प्रकार इसकी शिक्षा यह है कि जिस प्रकार भौतिक जगत की प्रत्येक घटना पूर्ववर्ती कारणों से नियत होती है उसी प्रकार नैतिक जगत में भी जो कुछ होता है वह पूर्व-विहित रहता है। इस प्रकार यदि मनुष्य जो भी करता है वह पूर्व-विहित ही है तो यह प्रश्न उठ सकता है कि क्या यह सिद्धान्त नियतिवादी नहीं हो गया और इस प्रकार मनुष्य के लिए स्वतंत्रतापूर्वक कार्य करने का कोई स्थान ही न रहा। इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए यहाँ "स्वतंत्र" शब्द का ठीक-ठीक अर्थ क्या है इसे समझना पड़ेगा। मनुष्य जो कुछ करता है उसमें यदि वह बाह्य शक्तियों से नियंत्रित रहता है तो उसे स्वतंत्र कभी नहीं कहा जा सकता परन्तु इस कारण स्वतंत्रता का अर्थ यह नहीं लगाया जा सकता कि वह स्वतः निश्चय करने का पूर्ण अभाव या उच्छृंखलता मात्र हो। चिर परिवर्तित उद्देश्य से यदृच्छया कार्य करते रहना बहुत से हीनयोनिक पशुओं की भांति प्रवृत्ति मात्र से कार्यरत होने के अतिरिक्त और क्या है? अस्तु असंयमित स्वच्छन्दता का नाम ही स्वतंत्रता नहीं है। इस कारण जब यह पूछा जाता है कि क्या कर्म सिद्धान्त सम्बन्धी प्रतीति का अन्त नियतिवाद में नहीं होता तो उसका यही अर्थ होता है कि वह स्वतः निश्चित करके कार्य करने के सिद्धान्त के विपरीत है अथवा नहीं।

यह तो स्पष्ट है कि वह इसके विपरीत नहीं है क्योंकि इसके अनुसार अंत में कार्य को करने वाला व्यक्ति विशेष ही उस कर्म का असली कारण ठहराया जाता है। एक ही जीवन की संकीर्ण सीमाओं में इन सब कारणों को नहीं पाया जा सकता इसी कारण संसार अथवा क्रम से आने वाले जन्म जन्मान्तरों में जीवात्मा के लगातार चलने वाले अस्तित्व के सिद्धान्त को मान लिया गया है। इस प्रकार कर्म सिद्धान्त के स्वीकार करने पर आवागमन का सिद्धान्त तो आवश्यक रूप से अनायास सिद्ध होने वाला उप-सिद्धान्त हो जाता है। जैसा कि पाश्चात्य दर्शन के विद्यार्थियों को पता होगा कि कान्ट के अनुसार हमें नैतिकता का आभास रहना ही हमारी अपनी अमरता का प्रमाण है। इसी प्रकार कर्म का सिद्धान्त आवागमन की सत्यता मेंविश्वास उत्पन्न करता है। यदि अब हम जीवन को इस नवीन दृष्टिकोण से देखें तो पता चलेगा कि मनुष्य विशेष के वर्तमान जीवन के आचार-विचार और इससे होने वाले पाप-पुण्य उसके द्वारा किसी न किसी पूर्व जन्म में किए गये कर्मों के कारण ही होते हैं। इस प्रकार जैसा कि एक अत्यन्त प्रामाणिक ग्रन्थ में कहा भी गया है, नियति पूर्व जन्मों में किए हुए कर्मों का ही दूसरा नाम है। मनुष्य के कामों को नियोजित करने वाली भाग्य जैसी कोई वाह्य वस्तु नहीं है। अतएव जिस प्रकार की स्वतंत्रता का उल्लेख ऊपर किया गया है मनुष्य को उसी अर्थ में स्वतंत्र कहा जाता है और इसी कारण यह मत हमें नियतिवाद की ओर नहीं ले जाता।

यहाँ यह प्रश्न अवश्य पूछा जा सकता है कि मनुष्य जो कुछ करता है उसका उत्तरदायित्व उस पर कब से पड़ने लगा? परन्तु वस्तुतः इस प्रकार के प्रश्न की कोई गुंजायश नहीं है क्योंकि इस प्रश्न में इस बात को तो मान कर ही चला गया है कि एक ऐसा भी समय था जब आत्मा में किसी प्रकार का स्वाभाव न था। आत्मा विषयक यह

मत निरा सैद्धान्तिक ही है और इस कारण निरर्थक सा ही है। केवल स्वभाव मात्र का होना किसी विशेष बात का निरूपण नहीं करता। साधारणतया जिस अर्थ में आत्मा को हम जानते हैं उसका मतलब सदा एक विशिष्ट स्वभाव समूह से संयुक्त आत्मा से रहता है। भारतीय समीक्षाओं में कर्म को अनादि कह कर इसी तथ्य को लक्षित किया गया है। इसका अर्थ यह है कि हम व्यक्ति के जीवन के चाहे कितने ही पीछे के इतिहास को क्यों न खोज डालें हम उस अवस्था तक कभी न पहुँच सकेंगे जब उसमें स्वभाव का पूर्ण निषेध रहा हो। इस प्रकार प्रत्येक अवस्थाओं में स्वतः निश्चित करके कर्म करने की स्वतंत्रता रहती है और कर्म सिद्धान्त का मतलब किसी अर्थ में भी यह नहीं होता कि मनुष्य के ऊपर किसी वाह्य नियन्त्रण को लादा गया हो। भिन्न-भिन्न मनुष्यों की दशाओं में रहने वाली विषमता और मानव जीवन के उतार-चढ़ाव का क्या कारण है इसको समझाने के लिए कर्म सिद्धान्त इतना उपयुक्त और समर्थ है कि उसमें कुछ लोगों का बड़ा गहरा विश्वास हो जाता है। यह विश्वास इतना गहरा होता है कि वे जगत में कर्ता और नियामक रूप से कर्मों पर विचार कर फल देने वाले ईश्वर के अस्तित्त्व को मानने की, जैसा कि हम बाद में कहेंगे, कोई आवश्यकता नहीं समझते।

माना कि इस समय हम पर जो भी बीतता है अंत में केवल हम ही उसके उत्तरदायी ठहराये जाते हैं किन्तु तब भी यह कहा जाता है कि हम भी तो किसी प्रकार से अपनी सहायता करने में समर्थ नहीं हैं, क्योंकि हम अपने पूर्व जन्म के कर्मों की गति में कोई परिवर्तन नहीं कर सकते और इन कर्मों के परिणाम स्वरूप ही ये घटनाएँ घटित होती रहतीं हैं। अतः हो सकता है कि यह कोई वाह्य नियंत्रण न हो किन्तु है यह नियंत्रण ही और इसलिए कर्म करने में पूर्ण स्वतंत्रता नहीं है। इस आक्षेप का निराकरण करने के लिए

हमें यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि कर्मफल को, जिसका उल्लेख हम कर चुके हैं, कर्म सिद्धान्त का आधारभूत सिद्धान्त माना गया है। हम जो कुछ जानकर करते हैं उसके अनुसार हमें आज या कल अवश्य ही फल मिलेगा। उससे बचने का कोई मार्ग नहीं है। जैसी करनी वैसी भरनी, अर्थात् कर्म सिद्धान्त का अर्थ इतना ही नहीं है कि केवल हमारे जीवन की घटनाएँ ही पूर्ववर्ती कारण से नियत होती हैं बल्कि फलरूप में जो भी सुख या दुःख हमें जीवन में मिलते हैं उनमें भी पूर्ण औचित्य रहता है। हमने पहले इस सिद्धान्त के दूसरे स्वरूप के विषय में जो उल्लेख किया था वह यही है। इसके अनुसार कर्म सिद्धान्त व्यवस्थाहीन और यन्त्रवत् निरपेक्ष नियम नहीं है। वह तो तत्वतः नैतिक है। इस विश्वास से कि जीवन में वस्तुतः कोई दुर्नीति नहीं है यह बात बहुत अच्छी तरह समझ में आ जाती है कि भारत में जनसाधारण में दुर्भाग्य के आने पर उस कटुता का अभाव होता है। जो दुःख और वेदना के उपस्थित होने पर प्रायः हो जाया करती है। वे इसके लिए न तो ईश्वर को दोषी ठहराते हैं और न अपने पड़ोसी को। सारा दोष वे अपने ऊपर ही मढ़ लेते हैं। कर्म सिद्धान्त के प्रति श्रद्धा रखने के जो बहुत से परिणाम हुए वास्तव में उनमें सबसे उपयोगी यही सिद्ध हुआ कि भारतवासियों की इस प्रकार सोचने की प्रवृत्ति पड़ गई। भारत-भ्रमण के समय डायसेन महोदय को एक अन्धा व्यक्ति मिला जिसके विषय में उन्होंने इस प्रकार लिखा है—"मुझे ज्ञात नहीं था कि वह जन्मान्ध है अतएव सहानुभूति दिखाते हुए मैंने उससे कहा कि भाई किस दुर्घटना से तुम्हारी आँखों की ज्योति जाती रही। तत्काल ही उसका उत्तर उसकी जिह्वा पर तैय्यार था। उसमें कटुता का तो नामो निशान न था। वह बोला "पूर्व-जन्म में किए हुए किसी पाप के कारण।"

कर्म-फल विषयक इस मत से यही तात्पर्य निकलता है कि कर्म सिद्धान्त की जड़ इस मत में जमी हुई है कि विश्व नैतिक व्यवस्था

से परिचालित होता रहता है। अतः वस्तुतः सदाचार पूर्ण जीवन व्यतीत करना मनुष्य का विहित धर्म हो गया है। यह इस सत्य की ओर संकेत करता है कि मनुष्य के जीवन का आदर्श एक है और विचारशील और आत्म चेतन (self conscious) प्राणी होने के नाते उसका यह सर्व प्रथम कर्तव्य है कि वह प्रयत्नतः उसका अनुसरण करे। दूसरे शब्दों में नैतिक उन्नति की सम्भावना को मानकर ही यह सिद्धान्त आगे चला है। और जिस पुण्य और पाप के विषय में कहा गया है वह स्वयं अपने से साध्य न होकर इस उन्नति को प्राप्त करने का साधन मात्र है। इस प्रकार वे केवल कर्म-फल तक ही सीमित नहीं हैं वरन् मनुष्य को सदाचार सम्बन्धी ज्ञान देने के लिए नैसर्गिक परिणामों के रूप में संयम का विधान भी करते हैं। अस्तु, इससे यही निर्णय निकाला जा सकता है कि कर्म करने के दो वैकल्पिक मार्गों में से किसी एक को चुनने की स्वतंत्रता कर्म सिद्धान्त के अनुरूप ही नहीं है वरन् वास्तव में उसका विधान किया गया है। यदि मनुष्य केवल अपनी जन्मजात प्रवृत्तियों का ही प्राणी होता और उनसे ऊपर उठने में पूर्णतः असमर्थ होता तो बेचारे को यह जानकर शायद ही कोई सुख होता। कि वह नियति की किसी विजातीय शक्ति के चंगुल में नहीं है

इसका यह मतलब नहीं कि वह अपने पूर्वजन्म के फलों से बच सकता है। उस दृष्टि से तो उसके जीवन की यही विशेषता है कि फल की अनिवार्यता ने उसके जीवन को बुरी तरह जकड़ रक्खा है और सुखद अनुभवों की भांति ही उसे दुःखद अनुभवों को भी स्वीकार करना पड़ता है। वे तो पूरे नियतिविपाक हैं और उनसे वह अपने को कदापि नहीं बचा सकता। महाभारत में कहा गया है कि मनुष्य के कर्मों का फल बाद में उसे निश्चय ही ढूँढ़ लेगा "जैसे कि गायों के झुण्ड में से बछड़ा अपनी माँ को ढूँढ़ ही लेता है।" अब तक तो कर्म अनिवार्यता के अर्थ में आया है किन्तु जैसा कहा जा चुका है वह स्वतंत्रता के अर्थ में भी आया है। इस प्रकार स्वतंत्रता और

अनिवार्यता दोनों का ही कर्म-सिद्धान्त के अर्थ में उल्लेख होने से कोई विरोध उत्पन्न नहीं होता क्योंकि वे कर्म के विभिन्न स्वरूपों का उल्लेख करते हैं। जो कर्म हम करते हैं उनमें से प्रत्येक कर्म का द्विविध परिणाम होता है। कृत कर्मों की प्रकृति के अनुसार उनसे केवल सुख अथवा दुःख रूप में प्रत्यक्ष कहलाने वाले फल ही नहीं उत्पन्न होते अपितु वे भविष्य में वैसे ही कर्मों के करने के संस्कार भी हमारे मन पर छोड़ जाते हैं। कर्म सिद्धान्त में निहित अनिवार्यता वहीं तक है जहां तक उसका सम्बन्ध पहले वाले फल—सुख और दुःख से है। जहाँ तक दूसरे फल—अर्थात् संस्कारों का सम्बन्ध है वे पूर्णतया हमारे नियन्त्रण में हैं। जिस समय संस्कार कार्य रूप में अपने को अभिव्यक्त करने लगते हैं उस समय हम कितनी सफलता से उनका नियमन और निर्देश करते हैं इसी पर हमारी नैतिक प्रगति पूर्णतः निर्भर करती है। कर्म का यह द्विविध महत्त्व न तो जीवन के हितों को दो भिन्न शाखाओं में विभाजित कर देता है और न उसके उद्देश्यों में संघर्ष उत्पन्न कर देता है क्योंकि सारे कर्मों का एक मात्र लक्ष्य नैतिक उत्कर्ष है। हम हाल में ही देखेंगे कि गीता की भी यही स्पष्ट शिक्षा है। इस प्रकार आचार विचार को अधिक श्रेष्ठ बनाना ही जीवन की सम्पूर्ण साधना का लक्ष्य मान कर मनुष्य वर्तमान जीवन में पूर्वजन्म के कर्मों के अनिवार्य फल के रूप में घटित होने वाली घटनाओं के प्रति उदासीन हो सकता है।

(२) मोक्ष का आदर्श :—दूसरा महत्त्वपूर्ण विषय जिस पर कि विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदाय एक मत हैं यह है कि वे सब मोक्ष (पूर्वजन्मों के चक्कर से मुक्ति पाने) को जीवन का परम पुरुषार्थ मानते हैं। भारतीयों के अनुसार सामान्यतः चार पुरुषार्थ हैं—अर्थ, काम, धर्म और मोक्ष। इनमें से प्रथम दो का अर्थ तो क्रमशः "धन" और "सुख" है। ये दोनों पूर्णतया सांसारिक पुरुषार्थ हैं।

इसके विपरीत अन्य दोनों जिनका सामान्य अर्थ बताया जा चुका है आध्यात्मिक कहे जा सकते हैं। वैसे दर्शन का सम्बन्ध तो केवल बाद वाले दोनों पुरुषार्थों से ही है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि अन्य दोनों को कोई स्थान ही न दिया गया हो। माना उनको भी गया है किन्तु उसी हद तक जहां तक वे धर्म अथवा मोक्ष के सहायक सिद्ध हों अथवा उनकी प्राप्ति के साधन रूप में हों। इस पसन्द को जो महत्त्व दिया गया है उसके कारण ही भारत में यह माना जाता हैं कि दर्शन का मुख्य विषय निःसन्देह इन पुरुषार्थों की समालोचना करना ही है। वास्तव में इसका चरम लक्ष्य तो यह निश्चित करना है कि परम पुरुषार्थ क्या है और यह बताना है कि उसका साक्षात् किस प्रकार हो सकता है। ऐसा मालूम पड़ता है कि पहले तो दोनों आध्यात्मिक पुरुषार्थों में से केवल धर्म को ही स्वीकार किया गया था। उदाहरणतया ब्राह्मणों की मूलतः कर्मकाण्ड प्रधान शिक्षाओं से यही निर्णय निकलता है। प्राचीन ग्रन्थों में अभी तक कुछ ऐसे स्थल मिलते हैं जिनसे प्रकट होता है कि उस समय तक इस मत को कि मोक्ष ही जीवन का परम आदर्श है सबों ने स्वीकार नहीं किया था। परन्तु बहुत पहले ही इस सिद्धान्त को त्याग दिया गया और इसके स्थान पर सब मतों में मोक्ष को ही परम पुरुषार्थ के रूप में ग्रहण किया जाने लगा। इस कारण अब सब मत मोक्ष-परक हैं। धीरे-धीरे मोक्ष को जो प्रधानता मिलती गई उसका यह अर्थ नहीं कि धर्म के आदर्श को त्याग दिया गया। उसको केवल गौण माना जाने लगा और उसमें आचार सम्बन्धी जिन संयमों का समावेश है वे उपनिषदों की शिक्षा की भांति ही मोक्ष सिद्धि के आवश्यक साधक माने जाने लगे।

विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों में मोक्ष के स्वरूप के विषय में बड़ा मतभेद है। सामान्यतया इसका निरूपण करते समय यही कहा जा सकता है कि यह आत्मपूर्णता प्राप्त करना ही है। सम्प्रति इसके विषय

में केवल एक बात का उल्लेख कर देना ही काफी होगा। यह तो कहा ही जा चुका है कि कुछ भारतीय विचारक कहते हैं कि मोक्ष इस जीवन की समाप्ति के पश्चात् ही प्राप्त है किन्तु दूसरे यह कहते हैं कि उसे इसी जीवन में (जीवनमुक्ति) प्राप्त किया जा सकता है। दार्शनिक सम्प्रदायों के युग में भी यह अन्तर चला आया है। चाहे वह यहां प्राप्य हो या न हो मोक्ष के इस आदर्श को सब ही दार्शनिक सम्प्रदायों में वस्तुतः प्राप्य माना गया है। यह कहा जा सकता है कि आत्म-पूर्णता जैसा लक्ष्य कभी भी यथार्थतः प्राप्त नहीं है वरन इसका महत्त्व तो इतना ही है कि हमारे सम्मुख एक ऐसा आदर्श रहता है, जिसे इच्छानुसार चुनकर जिसके लिए हम लगकर जीवन पर्यन्त साधना कर सकते हैं। एक आधुनिक विचारक लिखता है—"परम पुरुषार्थ यथार्थता के क्षेत्र का विषय नहीं है, वह तो हमारे आचार-विचार का नियमन करने वाला आदर्श मात्र है।" भारतीय दार्शनिकों का मत तो यही है कि हम मोक्ष निःसन्देह प्राप्त कर सकते हैं क्योंकि "चाहिए" का अर्थ "कर सकना" होता है। नास्तिकों को लेकर ये सब सम्प्रदाय यही मानते हैं कि संसार का कलुष अपने साथ ही उसके विनाश का बीज भी लिए रहता है और पुण्य आज या कल कभी तो उसको अभिभूत करके उसका स्थान ले ही लेगा। दूसरे शब्दों में कोई भी भारतीय दार्शनिक सम्प्रदाय नैराश्यवाद का प्रतिपादन नहीं करता। यह सामान्य धारणा कि ये सब अधिकांशतः "दुख की गाथाएँ" ही हैं पूर्णतया गलत है। संस्कृत भाषा में भारतीयों के इस विश्वास के कि संसार परमार्थतः शिव रूप और तर्क मूलक है एक से अधिक ज्वलंत लक्षण मिल जायेंगे। मैक्स मिलर ने बहुत पहले ही पता लगाया था कि संस्कृत शब्द सत् का अर्थ केवल "सत्य" ही नहीं होता अपितु "शिव" भी होता है। उसी प्रकार हम कह सकते हैं कि भव्य शब्द का अर्थ यह नहीं है कि "जो कुछ भविष्य में होगा" वरन् "कल्याणकारी।" भी है इसका तात्पर्य यही है कि परम श्रेय होना अभी बाकी ही है। व्यावहा-

रिक पक्ष के इस मत के अनुरूप ही सैद्धान्तिक पक्ष का मत है कि अज्ञान अथवा भ्रम अन्त में सत्य के द्वारा अभिभूत हो जायगा और सत्य उसका स्थान ले लेगा। जैसा कि बुद्ध मत के एक प्राचीन श्लोक में कहा गया है—"मनुष्यों में स्वभावतः इस ओर पक्षपात रहता है।" यदि कलुष अथवा भ्रम ही परम तथ्य होता तो संसार भी तर्क संगत व्यवस्था से हीन होता।

मोक्ष को और नैतिक संयम को जो कि उसकी साधना का एक आवश्यक बहिरंग है छोड़कर दूसरे विषय को लेने के पूर्व जीवन के दोनों मार्गों का उल्लेख कर देना आवश्यक है। इसके विषय में पहले कहा जा चुका है। इनमें से एक है प्रवृत्ति मार्ग और दूसरा निवृत्ति मार्ग सम्भवतः आरम्भ में इनमें से प्रत्येक को एक दूसरे से व्यावृत्त रूप में लिया गया था। किन्तु जैसा कि हम देख चुके हैं वैदिक काल की समाप्ति के पूर्व ही यह माना जाने लगा कि आत्म संयम की एक निश्चित अवस्था को प्राप्त करने के पश्चात् एक मार्ग को छोड़ कर दूसरे का ग्रहण करना सम्भव है। अवैदिक मतों में भी बहुत कुछ ऐसी ही प्रथा चालू हो गई और वह उनमें अब भी प्रचलित है।

जहाँ तक आस्तिक सम्प्रदायों का सम्बन्ध है इन दोनों मार्गों के पारस्परिक सम्बन्ध-विषयक मत में तब से महान परिवर्तन हो गये हैं। निवृत्ति मार्ग के तात्त्विक सिद्धान्तों का समन्वय करके प्रवृत्ति मार्ग का स्वरूप बदल दिया गया है। यह सत्य है कि प्रवृत्ति मार्ग में उसके प्रारम्भिक स्वरूप में भी स्वाभाविक प्रवृत्तियों को रोकने के लिये बहुत से निग्रहों को स्वीकार किया गया था और इस प्रकार उसमें समुचित रूप से आत्म-निग्रह की आवश्यकता का उल्लेख है। किन्तु यह निग्रह था आंशिक ही, क्योंकि उस मार्ग के अनुयायी के लिये अपने व्यक्तिगत सुख के साधन जुटाने पर कोई रोक नहीं लगाई गई थी। हाँ इतना आवश्यक था कि यह सब बिना असत्कर्मों का आश्रय लिये ही किया जाय। प्रवृत्ति

की बाद की भावना में स्वार्थ का पूर्ण बहिष्कार कर दिया गया है। इसका उद्देश्य व्यक्ति के स्वार्थ को समाज अथवा किसी दूसरी वृहत्तर इकाई के, जिसका कि वह अंग हो, आधीन करना ही न होकर उसका पूर्ण निषेध करना है। तदनुसार सन्यास की भांति प्रवृत्ति मार्ग में भी आत्म-त्याग पर उतना ही जोर डाला जाने लगा। "न्यायोचित स्वानुराग" अथवा "प्रबुद्ध स्वार्थपरता" कहलाने वाली दोनों ही विशेषताओं के प्रति दोनों मार्ग समान रूप से उदासीनता प्रकट करते हैं। परन्तु इससे सामाजिक कर्त्तव्यों में प्रवृत्त होने की आवश्यकता पर जो जोर दिया गया है उसमें जरा भी कमी नहीं आ पाई है। फलस्वरूप सक्रिय सामाजिक जीवन किसी स्तर पर त्याज्य नहीं ठहराया गया है। इसका अनुसरण अन्त तक करना अवश्य चाहिये परन्तु पूर्ण अनासक्ति की भावना के साथ। इस भांति नवीन प्रकार का यह संयम सन्यास और क्रियाशीलता के समन्वय के द्वारा दोनों को ही ऊंचा उठा देता है। इसके परिणामस्वरूप सन्यास आत्म-निषेध मात्र ही नहीं रहता बल्कि उससे कहीं अधिक व्यापक हो जाता है और हमारे कर्म समस्त अहं भावनाओं से मुक्त हो जाते हैं। इस महत्त्वपूर्ण परिवर्तन के लिये हम गीता के उपदेशों के चिर ऋणी हैं। चाहे गीता को इस नवीन मत का परिवर्तक न माना जाय तो भी उसमें इसके निरूपण को इतने सुन्दर और विधिवत ढंग से उपस्थित किया गया है कि उसका व्यापक और स्थायी प्रचलन हो गया है। अब हम जरा विस्तार के साथ इस बात का वर्णन करेंगे कि इस ग्रन्थ में किस प्रकार इस उद्देश्य की प्राप्ति की गई है।

इस ग्रन्थ का पूरा नाम है भगवद्गीता। धार्मिक और दार्शनिक साहित्य में इसका महत्त्व उपनिषदों के बाद ही है। अठारह सर्गों का यह काव्य महाभारत में उस जगह अलग से जोड़ दिया गया मालूम पड़ता है जहाँ कौरवों और पाण्डवों की विरोधी सेनाओं का उस समय का वर्णन किया गया है जब वे युद्ध स्थल में एक दूसरे के सम्मुख डटी थीं।

सब बातों के लेने पर अर्जुन को जो पांचों पाडवों में सबसे अधिक योग्य और प्रसिद्ध थे सहसा निराशा अभिभूत कर लेती है और वे युद्ध करने से इन्कार कर देते हैं। उनके मन में यही विचार जोरों से चक्कर काट रहा है कि उन्हें अपने बन्धु-बान्धवों का बध न करना चाहिये और युद्ध से परांग-मुख हो जाना चाहिये चाहे इस परिवर्तन का परिणाम कुछ भी क्यों न हो। युद्ध में अपने भाइयों के साथ वे विजय प्राप्त कर लेंगे इसका उन्हें कोई विश्वास नहीं हो पाता। वे सोचते हैं कि इस प्रकार जो राज्य प्राप्त होगा वह प्रायः उन सब बातों से रहित होगा जिसकी उन्हें अभिलाषा थी। इस घोर निराशा में वे संयासी बनना ही श्रेयस्क समझने लगते हैं। तब श्रीकृष्ण ने जिन्होंने उनके रथ हांकने का भार लिया था उनको युद्ध प्रारम्भ करने का उपदेश दिया क्योंकि क्षत्रिय (राजपुत्र) होने के नाते यह उनका कर्तव्य था। ऐसा विश्वास किया जाता है कि इस काव्य में इसी उपदेश का समावेश किया गया है।

जब हम इसकी शिक्षा को विस्तार के साथ लेते हैं तो हमें मालूम पड़ता है कि वह बहुत ही अस्पष्ट और जटिल है। इसका कारण यह है कि वह महाभारत का अंग है और इस महा काव्य का स्वरूप जैसा कहा चुका है विषमताओं से पूर्ण है अतः गीता भी इस दोष की भागी है। हम प्रसंग वश इसके एक स्वरूप का उल्लेख कर चुके है कि कहीं-कहीं तो वह उपनिषदों पर आश्रित होते हुए भी "भागवत धर्म" के ढंग का है। ये जटिलतायें चाहे कैसी भी हो किन्तु इसकी व्यावहारिक शिक्षा के मुख्य उद्देश्य के विषय में तो जरा भी सन्देह नहीं है। इस उपदेश के यथार्थ अभिप्राय को समझने के लिये हमें अर्जुन की तत्कालीन मानसिक अवस्था के दो भिन्न स्वरूपों पर विशेष रूप से ध्यान देना चाहिये। पहला तो यह कि वे भूल जाते हैं कि वे एक क्षत्रिय वीर हैं और समय पड़ने पर युद्ध करना उनका धर्म है। संसार से दूर भाग जाने की उनकी इच्छा सन्यास के आदर्श के ही

अधिक अनुरूप है। जैसा कि हम कह आये हैं सन्यास उन लोगों के लिये है जो आध्यात्मिक उन्नति की एक निश्चित अवस्था तक पहुँचने में सफल हो चुके हैं और अर्जुन उस श्रेणी में नहीं आते। दूसरा स्वरूप यह है कि वे सोचते हैं कि यदि पूर्णतया नहीं तो कम से कम युद्ध उनके और उनके प्रिय जनों के लाभ के उद्देश्य से ही लड़ा जा रहा है। दूसरे शब्दों में संसार का त्याग करने की इच्छा के कारण वे भले ही बड़े निःस्वार्थ मालूम पड़ें किन्तु उनकी इस धारणा का आधार यथार्थतः स्वार्थपरता ही है। श्रीकृष्ण उन्हें उनकी ये भ्रान्त धारणाएँ सुझा देते हैं और उनके हृदय में यह विश्वास जमाने में सफल होते हैं कि जिस उद्देश्य से वे रणक्षेत्र में आये हैं उसे पूरा करना क्यों आवश्यक है। फलस्वरूप अर्जुन एक बार फिर शत्रुओं से लड़ने का निश्चय करते हैं और इसका परिणाम यह होता है कि उनके पक्ष की, जो धर्म-पक्ष है, विजय होती है।

इस प्रकरण से इतना तो स्पष्ट ही हो गया है कि गीता में सामाजिक कर्त्तव्यों की आवश्यकता पर बहुत जोर दिया गया है। इन कर्त्तव्यों के महत्त्व के विषय में हम पहले ही कह आये हैं। श्रीकृष्ण ने इस बात पर ज़ोर देते समय इसको बिलकुल नया स्वरूप दे डाला और इसी कारण इस शिक्षा को इतना महत्त्व दिया जाने लगा। जैसा कि पहले कहा जा चुका है मूलतः यह माना जाता था कि ये सामाजिक कर्तव्य केवल समष्टि रूप में लिए गये समाज के सर्वनिष्ठ हितों की ही वृद्धि नहीं करते अपितु प्रत्येक व्यक्ति के हितों की भी। इसके विपरीत गीता में इस बात पर जोर डाला गया है कि इन कर्तव्यों को उनसे होने वाले लाभों का बिना कोई विचार किये ही करना चाहिए। इसका यह मतलब हुआ कि कर्तव्य की भावना उसके परिणामों (फलों) से (जिस अर्थ में उन्हें सामान्यतया लिया जाता है) पूर्णतया पृथक कर दी गई है। बिना किसी मनोवैज्ञानिक औचित्य के ही इसको यह नवीन स्वरूप नहीं दिया

गया है। धर्म-सूत्रों जैसी प्राचीन संहिताओं में समाज और व्यक्ति के हितों के जिस पारस्परिक सम्बन्ध की कल्पना की गई है यथार्थ में वह असम्भव है। जब तक एक ही प्रकार की आचार-प्रणाली दोनों का हित साधन करती रहती है तब तक भले ही इस सिद्धान्त को ग्रहण करने में अधिक कठिनाई न पड़े और इस कारण उनमें पारस्परिक साम्य स्थापित करना सहज साध्य प्रतीत हो, किन्तु जब उन दोनों हितों में संघर्ष उपस्थित हो जाता है तब उनके विरोधी फलों को एक दूसरे के अनुकूल बनाना असम्भव हो जाता है। इस संघर्ष से बचने के लिए ही गीता में पूर्णतया निःस्वार्थ (निष्काम) होकर कर्म करने का उपदेश दिया गया है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि सब प्रकार की स्वार्थ भावनाओं को त्याग कर केवल समाज के, जिसका वह सदस्य है, हित चिन्तन से मनुष्य इस संघर्ष से बच सकता है। किन्तु यदि कोई जानकर इस ढंग से समाज के शुभचिंतक के जीवन का अनुकरण करना प्रारम्भ कर देता है तो परिणाम स्वरूप उसमें अपने को कुछ अधिक महत्त्वपूर्ण समझने की भावना का उदय हो जाने की बड़ी सम्भावना हो जाती है। यह भावना आध्यात्मिक उन्नति के लिए बड़ी हानिकारक है। अस्तु, यह शिक्षा दी गई है कि दोनों ही पक्षों का त्याग करना चाहिए।

यदि इस प्रकार कर्म की भावना उसके फल (परिणामों) की भावना से पृथक् कर दी जाय तो सम्भवतः ऐसा प्रतीत हो कि जीवन के किसी विशेष प्रसंग में कर्म में क्या क्या निहित है इसका निश्चय करने का कोई साधन ही न रहेगा। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि गीता हमें यह तो बतलाती है कि हमें कर्म किस प्रकार करना चाहिए किन्तु कौन से कर्म करने चाहिए इसका सुझाव रखने में वह पूर्णतया असफल सिद्ध होती है। देखा जाय तो इस शिक्षा में ऐसे सुझाव का कोई आधार नहीं है क्योंकि इसके अनुसार जिन कर्त्तव्यों का पालन मनुष्य को करना पड़ता है उन्हें समाज में मनुष्य के स्थान को ध्यान में रख कर ही नियत किया जाता है। गीता में निरूपित एक दूसरा महत्व पूर्ण सिद्धान्त यह

है कि स्वधर्म धर्म से सदा श्रेष्ठ है। इस सिद्धान्त का ज्ञान हमारे समाज की निम्नतर श्रेणियों तक पहुँच गया है। उदाहरणतया कालिदास ने शाकुन्तलम् में मछुए से जिन शब्दों को कहलाया है उससे भी यही लक्षित होता है। इस सिद्धान्त का यही अभिप्राय है कि कर्मों के नैतिक गुणों को (अर्थात् हम किस उच्च उद्देश्य से कर्म करते हैं इस बात को) कर्मों में अंतर्निहित परिणामों की अपेक्षा कहीं ऊँचा स्थान दिया गया है। असल में उन्हीं उद्देश्यों को महत्त्वपूर्ण मानना चाहिए जिनसे कर्म करने की प्रेरणा मिलती है अर्थात् इस को कि वे कर्म किस प्रकार किये जाते हैं न कि इसको कि वे कर्म क्या हैं। किसी ने कहा भी है कि "ईश्वर क्रिया की अपेक्षा क्रिया विशेषण पर अधिक ध्यान देता है।" इस प्रकार श्रीकृष्ण के उपदेशों के परिणाम स्वरूप अर्जुन जिस कर्म के लिए प्रवृत्त होते हैं उसका क्षेत्र बहुत व्यापक और महान है क्योंकि वह कोई छोटा मोटा कार्य न होकर मर्यादा की शृंखलाओं को तोड़कर पतनोन्मुख होते हुए संसार को सत्य पथ पर लाना था। हम लोगों के समान साधारण मनुष्यों के कर्मों की भला उससे क्या तुलना! उदाहरणतया ऐतिहासिक दृष्टि से मूल्यांकन करने पर एक का स्थान तो बहुत महत्वपूर्ण ठहरेगा किन्तु दूसरे (साधारण मनुष्यों) के कर्मों को कोई पूछेगा भी नहीं। तब भी जहाँ तक नैतिकता का प्रश्न है उन दोनों के महत्व में ज़रा भी अन्तर नहीं पड़ता। इस प्रकार अनासक्त होकर कर्म करने को कर्मयोग कहते हैं।

यहाँ यह और कह देना आवश्यक है कि इस शिक्षा के अनुसार 'परिणाम मात्र' को ही अलग नहीं किया गया है। समाज से सम्बन्ध रखने वाले और कर्ता पर प्रभाव डालने वाले दोनों ही प्रकार के परिणामों को स्वीकार किया गया है। हाँ उनका स्वरूप बदल दिया गया है। पहले प्रकार के परिणाम तो बहुत गूढ़ हो गये हैं और दूसरे प्रकार के परि-

णामों का स्वरूप आध्यात्मिक हो गया है। गीता में "स्वधर्म" और आश्रमधर्म का पालन करने पर बहुत जोर डाला गया है, इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सामाजिक व्यवस्था को अविच्छिन्न बनाये रखने की ओर से ध्यान नहीं हटाया गया है। यह अब कृत कर्मों का उद्देश्य न रहकर उनमें अन्तर्निहित रहने वाला परिणाम बन जाता है। इसी प्रकार कर्ता का भी एक लक्ष्य होता है। उसकी आध्यात्मिक उन्नति ही वह लक्ष्य है। शाब्दिक अर्थ लेने पर निष्काम कर्म मनोवैज्ञानिक दृष्टि से असम्भव ठहरता है। जैसा शंकर ने कहा है कि नैतिकता के नाम पर उस पर चिपकते जाना जीवन को अर्थहीन भार का स्वरूप दे देना है। अस्तु, गीता की शिक्षा की भावना के अनुसार कर्म करने का भी एक उद्देश्य है। वह उद्देश्य है "हृदय की अपवित्रता दूर करना" (सत्त्व- शुद्धि) या यदि हम चाहें तो इसे 'चरित्रनिर्माण' भी कह सकते हैं। कर्म करते समय हमें उसके फल का तो कोई विचार ही न लाना चाहिए—यही गीता का उपदेश है। जो कर्म मनुष्य के हिस्से में आते हैं उनके उद्देश्य भिन्न-भिन्न होते हैं किन्तु मनुष्य को उनके स्थान पर अपनी नैतिक उन्नति को ही एकमात्र उद्देश्य बनाना चाहिये—यही गीता की उपर्युक्त शिक्षा का अर्थ है न कि यह कि कर्मों को सर्वथा प्रयोजन हीन होना चाहिये। इस प्रकार कुछ अधिक प्राचीन मत के अनुसार जिस प्रकार प्रत्येक काम्य कर्म का एक लक्ष्य माना जाता था उसी प्रकार यहां भी प्रत्येक कर्म का एक लक्ष्य है। अन्तर केवल इतना है कि यह अधिक उत्कृष्ट ढंग का है क्योंकि इसमें निकृष्ट अथवा केवल उपयोगी पुरुषार्थों की अपेक्षा को पूर्णतया बहिष्कृत कर दिया गया है और इसका एक मात्र ध्येय आत्म शुद्धि है। यह नहीं भुला देना चाहिए कि आत्म (सत्त्व) शुद्धि केवल कर्मों का निकटतम लक्ष्य है, क्योंकि इसका उद्देश्य जैसा कि हमें ज्ञात है ज्ञान के द्वारा मोक्ष-रूपी परम-लक्ष्य की सिद्धि का साधन बनना ही है। दूसरे शब्दों में कर्मयोग प्रत्यक्षतः

ज्ञानयोग अथवा सम्यक् ज्ञान की उपलब्धि का ही अधिकारी बनाता है न कि मोक्ष का।

कर्म किस प्रकार करना चाहिए इस सम्बन्ध में गीता की शिक्षा के अनुसार जो दो मार्ग बताये गये हैं अब तक हमने उनमें से केवल एक का ही उल्लेख किया है। पहला तत्वैकवाद (Absolutism) का आधार लेकर चला है। दूसरा आस्तिकवाद का अवलम्बन लेता है और उसके मतानुसार ही कर्म करने का उपदेश देता है। इसके अनुसार मनुष्य को ईश्वर की प्रयोजन सिद्धि के लिए ही कर्त्तव्य करना चाहिये। दूसरे शब्दों में इसी को विश्व धर्म में योग देना कहेंगे। पूर्वमत की भांति यहां भी मनुष्य को अपने आश्रम धर्मों का अनुष्ठान करने का विधान किया गया है। किन्तु ऐसा करने में अपनी इच्छा को बिना किसी हिचकिचाहट के ईश्वरेच्छा के पूर्णतया आधीन कर देना चाहिए। यह है सब कर्मों को (ईश्वरार्थ) ईश्वर को समर्पित कर देना। इसको ही भक्तियोग या भक्ति-मार्ग कहते हैं। इस प्रकार ईश्वरार्थ कर्म करके साधक उन फलों का त्याग कर देता है जो उससे संयुक्त रहते हैं। इस विधि से उसका हृदय शुद्ध हो जाता है। पूर्व मत से इसमें यह अन्तर है कि इसके अनुसार मोक्ष ज्ञान से नहीं मिलता वरन् ईश्वर की कृपा से प्राप्त होता है, अतएव, दोनों मतों में वस्तुतः कुछ अधिक अन्तर नहीं है। केवल इतना ही है कि पहला मत तो केवल उन थोड़े से मनुष्यों के लिए ही उपयुक्त है जिनमें ज्ञान है और जिन्होंने काफी मानसिक संयम प्राप्त कर लिया है; किन्तु अपने-अपने विशिष्ट इष्ट देवताओं में सहज विश्वास होने के कारण दूसरा मत जन-साधारण के लिए निश्चय ही कहीं अधिक आकर्षक और अनुकरणीय है।

—:o:—

तीसरा परिच्छेद

अवैदिक मत

अवैदिक माने जाने वाले तीन मतों का सविस्तार विवेचन हमारी निश्चित योजना के अंतर्गत नहीं आता। परन्तु आगामी परिच्छेदों में आस्तिक सम्प्रदायों का जो वर्णन किया जायगा उसे ठीक तरह से हृदयंगम करने के लिए उनका सामान्य ज्ञान आवश्यक है। अतएव यहां हम उनका संक्षेपतः उल्लेख भर कर देंगे।

(क) देहात्मवाद (Materialism):—

जैसा पहले ही कहा जा चुका है इसकी प्रारम्भिक अवस्था के विषय में जो बातें पता चलती हैं वे बहुत कम हैं। हां इतना तो हमें निश्चयपूर्वक पता है कि इस मत के अनुसार पदार्थ के जो लक्षण अभिव्यक्त होते रहते हैं उनका कारण वही पदार्थ माना जाता है न कि कोई वाह्य प्ररक। इस काल में इसको जो सामान्य संज्ञा (स्वभाववाद) दी गई थी उससे भी यही प्रकट होता है। इसी से इसमें इस मत का खण्डन किया गया है कि प्रकृति के पीछे कोई दिव्य अथवा अनुभवातीत शक्ति काम करती रहती है। "अग्नि उष्ण होती है, जल शीतल और वायु का स्पर्श सम होता है; स्वभाव के अतिरिक्त और कौन यह व्यवस्था कर सकता था।" अर्थात् वस्तुएँ जो मालूम होती हैं वही हैं और उनका स्वभाव स्वयं स्पष्ट कर देता है कि विश्व की विविधता और उसमें दिखाई देने वाली व्यवस्था का कारण क्या है। उत्तरकालीन देहात्मवाद अथवा चार्वाक मत जिसका हमें अब उल्लेख करना है सीधे स्वभाववाद से ही निकला है। इसको 'लोकायत' की

संज्ञा भी दी जाती है जिसका शाब्दिक अर्थ होता है साधारण अनुभव के क्षेत्र में सीमित। यह इसके भावात्मक स्वरूप की ओर संकेत करता है। साधारणतया इस मत में जो मुख्य-मुख्य सिद्धान्त संयुक्त किये जाते हैं वे निम्न हैं।'

(१) कहा जाता है कि चार्वाक केवल एक मात्र प्रत्यक्ष प्रमाण को ही स्वीकार करते हैं और केवल शब्द को ही नहीं वरन् अनुमान को भी नहीं मानते। इसका यही अर्थ है कि भारतीय देहात्मवादी इस बात को समझते थे कि तर्क के द्वारा जिन निर्णयों पर हम पहुँचते हैं उनमें परमार्थरूपेण यथार्थता का अभाव रहता है। इसका कारण यह था कि उन्हें पता था कि वे सब प्रत्यक्षतः नहीं तो परोक्षतः अवश्य ही किसी न किसी आगमनात्मक सत्य (Inductive truth) पर आश्रित रहते हैं और यह सत्य भले ही बहुत कुछ अंशों तक सम्भाव्य मालूम पड़े किन्तु यह सिद्ध करके नहीं दिखाया जा सकता कि वह निश्चित रूप से ही सत्य है। कल फिर सूर्योदय होगा यानी आज सूर्य के डूबने के बाद कल फिर सूर्य निकलेगा, हमने इस दृष्टान्त में जो सफल भविष्यवाणी की है वैसे ही अन्य भावी घटनाओं के विषय में भी की जा सकती है। ऐसा क्यों है? विचार करने पर यह समझ में आ जायगा कि ऊपर हम आगमनात्मक सत्य की जिस अत्यधिक सम्भावना का उल्लेख कर आये हैं वही इसका कारण है। अनुमानिक ज्ञान के विषय में इस प्रकार की धारणा रखने में कोई विलक्षणता नहीं है। वस्तुतः देखा जाय तो भारतीय देहात्मवादी यहाँ उसी बात को स्थापित करना चाहता है जिससे आधुनिक तर्क शास्त्र का विद्यार्थी भली भांति परिचित है अर्थात् क्या अनुमानिक ज्ञान संशयहीन, पूर्ण और सत्य है। किसी अन्य दृष्टि से अनुमान को स्वीकार करना मूर्खता ही होगी क्योंकि यह अस्वीकृति स्वयं एक ऐसा सामान्यीकृत (generalised) निर्णय होगा जिसको स्वीकार करने में अनिश्चयात्मकता की दृष्टि से हम स्वयं आपत्ति करते हैं।

(२) हमें पता है कि उपनिषदों में 'पंच भूत' के विषय में कहा गया है। देहात्मवादी इनमें से केवल चार को ही मानता है। ये चारों पृथिवी, जल, अग्नि और वायु प्रत्यक्ष भूत हैं। पांचवे आकाश को नहीं माना गया है। वह इन चारों को ही संपूर्ण विश्व के परम तत्त्व के रूप में लेता है। उनकी क्रियाशीलता ही मन के रूप से प्रकट होती है और जब वे एक विलक्षण रूप से संयोजित हो जाते हैं तो जीवधारी शरीर कहलाने लगते हैं। इस प्रकार चैतन्य विशिष्ट भौतिक शरीर ही देहात्मवादियों के लिए एक मात्र आत्मा है और इसके अतिरिक्त कोई अन्य आत्मा नहीं है। अतएव यथार्थतः यह कहना कि मनुष्य 'का' शरीर होता है गलत होगा। परन्तु सभी देहात्मवादियों ने आत्मा को पूर्णतः अस्वीकार नहीं किया। इनमें से कुछ तो ऐसे भी हुए हैं जो एक ऐसी आत्मा को स्वीकार करने को भी तैयार थे जो "ज्ञान स्वरूप" हो और जिसका विशेष लक्षण यह हो कि उसे एकाई के रूप में ग्रहण किया जा सके। उनकी शर्त बस यह थी कि उसका अस्तित्व तभी तक है जब तक इन्द्रियों का यह शरीर रूपी संघात रहता है, न कि उसके बाद तक।

(३) यह भी कहा जाता है कि चार्वाक किसी आध्यात्मिक पुरुषार्थ में विश्वास नहीं करते और केवल काम और अर्थ इन लौकिक पुरुषार्थों से संतुष्ट रहते हैं। इसलिए उन्हें इस प्रकार चित्रित किया जाता है कि वह सदाचार से हाथ धोकर "ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्" जैसे निंद्य सिद्धान्तों का उपदेश देते फिरते हैं। किन्तु यह सोचा भी नहीं जा सकता कि किसी गम्भीर विचारक ने इस प्रकार की शिक्षा का प्रचार किया होगा। देहात्मवादियों का यही आशय हो सकता है कि विश्व को धारण करने वाले ऐसे कोई उच्च पुरुषार्थ नहीं है जो अन्य पुरुषार्थों को अंत में पराजित कर देंगे। देहात्मवादी वेदों के प्रमाण का खण्डन करते हैं। वे कहते हैं कि इसके भिन्न भिन्न भागों में इतना वैषम्य

है कि उनमें किसी प्रकार साम्य स्थापित नहीं किया जा सकता और इस कारण यह पता लगाना कि वस्तुतः उनकी क्या शिक्षा है असम्भव है। वह जीवन में सुख के साथ साथ दुःख और वेदना को भी मानता है परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि शुद्ध सुख उसके मत में प्राप्य अथवा प्रापणीय है। वह यही सोचता है कि बुद्धिमानी तो यही है कि अपनी पहुँच के भीतर के सुख के अधिक से अधिक अंश को प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाय। अतएव यह कहा जा सकता है कि नैतिक पक्ष में उसका मत स्थूल सुखवाद (Hedonism) का प्रतिपादन करता है।

हमने इस मत की व्याख्या जिस रूप में की है उसके अनुसार भी यह अपने दार्शनिक महत्व से रहित नहीं है। मानवीय विचारों के इतिहास में हमें इसके सदृश कितने ही अन्य मत मिलते हैं हिन्दू, यहाँ तक कि जैन और बौद्ध दार्शनिकों ने चार्वाक मत को सदा उपर्युक्त रूप में चित्रित किया है, इसका यही अर्थ है कि बहुत समय तक इस मत को नीचे गिराया जाता रहा और उसकी अपनी विशिष्टता लुप्त हो गई। किन्तु तब भी देहात्मवाद के सर्वश्रेष्ठ सिद्धान्त में कोई ऐसा तत्व नहीं है कि उसके प्रति श्रद्धा और विश्वास उत्पन्न हो सके क्योंकि यह उत्कृष्टतर मनस्तत्व की व्याख्या के लिये निकृष्ट भूततत्व का आश्रय लेता है। भूततत्व के अस्तित्व को मान कर यह मनस्तत्व को उसका स्वभाव-व्यापार मात्र कहता है। [इस मान्यता में यह पहले से ही स्वीकार कर लिया गया है कि "मन" है ही नहीं यद्यपि उसमें भी भूततत्व के समान ही अनुभव का प्रामाण्य निहित है। भूत तत्व जिस प्रकार मन को प्रतीत होता है वस्तुतः उसके अतिरिक्त उसकी कोई भावना ही नहीं की गई है। इस प्रकार एक के अस्तित्व में विश्वास करने के परिणाम स्वरूप दूसरे में भी विश्वास उत्पन्न हो जाता है। इस सिद्धान्त का आधारभूत सत्य यह हो सकता है कि संसार की

समस्त वस्तुओं को अन्त में एक ही तत्व के अंतर्गत किया जा सकता है, किन्तु इससे इस निर्णय पर पहुँच जाना नितान्त गलत होगा कि इसका उदगम अवश्यम्भावी रूप से भौतिक ही है।]

(ख) जैनमत :—

यह अवैदिक धर्म का एक अत्यन्त प्राचीन स्वरूप है। ऐसा प्रतीत होता है कि वैष्णव मत की भांति यह भी ब्राह्मण धर्म के परिष्कृत स्वरूप का निरूपण करता है किन्तु यह निरूपण रूढ़िवाद का कहीं अधिक कम आश्रय लेता है। उदाहरणतया इसमें पशु-यज्ञों की निन्दा की गई है किन्तु वैष्णव मत की भांति इसमें किसी परम ईश्वर के प्रति विश्वास नहीं किया जाता। सम्भवतः इसका अविर्भाव उत्तरवैदिक काल में हुआ हो। "महावीर" नाम से प्रसिद्ध वर्धमान ने ईसा पूर्व छठी शताब्दी में केवल इसको पुनरुज्जीवित कर दिया था। जैन परम्परा इसे बिल्कुल स्पष्ट कर देती है। उसमें महावीर को जैन धर्म का प्रवर्तक न बता कर पुनरुज्जीवित करने वाले के रूप में निरूपित किया गया है। वस्तुतः एक के वाद एक होने वाले "तीर्थकरों" (गुरु अथवा पथ-प्रदर्शक) में क्रम से उनका २४वां स्थान माना जाता है। किसी समय तो प्राच्य विद्वान भ्रांतिवश यही मानते थे कि इन्होंने जिस सिद्धान्त का उपदेश दिया था वह बौद्धमत का ही एक सम्प्रदाय है परन्तु वास्तव में वह उससे बहुत भिन्न और काफी प्राचीन भी है।

वर्धमान का जन्म ५१० ई० पू० के लगभग उत्तरी बिहार के कुण्डग्राम नामक स्थान में एक राजवंश में हुआ था। उन्होंने बहुत लम्बी आयु पाई और वे ७२ वर्ष तक जीवित रहे। ३० वर्ष तक उन्होंने गृहस्थ जीवन का पालन किया, किन्तु उसके पश्चात् सब कुछ त्याग कर सन्यासियों का कठोर व्रत ग्रहण कर लिया। आत्म चिंतन में मग्न होकर वे भ्रमण करते हुये जीवन व्यतीत करने लगे। इसके तेरह वर्ष बाद उनको मुक्ति मिल गई। तब वे 'जिन' (आध्यात्मिक विजय

प्राप्त करने वाले) हो गये। जैन शब्द का अर्थ है "जिन के अनुयायियों का धर्म" और इस शब्द की व्युत्पत्ति जिन शब्द से हुई है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि इनको "महावीर" क्यों कहा जाने लगा। पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् कितने ही वर्षों तक उन्होंने बड़ी लगन और परिश्रम के साथ अपने सिद्धान्तों का उपदेश दिया और ४०८ ई० पू० अपना शरीर छोड़ा। यद्यपि तब से जैन मत का काफी दूर तक विस्तार हुआ तथापि बौद्ध-मत की भांति उसका प्रचार बाहर नहीं हो सका और उसका प्रभाव भारत तक ही सीमित रहा। परन्तु बौद्ध-मत से इसकी यह विशिष्टता रही कि यह अपना व्यक्तित्व आज भी अक्षुण्ण बनाये रहा है। मुख्यतया इसके अनुयायियों में पाये जानेवाले रूढ़िवाद का कारण 'प्राचीन परम्पराओं, संस्थाओं और सिद्धान्तों को सुरक्षित रखने की ओर अत्यन्त मनोयोग से ध्यान देना ही है। जैन मत के दो सम्प्रदाय हैं एक श्वेताम्बर कहलाता है और दूसरा दिगम्बर। जैसा कि इनके नाम से ही प्रकट होता है पहले वाले सम्प्रदाय के साधु-महात्मा वस्त्र धारण करते हैं—किन्तु वे वस्त्र होते पूर्णतया श्वेत है। दूसरे सम्प्रदाय के अनुयायी नग्न ही विचरण किया करते हैं। उनका विश्वास है कि ऐसा कोई भी व्यक्ति पूर्णतया मुक्ति प्राप्त करने का अधिकारी नहीं हो सकता जिसने कि किसी भी वस्तु का—यहाँ तक कि एक लंगोटी तक का भी—संग्रह कर रक्खा हो। इन दोनों सम्प्रदायों में कुछ और भी मतभेद हैं किन्तु उनका कोई वास्तविक दार्शनिक महत्व नहीं है।

१

सैद्धान्तिक दृष्टि से जैन मत का लक्षण यह है कि इसमें चेतन तत्व एवं जड़ तत्व के अस्तित्व को नित्य तथा स्वतन्त्र माना गया है। जैन मत में इनको क्रमशः जीव और अजीव कहा गया है। यहाँ चेतन तत्व से

हमारा तात्पर्य वैयक्तिक-आत्मा से है, उपनिषदों की भांति परम आत्मा से नहीं। जैसा हम आगे देखेंगे यद्यपि जैन मत में यह स्वीकार किया जाता है कि भौतिक पदार्थों की भी अपनी अपनी आत्माएँ होती हैं तब भी किसी सर्वगत विश्वात्मा अथवा ईश्वर को उस अर्थ में नहीं माना जाता है जिस अर्थ में सामान्यतया स्वीकार किया जाता है। अब हम सक्षेप में इस बात पर विचार करेंगे कि इन दोनों तत्वों की क्या भावना की गई है :—

(१) जीव :—इसकी भावना की नित्य द्रव्य के रूप में गई है और इसका परिमाण सीमित किन्तु परिवर्तनीय माना गया है। इस प्रकार यह काल विशेष के अपने लिए आयतन को भौतिक शरीर के परिमाण के अनुसार घटाने बढ़ाने में समर्थ रहता है। इस दृष्टि से जैनमत का अन्य भारतीय मतों से बड़ा महत्वपूर्ण भेद है क्योंकि इन मतों में आत्मा को या तो अणु माना गया है अथवा विभु और इसलिए उसका आकार कभी परिवर्तित नहीं होता। ज्ञान अथवा चैतन्य इसका मूलभूत तत्व है। [नाना रूपों में जो अनुभविक ज्ञान हमें प्राप्त होता है वह अजीव अथवा निर्जीव प्रकृति तत्व कृत परिच्छेदों से विशिष्ट जीव का अभिव्यक्त रूप ही है। यह उसके सांसारिक अस्तित्व भर के लिए उस पर डाला गया एक आवरण मात्र है। उदाहरणतया यहाँ नेत्रों को आत्मा की निर्विकल्प दृष्टि पर पड़े हुए पर्दों के समान माना जाता है न कि देखने का साधन। जीवन का परमलक्ष्य यह माना गया है कि इन अवच्छेदकों को पूर्णतया उच्छिन्न कर दिया जाय जिससे आत्मा अपने वास्तविक लक्षण सर्वज्ञत्व को फिर से प्राप्त और प्रकाशित कर सके।] उस समय उसको समस्त पदार्थ प्रत्यक्ष हो जाते हैं। अथवा यह कहिये कि जिस साधारण अर्थ में हम प्रत्यक्ष का प्रयोग करते हैं उस समय उस अर्थ में कोई प्रत्यक्ष ही नहीं रहता। केवल सब वस्तुओं का एक रहस्यमय अथवा

साक्षात प्रातिभज्ञान मात्र रहता है। इस पूर्ण और व्यापक ज्ञान को "केवल ज्ञान" कहते हैं।

आत्मतत्व विविध रूपों में प्रतिभासित होता है और हिन्दुओं की भाँति जैन भी आवागमन के सिद्धान्त में विश्वास करते हैं। हाँ दो बातों में महत्त्वपूर्ण अन्तर है। सामान्यतया हिन्दुओं का यह विश्वास है कि ईश्वर ही सब प्राणियों को उनके कर्मों के अनुसार अच्छे-बुरे फल देता है। इसके विपरीत जैन किसी परम ईश्वर में तो विश्वास करते नहीं अतएव वे कहते हैं कि कर्म स्वयं परिचालित होता रहता है। यह है एक उदाहरण जिसमें कर्म का सब दृष्टियों से पूर्ण लक्षण मिलता है जिसका उल्लेख हमने दूसरे परिच्छेद में किया था। जैसा हम देखेंगे कि जहां तक विश्वास का सम्बन्ध है यह कर्म सिद्धान्त विलक्षण रूप से मीमांसा के वैदिक मत से मिलता है। पुनः हिन्दू तो कर्म को अभौतिक मानते हैं किन्तु जैनों का विश्वास है कि वह भूत-तत्व (पुद्गल) के सूक्ष्म परमाणु मात्र हैं। यह भूत-तत्त्व (पुद्गल) आत्मा तक पहुँचकर उसके नैसार्गिक स्वरूप को कलुषित करने वाले अजीवों में से एक है। इस मत का भाव यह है कि आत्मा अवयवी है अथवा उसमें कर्म (पुद्गल) के परमाणुओं का प्रवेश ही असम्भव होता। आत्मा अथवा जीव जिस रूप में अविच्छिन्न होकर अनुभव करने में समर्थ होता है उसके अनुसार उसे पर और अपर अथवा उत्कृष्ट और निकृष्ट दो वर्गों में विभाजित किया जाता है। जीव जितनी ज्ञानेन्द्रियों से सम्पन्न माना जाता है उसी संख्या के अनुसार यह विभाजन किया जाता है। केवल एक मात्र स्पर्शेन्द्रिय से युक्त वृक्षादि निकृष्टतर वर्ग के उदाहरण हैं। पांच ज्ञानेन्द्रियों के अतिरिक्त मन से सम्पन्न तथा बुद्धि से काम लेने वाला मनुष्य सर्वोत्कृष्ट है।

(२) अजीव :—जैसा कि इसके नाम से सूचित होता है यह चैतन्य रहित है। इसके पांच प्रकार माने जाते हैं किन्तु यहां पुद्गल

(भूततत्व) काल और आकाश केवल इन तीन ही का उल्लेख करना काफी होगा। पुद्गल पांच प्रकार का होता है । इसकी चरम अवस्था अणु होती है । परन्तु परमाणुओं के एकत्र होने पर ही वह सामान्य अनुभव का विषय बनता है। रूप, रस, गन्ध और स्पर्श ये चार उसके गुण हैं । शब्द भी पुद्गल का गुण है । अधिक ठीक तो यही होगा कि उसे उसका परिणाम कहा जाय। हां, यह अवश्य है कि यह परिणाम केवल उसके संघात रूप में ही होता है, अणुरूप में नहीं। इसी से परमाणुओं में परस्पर कोई अन्तर नहीं होता। परन्तु एक भौतिक पदार्थ में दूसरे भौतिक पदार्थ से जो गुण भेद दिखाई देता है वह उन पदार्थों के अवभूत परमाणुओं के भिन्न-भिन्न रूप में संघात होने के फलस्वरूप ही होता है । अतएव, ये संघात ही पृथिवी, जल, अग्नि और वायु इन चार भागों में विभाज्य हैं । यह माना जाता है कि यह सब परमाणु अथवा उनके संघात आत्मा (जीव) को आश्रय देने वाले हैं । इस कारण कहा जा सकता है कि संपूर्ण विश्व जीवन के स्फुरण से स्पन्दित होता रहता है । काल अनन्त और सर्व व्यापक है और सब परिणाम उसी में होते रहते हैं। समष्टि रूप में विश्व का कोई मूल नहीं माना जाता है और न यही माना जाता है कि उसका कभी अन्त होगा यद्यपि उसमें निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। आकाश इस जगत को अतिव्याप्त करता है और काल की भांति ही वह अनन्त और सर्व व्याप्त है।

सैद्धांतिक दृष्टि से यह सब जैन मत की शिक्षाओं का मूल आधार माना जा सकता है। दूसरे मतों की भांति इस मत ने भी दार्शनिक सम्प्रदायों के काल में अच्छी उन्नति की। यहां हम ज्ञान मीमांसा और तत्व मीमांसा के प्रसंग में इसकी कुछ सामान्य विशिष्टताओं का उल्लेख करेंगे :—

(क) ज्ञान मीमांसा :—ज्ञान को यहां स्वयं प्रकाश माना गया है। इससे ज्ञान के द्वारा आत्मा अथवा जीव को केवल विषयों का ही प्रत्यक्ष

नहीं होता वरन् अपना प्रत्यक्ष भी होता है। यह ज्ञान आत्मा ही को उपलब्ध होता है परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि वह उससे पृथक् मूर्त वस्तु की भांति प्राप्य हो, वह तो आत्मा का पर्याय मात्र है और इसी अर्थ में हम यह कह सकते हैं कि उसे ज्ञान उपलब्ध होता है। यह तो हम जानते ही हैं कि यहां आत्मा को परिणामहीन तत्व माना गया है किन्तु वह अपने परिणाम को घटाने बढ़ाने में समर्थ है। अपने परिणाम को स्थिर बनाए रख कर वह रूपान्तर को भी प्राप्त हो सकती है। विषयों को प्रकाशित करने वाला ज्ञान उसका एक रूपान्तर ही है। विशेषतया ध्यान देने की बात यह है कि जिन विषयों का ज्ञान प्राप्त होता है वे ज्ञान से स्वतंत्र माने जाते हैं और उनका अस्तित्व ज्ञान से पृथक् माना जाता है। ज्ञान प्राप्त करने वाले विषयी का अस्तित्व जितना निश्चित है उतना ही निश्चित उन विषयों का अस्तित्व है जिनका ज्ञान प्राप्त होता है। यही जैन मत का कथन है। अनुभव किये जाने वाले पदार्थ के अभाव में अनुभव अर्थहीन है। इस कारण कहा जाता है कि यह मत वस्तुवाद का प्रतिपादन करता है। चेतन तत्व तथा जड़ तत्व दोनों के बहुत्व में इसका विश्वास है, अतएव, इसे बहुत्ववादी भी कह सकते हैं।

[जैन ज्ञान के दो भाग करते हैं—प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष। परन्तु अनुभव अथवा ज्ञान, आत्मा की अवस्था मात्र होने के कारण दोनों ही दशाओं में, अवश्यम्भावी-रूप से प्रत्यक्ष ही माना जाता है।] हम ज्ञान के द्वारा विषयों को किस प्रकार जान पाते हैं यह द्विविध वर्गीकरण एक मात्र इसी का निर्देश करता है। उदाहरणतया धूम्रदर्शन से हम जिस प्रकार अनुमान द्वारा अग्नि का ज्ञान प्राप्त करते हैं वह प्रत्यक्षभूत मेज का ज्ञान प्राप्त करने के ढंग से बिल्कुल भिन्न है। प्रथम प्रकार का ज्ञान परोक्ष और द्वितीय प्रकार का प्रत्यक्ष है, परन्तु ज्ञान चाहे अनुमान के द्वारा प्राप्त किया जाय या प्रत्यक्ष के द्वारा वह होता प्रत्यक्ष ही है।

(१) **प्रत्यक्ष ज्ञान** :—सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि जैसा साधारणतया सोचा जाता है धारणात्मक और यह ज्ञान एक ही नहीं है। इसका क्षेत्र उससे कहीं अधिक व्यापक है और इन्द्रियजन्य ज्ञान उसका एक प्रकाश मात्र है। इसी से जैसे अन्य दार्शनिक सम्प्रदायों में प्रत्यक्ष ज्ञान की जो परिभाषा है कि वह इन्द्रियों का अपने अपने विषय (अर्थ) के सन्निकर्ष से उत्पन्न होने वाला ज्ञान है यहाँ उसकी यह परिभाषा नहीं है। जैन मत में इसे विशद ज्ञान कहते हैं। इससे हमारा यह अर्थ है कि प्रत्यक्ष-भूत विषय (अर्थ) सम्बन्धी सूक्ष्म और विशिष्ट बातों की उपलब्धि हो सके जिससे उसका वर्ण और उसके प्रत्येक भाग की स्वाभाविक दशा प्रकाशित हो जाय। हो सकता है कि इसमें इन्द्रिय व्यापार भी निहित हो किन्तु उसका होना आवश्यक नहीं है क्योंकि प्रत्यक्ष अतीन्द्रिय भी हो सकता है। बात यह है कि जैन मत के अनुसार आत्मा को सब वस्तुओं का स्वभावतः प्रत्यक्ष ज्ञान होता रहता है और उसको इसके लिये किसी वाह्य-साधन की आवश्यकता नहीं होती। उदाहरणतया केवल-ज्ञान साक्षात और प्रत्यक्ष ज्ञान है और किसी इन्द्रिय के सहयोग पर आश्रित नहीं है। यदि वह किसी पूर्व-स्वीकरण को मानकर चलता है तो वह केवल आत्मा ही है। यह ज्ञान का विकल्पहीन विशुद्ध स्वरूप है और इसको "मुख्य-प्रत्यक्ष" कहते हैं। इसको प्रातिभ ज्ञान (intuition) भी कहा जा सकता है क्योंकि यह समस्त द्रव्यों और उनके सब प्रकार के स्वरूपों को ग्रहण करता है।' इस प्रकार के ज्ञान को धारण करने वाला अर्हन् अथवा सिद्ध कहलाता है। यह भावना आस्तिक मतों की जीवन्मुक्ति की भावना से बहुत कुछ मिलती-जुलती है। साम्व्यवहारिक ज्ञान दूसरे प्रकार का प्रत्यक्ष ज्ञान है। यह या तो वाह्य ज्ञानेन्द्रियों द्वारा उपलब्ध होता है अथवा मन द्वारा—इस प्रकार इसको द्विविध माना गया है। अर्थात् यह या तो इन्द्रिय-जन्य ज्ञान होता है जैसे सामने रक्खी मेज का प्रत्यक्ष अथवा अन्तर्ज्ञान जैसे यह अनुभव

होना कि हम सुखी हैं।

(२) **परोक्ष ज्ञान** :—इसमें ज्ञान प्राप्त करने की विभिन्न रीतियों का समावेश किया जाता है, यथा अनुमान और शब्द। यहाँ हम उनमें से केवल एक का उल्लेख करेंगे वह है प्रत्यभिज्ञा। यहां इसकी जो भावना की गई है वह नितान्त अपूर्व है। सामान्यतया भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों में इस प्रकार के ज्ञान की जो व्याख्या की गई है उसके अनुसार इसको स्मृति की सहायता से होने वाला प्रत्यक्ष ज्ञान कहते हैं। इस प्रकार यदि हम किसी व्यक्ति को पहचान लेते हैं तो उसका यह अर्थ है कि वह व्यक्ति इस समय हमारे संमुख है और उसकी उपस्थिति हमें यह याद दिला देती है कि हमने उसे पहले भी कभी देखा है। जैन इसी को एक नवीन प्रकार का ज्ञान मानते हैं। उनके अनुसार प्रत्यक्ष और स्मृति पर आश्रित होने पर भी यह स्वयं प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं है जिससे इसकी एक विशिष्टता पर प्रकाश पड़ता है। वह यह है कि अन्य मतों की भांति वर्तमान और अतीत इन दो क्षणों में वस्तु के एकत्व को इसमें भी स्वीकार किया गया है। इस प्रकार का उपपादन करने के पूर्व यह बात माननी होगी कि बाह्य पदार्थ थोड़े या अधिक समय के लिये अवश्य रहते हैं चाहे वे हों परिवर्तनशील ही। यहाँ जैनी यह कहते हैं कि न तो केवल प्रत्यक्ष से और न केवल स्मृति से ही इस एकत्व का ज्ञान प्राप्त करना सम्भव है क्योंकि उनका सम्बन्ध वर्तमान और अतीत दोनों ही से है। इसी से वे एक नवीन प्रकार के ज्ञान को मानने की आवश्यकता बताते हैं।

जिस वस्तु का ज्ञान हम अतीत में प्राप्त कर चुके हैं इस समय पुनः उसका ज्ञान प्राप्त होने पर जिस ज्ञान के द्वारा हम उन दोनों का एकत्व स्पष्टतया स्थापित करते हैं उसे ही सामान्यता प्रत्यभिज्ञा कहते हैं। दूसरे भारतीय मतों में भी इसका क्षेत्र यहीं तक सीमित कर दिया गया है। परन्तु जैनियों ने इसके क्षेत्र को बहुत आगे तक विस्तृत कर दिया है। ऐसा करने में उनका उद्देश्य यह था कि जिन जिन दशाओं

में भी प्रत्यक्ष और स्मरण दोनों के ही द्वारा एकीभूत ज्ञान प्राप्त होता है वे सब दशाएँ इसके अतर्गत आ सकें। इस प्रकार यह ज्ञान क ख के समान है इसी का एक उदाहरण माना जाता है यद्यपि इससे सूचित तो यही होता है कि क और ख में समानता है न कि एकत्व। इसी प्रकार "क, ख से विभिन्न है और क, ख के बड़ा है" "आम एक फल है" इत्यादि इसी अर्थ में "प्रत्यभिज्ञा" के उदाहरण हैं। इन प्रत्येक उदाहरणों में प्रत्यक्षभूत वस्तु स्मृत की हुई वस्तु से भिन्न है, परन्तु दोनों ही किसी न किसी दृष्टि से समान हैं। क, ख के समान है इस प्रथम उदाहरण में यह समानता स्पष्ट रूप से व्यक्त है, किन्तु शेष उदाहरणों में अन्तर्निहित है। इसका कारण यह है कि उनमें ऐसी वस्तुओं की तुलना अथवा वर्गीकरण है जिनको एक दूसरे से पूर्णतया विभिन्न नहीं कहा जा सकता। उनमें यह सादृश्य द्वितीय प्रकार का है जो यहाँ 'प्रत्यभिज्ञा' की व्याख्या से स्पष्ट है। हम देखेंगे कि बौद्ध मत में केवल सादृश्य को ही प्रत्यभिज्ञा का वास्तविक विषय माना गया है और सामान्य बुद्धि द्वारा आरोपित एकत्व को मिथ्या अथवा भ्रान्त।

(३) **तत्वमीमांसा**:—हमने उपनिषदों की जो व्याख्या की है उसके अनुसार उनमें परमतत्व की दो प्रकार से भावना की गई है एक का परिवर्तन वास्तविक होता है किन्तु दूसरे का मिथ्या (विवर्तरूप) होता है। जैन मत की पहले वाले मत से समानता है। केवल इसमें परम तत्व को विविध माना गया है। यह सतत परिवर्तन-शील और गतिशील है परन्तु तब भी अपने तादात्म्य को सदैव बनाये रखता है। यह जैनमत के तत्वमीमांसा के सिद्धान्त का एक विशेष लक्षण है और इसकी ओर हमें खास तौर से ध्यान देना चाहिये। इसकी शिक्षा के अनुसार हर वस्तु के सामान्य और विशेष दो स्वरूप होते हैं। इस प्रकार गौ गोत्व से जो कि दूसरी गौओं में भी समान रूप से पाया जाता है विशिष्ट तो है ही किन्तु साथ ही वह वर्ण अथवा आकार आदि ऐसे

गुणों से भी युक्त रहती है जो उसी में विशेष रूप से पाये जाते हैं। उनके द्वारा हम उसको दूसरी गौओं से पृथक कर सकते हैं। कतिपय दार्शनिकों के विचारों में सामान्य और विशेष दोनों ही पृथक-पृथक सत्य हैं। इसके विपरीत जैन दोनों के समन्वित रूप को सत्य मानते हैं। अस्तु, उनके अनुसार वस्तुएं चाहे भौतिक हों अथवा आध्यात्मिक उनका स्वरूप संश्लिष्ट ही होता है। वैसे सामान्य अथवा विशेष को अकेले लेने पर उनका अपना स्वरूप एक अमूर्त कल्पना मात्र होता है। उनका यह भेद विचारों में ही ग्राह्य है। वस्तुजगत में उनका पार्थक्य सम्भव नहीं है। पदार्थों के इन द्विविध स्वरूपों में भेदाभेद (भेद की दृष्टि से तादात्म्य) का सम्बन्ध है अर्थात् अलग अलग लेने पर सामान्य और विशेष एक दूसरे से भिन्न है किन्तु एक ही द्रव्य के दो स्वरूपों की दृष्टि से वे एक भी हैं। उदाहरणतया गौ के दृष्टान्त में गोत्व और गौ का वर्ण विशेष अथवा आकार विशेष ये दोनों अलग अलग एक दूसरे से भिन्न भिन्न हैं परन्तु यह विभेद अत्यान्तिक नहीं है क्योंकि वे एक ही पदार्थ की विशिष्टता बताते हैं और उनका उनसे कोई पृथक अस्तिव नहीं है। इसके विरोध में कहा जाता है कि शीत और उष्णता के समान तादात्म्य और वैभिन्न्य के विरोधी लक्षणों का विधान एक ही पदार्थ के लिये नहीं किया जा सकता। उत्तर में जैन कहते हैं कि अनुभव ही वह प्रमाण है जिसके बल पर हम परमतत्व के विषय में कुछ कह सकते हैं। अतएव जब अनुभव ही प्रमाणित करता है कि इस प्रकार का लक्षण (भेदाभेद रूप से) एक ही पदार्थ में सम्भव है तो हमें उसे स्वीकार करना चाहिये। हो सकता है कि स्वयं यह तथा कथित विरोध ही परमतत्व के विषय में चरम सत्य हो। परमतत्व को ग्रहण करने के लिये विचार को उसके स्वभाव का अनुसरण करना चाहिये उसके स्वरूप को निश्चित करने का प्रयत्न नहीं।

सामान्य गुण दो प्रकार का हो सकता है। इनको तिर्यक सामान्य और उर्ध्वता-सामान्य कहा जाता है। हम इनको क्रमशः पाश्चात्य

दर्शन में माने जाने वाले मूर्त सामान्य अथवा अमूर्त सामान्य का समानार्थक मान सकते हैं। गोत्व प्रथम प्रकार के सामान्य (तिर्यक) का दृष्टान्त है और यह गोत्व एक साथ कितनी ही गौओं में पाया जाता है (तिर्यक का शाब्दिक अर्थ है दिगन्तसम) दूसरे अर्थात् ऊर्ध्वता सामान्य में काल-क्रम से होने वाली अभिव्यक्तियों का आधार-भूत रूप से अन्तर्भाव रहता है (ऊर्ध्व का शाब्दिक अर्थ लम्बरूप है) उदाहरणतया केवल सूत, डोरे और वस्त्र के उपादान रूप में रुई। हम देखेंगे कि ये प्रत्यय (notions) क्रमशः सादृश्य और एकत्व के प्रत्ययों पर आश्रित हैं। ये दोनों समान रूप से प्रत्यभिज्ञा द्वारा ज्ञेय हैं। समान गोत्व से युक्त दो या दो से अधिक गौएँ एक ही तरह की होती हैं। सूत में और वस्त्र में पाई जाने वाली रुई भी एक ही है। जब हम यह कहते हैं कि 'क' एक गाय है और 'ख' भी एक गाय है तो विधेयवाचक तत्व गोत्व ही है जो कि उभयनिष्ट है परन्तु जब हम कहते हैं कि 'स' एक बालक था और वह अब युवक हो गया है तो उभयनिष्ट तत्व उद्देश्यवाचक ही है। इस प्रकार यह लक्षण या तो गोत्व की भांति स्थिर हो सकता है अथवा बालकपन और यौवन के समान परिवर्तनशील। दोनों ही प्रकार के ये लक्षण जिस पदार्थ में पाये जाते हैं वे उसके पर्याय कहे जाते हैं। यह तो स्पष्ट ही है कि दूसरे प्रकार के लक्षण स्थाई नहीं है। जैनमत के अनुसार गोत्व की भांति दूसरे भी अस्थाई ही हैं। जिन पदार्थ में वह प्रकट होते हैं वे उसकी ही विशिष्ट स्वाभाविक अवस्था या स्वरूप होते हैं और इस कारण विभिन्न व्यक्तियों में उन्हें भिन्न-भिन्न माना जाना चाहिये। उदाहरणतया एक गौ का गोत्व संख्या की दृष्टि से दूसरी गाय के गोत्व के समान नहीं है।

इस मत में परमतत्व की जो व्याख्या की गई है उसका यथाथ तात्पर्य अब हम समझ जायेंगे। परमसत् उत्पत्ति, व्यय और स्थायित्व से युक्त है। उत्पत्ति और नाश इस तत्व के पर्यायों से सम्बन्ध रखते हैं

और स्थायित्व का सम्बन्ध उसके अधिष्ठान से है। इसी अर्थ में परम तत्व जीव और उपर्युक्त पांच प्रकार वाले अजीव में विभाजित किया जाता है। ये छहों प्रकार के तत्व द्रव्य कहलाते हैं। द्रव्य शब्द का यह आशय होता है कि उसमें गुण और पर्याय दोनों ही होते हैं। गुणों और पर्यायों में क्या अन्तर है यह बिलकुल स्पष्ट नहीं है। सम्भवतः, जैसा कि कहा जाता है, दूसरे मतों के प्रभाव के कारण ही गुणों को स्वीकार कर लिया गया है। इन छह द्रव्यों में काल को छोड़कर अन्य सब सत् होने के अतिरिक्त विस्तार से भी युक्त (अस्तिकाय) होते हैं। काल सत् है लेकिन उसका कोई देशव्यापी विस्तार नहीं है। वह एक ऐसा तत्व है जिसका केवल एक परिमाण है।

५ अभी सप्तभंगी नय के नाम से प्रसिद्ध परामर्श के सात प्रकारों के विषय में दो चार शब्द कहना अवशेष है। इस सप्तभंगी नय का जो आधारभूत सिद्धान्त है वह तो इस मत में मूलतः अंतर्भूत ही है। हां, इसका विवेचन अवश्य इसी समय का है। हम यह कह ही चुके हैं कि जैन मत के अनुसार ऐसा नहीं है कि विरोधी लक्षण परमतत्व के अंतर्गत न आ सकें। इसका भाव यही है कि परमतत्व अनिश्चयात्मक (अनेकान्त) है। इसका यह अर्थ नहीं है कि उसका स्वरूप ही नितान्त अनवधारणीय है, इसका तात्पर्य तो केवल इतना ही है कि पूरी तौर से उसकी व्याख्या नहीं की जा सकती। सप्तभंगी नय को समष्टि रूप में लेने पर यही व्यञ्जित होता है। यह परमतत्व के स्वरूप को कई बार प्रकट करता है क्योंकि इसको प्रकट करने वाला कोई एक पर्याय इसके लिये सर्वथा उपयुक्त नहीं है। स्थूल रूप से इस सिद्धान्त के प्रवर्तन के समय परमतत्व के विषय में तीन विभिन्न धारणाएँ थीं। कोई कहता था, "वह सदैव रहता है" (अस्ति), कोई कहता था, "वह कभी भी नहीं है" (नास्ति) और दूसरे दार्शनिक यह मानते थे कि परमतत्व अत्यन्त 'गूढ़ है और इस कारण यह इन दोनों कोटियों में से किसी से भी विवेच्य नहीं है

(अवक्तव्य)। जैन मत यही मानता है कि इनमें से कोई सिद्धान्त पूर्णतया ठीक नहीं है। प्रत्येक परमतत्व केवल एक स्वरूप का निर्देश करता है और वह उसी स्वरूप के सम्बन्ध में लेने पर ही सत्य होता है पूर्णतः लेने पर नहीं, जैसा कि उसके समर्थक मानते हैं। सप्तभंगी नय के द्वारा परमतत्व विषयक ज्ञान के इस सापेक्ष स्वभाव का ही पता लगता है। इसके सात क्रमिक पद होते हैं। इसका कारण यह है कि तीन विधेय वाक्यों को संयुक्त करने के सात और केवल सात प्रकार हैं। वे प्रकार ये हैं—प्रत्येक को एक-एक करके लेना, दो-दो करके लेना और सबों को एक साथ लेना।

इस योजना के प्रथम चार पक्ष इस प्रकार हैं:—(१) स्यादस्ति सम्भवतः कोई वस्तु है (२) स्याद्नास्ति—सम्भवतः वह न हो, (३) स्यादस्ति च नास्ति च—सम्भवतः वह हो और न भी हो, (४) स्यादस्ति च अवक्तव्यं च—सम्भवतः वह हो और अव्यक्त हो। उदाहरण रूप में हम एक स्वर्ण आभूषण के विषय में कह सकते हैं—(१) वह है—अर्थात् स्वर्ण है, किन्तु (२) वह नहीं है—किन्तु वह चांदी नहीं है। इस द्विविध युक्ति के परिणाम स्वरूप हम और आगे बढ़ सकते हैं और यह निर्धारित कर सकते हैं कि (३) वह है भी और नहीं भी है। अब तक जो कहा गया है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जब हम कहते हैं कि आभूषण है तो हमारा तात्पर्य इतना ही नहीं होता कि किसी एक वस्तु के समान उसकी भी सत्ता है बल्कि यह भी कि वह अन्य दूसरी वस्तुओं के समान नहीं है। यह दूसरा भाव पहले वाले की भांति स्पष्ट नहीं है बल्कि उसमें गूढ़ रूप से निहित है। जब हम यह कहते हैं कि वह दूसरी वस्तुओं के समान नहीं है तो उसके विपरीत भी यही बात लागू होती है। तृतीय पक्ष इन दोनों कथनों का समन्वय मात्र है और जोर विधेयवाचक दोनों तत्वों पर क्रम से दिया जाता है। अब प्रश्न यह उठता है कि क्या ये दोनों विधेयवाचक तत्व आभूषण के लिये इस

प्रकार आ सकते हैं कि दोनों पर समान जोर रहे। साधारणतया यही सोचा जायगा कि इस प्रश्न का उत्तर निषेधात्मक होगा, परन्तु जैन इसका स्वीकारात्मक उत्तर देते हैं क्योंकि परमतत्व विषयक उनका मत अत्यन्त व्यापक है और वे यह स्वीकार करने को तैयार नहीं हैं कि उस सम्बन्ध में कोई ऐसा विधेय भी हो सकता है जो उसके लिये लागू न हो सके। हां, वे यह अवश्य कहते हैं कि ये विधेय शब्दों के द्वारा भाषा में प्रकट नहीं किये जा सकते। इसका जो गूढ़ अभिप्राय है वह यह है कि एक दृष्टि से परम तत्व अग्राह्य है। तर्क-शास्त्र में हम जिन्हें तादात्म्य (Identity) और प्रत्याख्यान (Contradiction) के सिद्धान्त कहते हैं वे परम तत्व के लिये केवल तभी लागू हो सकते हैं जब उसे सीधा साधा और स्थिर माना जाय किन्तु यहाँ तो उसे अत्यन्त संश्लिष्ट तथा चिरपरिवर्तनशील माना गया है, अतएव ऊपर जिन प्रतिज्ञाओं का उल्लेख किया गया है उनका इस सिद्धान्त में कोई संघर्ष नहीं होता। इस योजना के अवशिष्ट तीन पक्ष ये हैं:—(५) स्यादस्ति च अवक्तव्य च—(सम्भवतः वह है भी और अवक्तव्य भी है), (६) स्यान्नास्ति च अवक्तव्य च—(सम्भवतः वह नहीं भी है और अवक्तव्य भी है, (७) स्यादस्ति च नास्ति च अवक्तव्य च। (सम्भवतः वह है भी, नहीं भी है और अवक्तव्य भी है)। चतुर्थ पक्ष को क्रम से प्रथम तीन पक्षों के साथ संयुक्त करके ये अवशिष्ट तीन पक्ष प्राप्त हुए हैं। जिन प्रथम तीन पक्षों का उल्लेख हमने किया है वे सब परमतत्व के उस स्वरूप का संकेत करते हैं जो वक्तव्य हैं। यह सापेक्ष सिद्धान्त जैनमत का ऐसा मुख्य अंग हो गया है कि इसको प्रायः स्याद्वाद या अनेकान्त-वाद की संज्ञा दी गई है।

इसको तो बड़ी आसानी से स्वीकार किया जा सकता है कि परमतत्व विषयक हमारा ज्ञान सापेक्ष होता है। किन्तु यहाँ विचार करने के लिये एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि क्या हम जैन मत की भांति यहीं

रुक सकते हैं। सापेक्षत्व का अर्थ ही यही होता है कि हम उसके साथ ही एक ऐसा आदर्शमान भी स्वीकार करें जो अपने में पूर्ण हो और जिससे हम उस परमतत्व का परीक्षण कर सकें। यदि हम ऐसा कोई आदर्शमान स्वीकार कर लेते हैं तो जो ज्ञान उसके अनुसार खरा उतरता है वही परम तत्व के विषय में अन्तिम सत्य हो सकता है न कि और दूसरा कोई। उस दशा में सापेक्ष मत साधारण मानवी अनुभव के अत्यन्त सीमित क्षेत्र में लागू होगा और सप्तभंगी नय एक परिच्छित सत्य मात्र हो जायगा। केवलज्ञान के विषय में कहा जाता है कि वह समस्त पदार्थों और उनके समस्त स्वरूपों का ही ग्रहण नहीं करता वरन् अतीन्द्रिय और अपूर्व भी होता है। यदि हम इस व्याख्या को ध्यान में रखकर विचार करें तो स्पष्ट हो जायगा कि इस प्रकार के अपने में पूर्णज्ञान को जैन मत में स्वीकार किया गया है। यह न सोचना चाहिये कि इसमें मिलने वाली ज्ञानमीमांसा इस पूर्णज्ञान को केवल पूर्व स्वीकरण के रूप में मानकर चली है। परन्तु यदि यह कहा जाता है कि यह अंतिम सत्य कई आंशिक सत्यों को समुच्चय रूप में रख देने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है तो ज्ञान को सापेक्ष कहना निरर्थक ही होगा। ऐसा जिस कारण से है उसका उल्लेख हम कर ही चुके हैं। जैन मत के प्राचीन भारतीय आलोचक इसी तर्क को कुछ भिन्न रूप से प्रकट करते हैं। वे कहते हैं यदि परमतत्व विषयक हमारा समस्त ज्ञान सापेक्ष ही है तो जैनियों का यह मत कि वह सापेक्ष है अवश्य ही स्वयं भी सापेक्ष होगा। यदि इस निर्णीत तथ्य (निगमन) को अस्वीकार किया जाता है तो कम से कम एक पूर्ण सत्य को तो स्वीकार ही करना होगा और यदि इसको स्वीकार किया जाता है तो यही कहा जायगा कि इस सिद्धान्त का कोई निश्चित मत ही नहीं है और इस प्रकार वह संशयवाद का एक प्रकार मात्र हो जायगा।

[२]

जहां तक इसकी शिक्षा के व्यावहारिक पक्ष का सम्बन्ध है हमें दो बातों पर विशेष ध्यान देना चाहिये। एक तो यह कि यह निराशा-वादी है यद्यपि अन्ततो गत्वा यह ऐसा है नहीं और दूसरे यह कि यह अत्यन्त कठोर आत्मसंयम का विधान भी करता है। आधुनिक विद्वानों ने पता लगाया है कि इसमें आत्मसंयम सम्बन्धी जो सिद्धान्त स्वीकृत किये गये हैं उनका उद्‌गम हिन्दू-दर्शनों में ही है, केवल कुछ ही उदाहरणों में वे सिद्धान्त जैनमत में परमकोटि तक पहुँचा दिये गये हैं। इस दृष्टि से अहिंसा एक दृष्टान्त है। कोई भी जैन जानबूझ कर छोटे से छोटे जीव की भी हत्या नहीं करेगा। परन्तु इसके सभी अनुयायियों को इतने कठोर संयम का पालन आवश्यक नहीं है। यदि वे श्रमण न होकर श्रावक ही हैं तो जब तक वे पूरी तौर से सन्यासी बनने के अधिकारी नहीं हो जाते वे अपेक्षाकृत कम कठोर संयमों का अभ्यास कर सकते हैं।

जैसा कि कहा जा चुका है जीवन का लक्ष्य आत्मा को उसकी मौलिक विशुद्धि की अवस्था प्राप्त करा देना है जिससे उसे केवलज्ञान की उपलब्धि हो सके। यह देह से मुक्ति की अवस्था है और उस समय आत्मा को सब प्रकार से पूर्णता प्राप्त हो जाती है—अनन्त ज्ञान ही नहीं अनन्त शान्ति और अनन्त ऐश्वर्य की भी उपलब्धि हो जाती है। उपनिषदों की शिक्षा की भांति यहाँ भी मुक्ति का अर्थ पाप और पुण्य दोनों का ही अतिक्रमण करके शुभ और अशुभ के पार चले जाना है। इस आदर्श तक पहुँचने के लिए त्रिविध संयम का विधान किया गया है। इसकी शिक्षाओं में श्रद्धा (सम्यग्दर्शन) से इसका प्रारम्भ होता है और जब सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चरित्र भी इसको सहायता प्रदान करने लगते हैं तो परिणाम स्वरूप मोक्ष अथवा निर्वाण जैसा जैन प्रायः कहा करते हैं, प्राप्त होता है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और

सम्यक्-चरित्र इन तीनों को "त्रिरत्न" की संज्ञा दी गई है। जैसा कि सामान्यतया अन्य भारतीय मतों में है यहाँ भी योग की शक्ति को उत्पन्न करना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना गया है।

यह समझने के लिए कि इस संयम से मुक्ति प्राप्त करने में किस प्रकार सहायता प्राप्त होती है हमें यह बात स्मरण रखनी चाहिए कि जीव और अजीव के बीच कर्म के द्वारा ही सम्बन्ध की कड़ी पड़ती है। हमें यह पता है कि कर्म शब्द भूतद्रव्य के अत्यन्त स्थूल रूप के लिए आता है। सांसारिक अवस्था में आत्मा इसी प्रकार के भूतद्रव्य से पूर्णतया व्याप्त है और उसके जीवन का उद्देश्य इस प्रकार के अजीव से अपने को छुड़ा लेना ही है। यह बन्धन और उसके विच्छेद की प्रक्रिया इस प्रकार चित्रित की जाती है:—सर्व प्रथम आत्मा में कर्म का 'आस्रव' (प्रवेश) होता है जिसके फलस्वरूप 'बन्ध' होता है। सुख-दुख रूपी कर्म के फलों के भोगने के परिणाम स्वरूप कर्म का निरन्तर क्षय होता रहता है। परन्तु सामान्य मनुष्य के पक्ष में शुभ-अशुभ दोनों ही प्रकार के अन्य कर्म उसी भाँति निरन्तर आत्मा में प्रवेश करते रहते हैं। यह आत्मा द्वारा किए गये ऐच्छिक कर्मों के कारण ही होता है और इसी कारण इसको कभी भी मुक्त नहीं कहा जा सकता। मृत्योपरान्त भी यह कारण-शरीर आत्मा के नवीन अस्तित्वमें उसके साथ-साथ जाता है। इस प्रकार आवागमन का अनादि और अनन्त चक्र चलता रहता है। मनुष्य की मुक्ति की आशा इस बात पर आश्रित रहती है कि कर्म के "आस्रव" अथवा प्रवेश की गति रोक दी जाय। "त्रिरत्न" रूप में उपर्युक्त आत्मसंयम का विधान इसी उद्देश्य के लिये किया गया है। जैसे कि जीव के बन्धन में बंधने की 'आस्रव' और बन्ध क्रम से ये दो अवस्थाएँ रहती हैं इसी प्रकार इससे मुक्त होने में भी जीव की क्रम से दो अवस्थाएँ होती हैं। नवीन कर्मों के प्रवाह का निरोध पहली अवस्था है। इसे 'संवर' (कर्मों का निरुद्ध

→

होना) कहते हैं। दूसरी अवस्था है पूर्व जन्मों से संचित कर्मों का क्षय होना, इसे 'निर्जरा' (कर्मों का क्षय होना) कहते हैं। जीव के बन्धनभूत कर्मों के पूर्ण नाश होने पर जीव अनायास ही मोक्ष प्राप्त कर लेता है। यह सर्वाङ्गीण पूर्णता की अवस्था है। यहाँ यह भी कहा जा सकता है कि इससे यह व्यञ्जित होता है कि यद्यपि जैन मत में ब्रह्म अथवा परम ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया गया है तथापि उसमें पूर्णत्व के प्रतीक भूत एक अलौकिक तत्व के आदर्श को स्थान दिया गया है। 'आस्रव', 'बन्ध', 'संवर', 'निर्जरा' और 'मोक्ष' ये पाँच जीव और अजीव के साथ कभी-कभी जैन मत से सप्त-तत्त्व कहलाते हैं।

(ग) बौद्धमत

बुद्ध की जिस जीवन गाथा से हम भली-भाँति परिचित हैं वह अधिकांशतः उनके समय के बहुत बाद में चली हुई परम्पराओं पर निर्भर है। इनमें मिलने वाले विवरण के अनुसार वे कपिलवस्तु में उत्पन्न हुए थे। उनके पिता एक राज्य के शासक थे। इस प्रकार वे वर्धमान की भाँति ही राजवंश में उत्पन्न हुए थे। अब तो सामान्यतः उनकी जन्म तिथि ५६३ ई० पू० मानी जाती है। वे एक अत्यन्त गुण सम्पन्न राज-पुत्र के रूप में चित्रित किये गये हैं। १६ वर्ष की आयु में उनका विवाह हुआ और कालान्तर में एक पुत्र भी उत्पन्न हुआ। लगभग यही समय होगा जब वे जीवन की निस्सारता और मनुष्य जीवन में लगे रहने वाली मृत्यु, व्याधि और जरा आदि दुःखों पर विचार करने लगे थे। इसी को बड़े आकर्षक ढंग से इस प्रकार एक कहानी के रूप में निरूपित किया गया है कि उन्हें क्रमशः एक वृद्ध, एक रोगक्रान्त व्यक्ति और एक शव मिलते हैं। इन दृश्यों के अनन्तर ही एक ऐसे सन्यासी का दर्शन होता है जो संसार का पूर्णतया त्याग कर चुका था। इसी से उन्हें यह निश्चित कर लेने की प्रेरणा मिली कि वे अपने को समस्त

सांसारिक बंधनों से मुक्त कर लेंगे और जीवन के अनन्त दुःख से बचने के लिए एक मार्ग ढूँढ़ने में वे अपनी सारी शक्ति लगा देंगे। इसी निश्चय को पूरा करने के उद्देश्य से उन्होंने उसी रात्रि में अपने राज प्रासाद को 'धूल का स्थान' समझ कर त्याग दिया और एक सुदूरस्थ वन में चले गये। वहाँ उन्होंने अन्य पांच साथियों के साथ अत्यन्त कठोर तप किया और अपने को पवित्र करने के लिए उस तप की आंच में उन्होंने अपने शरीर को सुखा डाला क्योंकि उस समय अत्यन्त धार्मिक प्रवृत्ति वाले मनुष्यों में इस प्रकार कठोर तप करने की सामान्य प्रथा ही थी। छः वर्षों तक उन्होंने इस प्रकार का जीवन व्यतीत किया; किन्तु उसके द्वारा अपने उद्देश्य में सफलता न पाते देख वे एक नवीन प्रकार का आत्मसंयम करने लगे। इसकी साधना अपेक्षतया कम कठोर थी। उस समय उनके साथियों ने उनके मत से विमुख होकर उनका साथ छोड़ दिया। इस दूसरे प्रयत्न में वे सफल हुए। अब वे पूर्ण 'बुद्ध' हो गये और उस अवस्था को प्राप्त हो गये जिसको 'तृष्णाओं के निरोध' की अवस्था कहा जाता है।

वे इस व्यक्तिगत ज्ञान प्राप्ति से ही संतुष्ट नहीं रह सके और उन्होंने दूसरों को भी उस मार्ग की शिक्षा देने का निश्चय किया। उनके सर्व प्रथम शिष्य वे पांच तपस्वी ही थे जिन्होंने पहले उनका साथ छोड़ दिया था। वे उस समय सारनाथ अथवा 'मृगदाव' नाम से ख्यात बनारस के निकट एक स्थान पर थे। अपने विचारों और सिद्धान्तों के अनुकूल बना लेने के पश्चात् बुद्ध ने उनको जो प्रथम उपदेश दिया, परम्परानुसार यह कहा जाता है कि उसी में उन्होंने चारों 'आर्य सत्यों' की विवेचना की। हम इनके विषय में बाद में कहेंगे। इसके पश्चात् वे बहुतों को अपना अनुयायी बनाने में सफल हुए, यहाँ तक कि अपने परिवार को भी। हाँ उनका कार्यक्षेत्र अपेक्षतया संकीर्ण प्रदेश तक ही सीमित था। उस प्रदेश में आधुनिक बिहार का कुछ भाग, युक्त प्रान्त और नेपाल थे। ८० वर्ष की आयु में ४८३ ई० पू० उन्होंने असार संसार से कूच किया।

कहा जाता है कि जिस दिन उन्होंने शरीर छोड़ा वही दिन उनके जन्म और पूर्ण बोधि प्राप्त करने का भी दिन था। दो साल-वृक्षों के बीच में यह दुःखद घटना हुई थी। उनके जीवन के अन्तिम दृश्यों से सम्बन्धित मूर्तियों और पत्थर पर खुदे हुए चित्रों में इस वातावरण का अत्यन्त करुणापूर्ण निरूपण किया गया है। इसमें सन्देह नहीं कि बुद्ध संसार के महान धर्म-प्रवर्तकों में हैं। ई० पू० तृतीय शताब्दी में सुविख्यात महाराज अशोक ने बौद्ध-धर्म ग्रहण किया। सामान्यतया यह विश्वास किया जाता है कि उन्होंने इसे जो प्रेरणा और स्फूर्ति प्रदान की उसके द्वारा बौद्ध-धर्म केवल भारत के अन्य भागों में ही नहीं अपितु भारत के बाहर भी फैलने लगा।

[१]

इस मत का मौलिक-स्वरूप क्या था यह निश्चित करने में अत्यन्त कठिनाई पड़ती है। इसका कारण जैसा कहा जा चुका है यह है कि जिस काल में सर्व प्रथम इसका प्रवर्तन हुआ था उस समय का एतद्विषयक कोई प्रामाणिक विवरण हमें अब नहीं मिलता एतत्सम्बन्धी जो सबसे प्राचीन ग्रन्थ मिलते हैं उन्हीं को इसके त्रिपटकों अथवा 'धार्मिक सहिताओं (Canonical) का साहित्य, कहते हैं। हो सकता है कि इनमें बहुत कुछ ऐसा हो जो कि वस्तुतः बुद्ध के मुख से निस्सृत था; किन्तु निश्चयपूर्वक यह जानने का कोई साधन नहीं है कि वे भाग कौन-कौन से हैं। परिणाम स्वरूप आधुनिक विद्वानों में उनके उपदेश के यथार्थ स्वरूप के विषय में गहरा मतभेद है। हाँ, यह स्पष्ट है कि इसका प्रारम्भ धर्म के रूप में हुआ किन्तु थोड़े ही समय में इसको परिस्थितिवश दर्शन बनना पड़ा। इसका कारण यह था कि इसको हिन्दू और जैन दर्शनों के आध्यात्मवाद का विवेचन करने वाले सम्प्रदायों के विरोध से अपनी रक्षा करनी थी।

प्रारम्भिक बौद्ध-धर्म का ब्राह्मण धर्म से क्या सम्बन्ध था इसका स्पष्ट रूप से निर्देश करने में भी ऐसी ही कठिनाई का सामना करना पड़ता है। यह तो मानी हुई बात है कि बौद्ध धर्म ब्राह्म धर्म से जो उस समय का सर्व प्रमुख धर्म था अवश्य ही अत्यधिक प्रभावित हुआ होगा। जिस बात पर विचार करना है वह यह है कि यह प्रभाव किस सीमा तक पड़ा, उसका ठीक-ठीक स्वरूप क्या है। अब तो सामान्यतया यह माना जाने लगा है कि आदि बौद्ध मत ब्राह्मण धर्म के प्रतिकूल न होकर उसी की एक नवीन परिवर्तित धारा है। निःसंशय ही बौद्धों की धार्मिक संहिताओं का साहित्य ब्राह्मण धर्म का बार-बार प्रतिवाद करता है किन्तु यह प्रतिवाद अधिकांशतः उसके कर्मकाण्डवाद के पक्ष का ही है। इससे हम यह निर्णय निकालते हैं कि बुद्ध का उपदेश अत्यन्त विस्तृत और विधिविधानों से जकड़े हुए यज्ञों और तत्सम्बन्धी कर्मकाण्ड के विरोध स्वरूप ही हुआ। इस दृष्टि से तो स्वयं औपनिषद् मत का जन्म ही इसी कर्मकाण्ड के कारण हुआ। कर्मकाण्डवाद के इस विरोध का एक महत्त्वपूर्ण परिणाम यह हुआ कि नैतिकता पर अधिक जोर डाला जाने लगा। यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता कि उपनिषदों में नैतिकता की किसी प्रकार भी उपेक्षा की गई हो तथापि उनमें इसको जरा कुछ गौण स्थान दिया गया। औपनिषद् मत भी ब्राह्मण धर्म का ही एक अन्य स्वरूप है किन्तु बौद्ध मत में कर्मकाण्ड की अपेक्षा उसका उल्लेख कम मिलता है। इससे यह प्रकट होता है कि बौद्ध मत का इससे बहुत अधिक विरोध नहीं था। हां, कुछ भेद अवश्य हैं। अब हम इनमें से कुछ महत्त्वपूर्ण भेदों की ओर ध्यान देंगे।

जैसा हमें पता ही है कि उपनिषदों की शिक्षा केवल गिने-चुने कुछ लोगों के ही लिए थी, इसके विपरीत बुद्ध की शिक्षा का विशिष्ट लक्षण यह था कि उसमें रहस्यमय और अलौकिक सत्य नहीं माने गये और वह उन लोगों के लिए थी जो स्वाभाविक प्रवृत्तियों के अनुसार

जीवन बिताने से ही संतुष्ट नहीं हो जाते थे। जैसा कि कहा जाता है यह 'उपदेश जनसाधारण के लिए है, इसका सन्देश साधारण मनुष्य के लिए था तदनुसार ही इसकी सामान्य उन्नति भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हुई। दूसरा भेद यह था कि ब्राह्मण-धर्म में तो इस बात पर आवश्यकता से अधिक जोर डाला गया था कि परम सत्य का ज्ञान प्राप्त करने के लिए दूसरों (गुरु आदि) के उपदेशों पर अत्यधिक विश्वास और श्रद्धा करने की आवश्यकता है किन्तु बौद्ध-धर्म में आत्मविश्वास और आत्मप्रयत्न पर हो विशेष जोर दिया गया। शिष्यों को यह आदेश दिया जाता था कि वे अपने आप ही चिंतन करें और दूसरों की सम्मतियों को तभी ग्रहण करें जबकि उन्हें पूर्ण विश्वास हो जाय कि वे बिलकुल खरी हैं। अर्थात् वह जरा भी हठधर्मी नहीं था और इसमें उसी प्रकार के विश्वतत्त्व सम्बन्धी तथा प्रेमभाव सम्बन्धी सिद्धान्तों के यहां तक कि कर्म-सिद्धान्त के प्रति भी विश्वास प्रकट किया गया है। आदि बौद्ध-धर्म के मुख्य लक्षण संक्षेप में निम्न कहे जा सकते हैं :—

हम देख चुके हैं कि पूर्व-वैदिक काल में मनुष्य को ईश्वर तत्त्व से भिन्न माना जाता था। उपनिषद् काल तक इस मत में यह परिवर्तन हो गया कि तत्वतः मनुष्य को ही ईश्वर-तत्व से युक्त माना जाने लगा। मनुष्य में रहने वाले इस ईश्वर तत्त्व को ही बुद्ध ने आत्म-तत्व के अर्थ में लिया न कि शरीर, मन अथवा आत्मा को। उन्होंने यह भी माना कि आत्मा के रूप में वह आत्म-तत्त्व इस लोक तथा परलोक दोनों में ही स्थित रहता है अतएव जैसा कि प्रायः कहा जाता है यह कहना ठीक नहीं है कि बुद्ध ने आत्मा का निषेध किया अथवा शरीर और मन से उसका एकत्त्व स्थापित कर दिया। इसका अर्थ उनके लिए यह था कि वे मनुष्य को उस रूप में नहीं लेते थे जिस रूप में वह वस्तुतः है वरन् उस रूप में जैसा कि उसे होना चाहिये अथवा जैसा कि वह हो सकता है। दूसरे शब्दों में उसे उस आदर्श स्वरूप आत्मा के लिए लिया गया जिसके

साक्षात् की उसमें स्वाभाविक अंतःप्रेरणा होती है। इसी से उसके जीवन में सर्व प्रमुख कर्त्तव्य अपने प्रति व्यापार-स्वरूप कार्य करना है। इस प्रकार कार्य करने का जो परिणाम होता है अर्थात् उसके हृदय में रहने वाले राग और द्वेष आदि दुर्वृतियों का क्षय बस उसी अर्थ में निर्वाण को लिया जाता है। जैन मत का वर्णन करते समय हम निर्वाण शब्द से भली-भांति परिचित हो ही चुके हैं। इसका अर्थ आत्मा के पूर्ण अभाव का प्रतिपादन करना न होकर केवल साधारण रूप में जिसे अहमत्व की संज्ञा दी जाती है उसका विनाश ही है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि पूर्व बौद्धमत आशापूर्ण उपदेशों का प्रतिपादन करता है न कि नैराश्यवाद का जैसा कि इसके विषय में साधारणतया कहा जाता है।

परन्तु निर्वाण का साधन क्या है? उपनिषद्, जिनकी शिक्षा भी लगभग उसी प्रकार की है, आत्मा के ब्रह्म-स्वरूप हो जाने के लिए एक निश्चित साधना का विधान करते हैं। परन्तु उनकी जो दो प्रकार की व्याख्या की गई है उनमें एक के अनुसार मनुष्य का अपनी वास्तविक आत्मिक अवस्था से जो स्खलन है वह सत्य नहीं माना जाता है और न इस परिवर्तन का काल में कोई अस्तित्व माना जाता है। इसको तो केवल आभासमात्र माना जाता है। अतएव यह लक्ष्य कोई ऐसा नहीं है जो वस्तुतः प्राप्य ही हो। केवल विचारों में ही इसका साक्षात् सम्भव हो सकता है। इस प्रकार जिस अर्थ में अप्राप्त को प्राप्त करना कहा जाता है उस अर्थ में आत्मा का ब्रह्मस्वरूप हो जाना नहीं कहा गया है। इस दृष्टि से उपनिषदों की दूसरी व्याख्या निस्सन्देह बिलकुल भिन्न है। उसके अनुसार आत्मा स्वयं विकासशील है। परन्तु वहाँ जिसको महत्त्व दिया गया है वह गन्तव्य है न कि वह साधना जिससे हम उसको प्राप्त करते हैं—जैसा यहाँ है। आदि बौद्ध धर्म में पूर्णता के साधक के रूप में मनुष्य को पूर्णता-प्राप्त मनुष्य की अपेक्षा अधिक

महत्त्व दिया गया है। आगे चल कर यह मालूम पड़ेगा कि औपनिषद् मत में परमलक्ष्य की प्राप्ति के लिए अनन्तर रूप में जिस साधन का विधान किया गया है वह योग है। यहाँ तक कि वह उस दशा में भी ठीक है जब वह 'बढ़कर' ब्रह्म ही हो जाता है। इसके विपरीत बुद्ध ने आदि से अन्त तक धर्म के नैतिक स्वरूप पर जोर दिया है। उसको 'जीवन-दीप' कहा गया है और उसका तात्पर्य एक पूर्ण (सम्यक) चरित्र अथवा देवोचित आदर्शों के अनुरूप जीवन यापन से है सिद्धान्तों के विधान से नहीं जैसा बाद में होने लगा।

[२]

इस मत के मौलिक स्वरूप में जिसको फिर से निर्मित किया गया है अवश्यम्भावी रूप से ऐसे तत्त्व निहित हैं जो अभ्युपगम रूप में स्वीकार किये गये हैं। यह भी प्रतीत होता है कि इसकी शिक्षा पूरी तौर से उपनिषदों की शिक्षा के कुछ अंगों के अनुकूल नहीं है। उदाहरणतया इस बात की बिलकुल उपेक्षा ही कर दी गई है कि उनमें ब्रह्म की एक क्रियात्मक भावना का प्रमुख स्थान है। साथ ही इसमें परमतत्त्व का साक्षातकार करने के लिए संयम और साधना में नैतिक पवित्रता को जो महत्त्व दिया जाता था उसमें भी कमी कर दी गई है। चाहे कुछ भी हो यहाँ ध्यान देने की इतनी ही बात है कि बुद्ध के उपदेश भावरूप तथा रचनात्मक थे परन्तु कालान्तर में उसका निषेधक और संश्लेषात्मक मत भी फैलने लगा और इसके परिणामस्वरूप बौद्ध मत का स्वरूप धीरे-धीरे पूर्णतया एकत्ववादी हो गया। मुख्य दार्शनिक सम्प्रदायों के काल तक तो यह परिवर्तन हो ही चुका था। पाली बौद्ध साहित्य में मुख्यतया यही शिक्षा निहित है। हमें अब उसी के प्रमुख लक्षणों का बहुत संक्षेप में चित्रण करना है। यह हम चारों आर्य सत्यों के तर्क की विवेचना करके ही सब से अच्छे ढंग से कर सकते हैं। पाली संहिताओं

के अनुसार बुद्ध ने बनारस में जो सर्व प्रथम उपदेश दिया उसका विषय ये चार सत्व ही थे। इस समय हमें इन सत्वों के विषय में जो विवरण मिलता है कहा जाता है कि वह समष्टिरूप में इस उपदेश की एक बाद वाली अवस्था का निरूपण करता है -- यह उपदेश 'भिक्षुओं के भ्रमपूर्ण मतों' का परिणाम है। इसका तात्पर्य यह है कि जीवन दुःखमय है; और उनका मुख्य उद्देश्य यह बताता है कि किस प्रकार उसको अभिभूत कर दिया जाय। इन आर्य सत्वों पर विचार करने पर पता चलता है कि ये वैद्यों की रोग चिकित्सा के अनुरूप हैं—रोग का लक्षण निश्चित करना; रोग का निदान (कारण) ढूँढ़ना और उपयुक्त साधनों की सहायता से उसकी चिकित्सा करना। वे सत्व ये हैं :—

(१) जीवन दुःखमय है (दुःखम्) :—यहाँ जैसा कि दिखाया जा चुका है जीवन की तुलना रोग के साथ की गई है। इससे यह सूचित होता है कि इसकी संपूर्ण शिक्षा नैराश्यवाद पर ही आश्रित है। यह बौद्ध भिक्षुओं के प्रभाव की ओर संकेत करता है। परन्तु इस मत के बाद वाले स्वरूप में भी दुःख को जीवन में परमतथ्य के रूप में नहीं लेना चाहिए। इसके नैराश्यवाद का यह अर्थ है कि जीवन दुःख और आपत्तियों से पूर्ण है; किन्तु वह स्वयं दुःखमय नहीं है वरन् केवल उस रूप में ही है जिस रूप में साधारणतया जीवन व्यतीत किया जाता है। ऐसा इसलिए है कि इस सिद्धान्त में हमें यह आशा दिलाई जाती है कि दुःख का निर्वाण की अवस्था में पूर्णतया निवारण हो सकता है और यह निर्वाण यदि कोई चाहता है तो इस जीवन में ही प्राप्य है।

(२) अविद्या इन दुःखों का कारण है (दुःखसमुदयः)—दुःख का मूल अविद्या में अथवा आत्मा के वास्तविक रूप को न जानने में है। साधारणतया हम यह मान लेते हैं कि आत्मा कोई ऐसा पूर्ण अन्तस्तत्व है जो इन्द्रियों के आयतन भूत शरीर से भिन्न है और हमारा यह विश्वास है कि इस आत्मा का अस्तित्व केवल उस समय तक

के लिए ही नहीं है जब तब कि अंगी (Organism) का अस्तित्व है वरन् वह उसके बाद तक रहता है। संहिताओं अथवा त्रिपिटकों के बौद्ध मत के अनुसार यह एक भारी भूल है और नाम तथा रूप के संघात के अतिरिक्त कोई आत्मा नहीं है। कभी कभी तो यह कहा जाता है कि यह केवल इन्हीं दो तत्वों का नहीं बल्कि पांच तत्वों का (जिन्हें स्कन्ध कहते हैं) बना है। उनमें से एक तो भौतिक शरीर (रूप) का और अन्य मन अथवा चेतन तत्व (नाम) की विभिन्न अवस्थाओं--ज्ञान और सवेदन—का चित्रण करते हैं। इससे यह प्रकट होता है कि विश्लेषण की भावना का अधिकाधिक प्रचार होता गया। संघात के रूप में चाहे इसे दो तत्वों का संघात माना जाय चाहे पांच का आत्मा है अनित्य ही। इसमें निरन्तर परिवर्तन होता रहता है और निर्वाण की दशा में इसका अस्तित्व नहीं रहता। साधारण-तया जिस प्रकार का जीवन व्यतीत किया जाता है उसमें जीवन की आधिव्याधि का क्या कारण है? यह स्पष्ट करने के लिए यह बताया जाता है कि आत्मा मिथ्या है। अतएव उसके वास्तविक स्वरूप के अज्ञान के फलस्वरूप उसमें आसक्त रहने से ही दुःख होता है। इस प्रकार बौद्ध मत में आत्मा के स्थिर माने गये स्वरूप के विरोध में पहले तो यह प्रतिष्ठापित किया गया कि आत्मा परिवर्तनशील है किन्तु कालान्तर में आत्मा का यथार्थतः खण्डन ही किया जाने लगा। हाँ, इतना और कह देना चाहिए कि इस सिद्धान्त का क्षेत्र और विस्तृत कर दिया गया और यह अन्य दृष्टान्तों में भी लागू होने लगा। इसका परिणाम यह निकला कि केवल आत्मा ही नहीं वरन् समस्त वस्तुएँ ही क्रम से अपने अपने अवयवभूत भागों का संघातमात्र मानी जाने लगीं। उदाहरण-तया, रथ अपने पहियों, बमों आदि के समूह के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यह मत नैरात्म्यवाद के नाम से प्रख्यात है।

(३) दुःख का निरोध हो सकता है (दुःख निरोधः):—

इस दुःख का निवारण सम्भव है, क्योंकि यह कार्य (कृतक) है और इस मत के अनुसार जो कुछ भी कार्य (कृतक) होता है वह निवार्य होता है। कारणों के उपस्थित होने पर काम समुत्पन्न होता है और यदि उनमें से एक को हटा दिया जाय तो दूसरा भी अनिवार्यतः नहीं रह सकता। जीवन का कार्य दुःख है यह बात द्वादश कार्य कारण की कड़ियों के द्वारा भली-भांति प्रदर्शित की गई है। ये "प्रतीत्य समुत्पाद" (कार्य कारण की शृंखला) के नाम से प्रख्यात है। इनमें सर्व प्रथम आत्मा के वास्तविक रूप का अज्ञान अथवा अविद्या है। इससे यह ध्वनित होता है कि औपनिषद मत की भांति इसमें भी दुःख को मूलतः अतिभौतिक रूप दिया गया है। शेष ग्यारह में से केवल तृष्णा, मरण और जन्म इन तीन का उल्लेख करना ही पर्याप्त होगा। अर्थात् अविद्या के कारण मनुष्यों में वस्तुओं के प्रति ममत्वपूर्ण तृष्णा का उदय होता है और अतृप्त तृष्णाएं मृत्यु के पश्चात् फिर जन्म का कारण होती हैं। जन्म-मृत्यु के अनवरत चक्र का ही अन्त करना चाहिए। इसका फल होता है निर्वाण। इसी कारण कहा जाता है कि निर्वाण अविद्या का अन्त होता है। इसी को हम तृष्णा अथवा जन्म और मृत्यु का अन्त कहते हैं। इस प्रकार यहां जीवन के लक्ष्य को बिलकुल अभावात्मक माना गया है यद्यपि बुद्ध के मौलिक उपदेश में इसका अर्थ था अमर आत्मा के विक्षेप आदि उपद्रवों का दमन करके आत्मा का पूर्ण विकास करना। ऐसा विश्वास था कि जो व्यक्ति इस संसार चक्र का विच्छेद कर चुका है वह इसी जीवन में निर्वाण के अगाध आनन्द और शांति की अवस्था को प्राप्त कर सकता है और उसको जैन मत की भांति हीं अर्हत् अथवा 'योग्य' कहते हैं। मूलतः कार्य कारण शृंखला का जो आधारभूत सिद्धान्त था उसका प्रवर्तन संसार में दुःख का क्या कारण है यह समझाने के लिए ही किया गया था। बाद में उसका क्षेत्र विस्तृत कर दिया गया और वह भौतिक अथवा मानसिक सभी प्रकार

के पदार्थों में लागू होने लगा। इसी तरह उन पदार्थों को भी कार्य (कृतक) माना जाने लगा और इस कारण वे अन्ततः उच्छेद्य माने जाने लगे। इसको भूत-अनित्यत्व का सिद्धान्त कहते हैं।

(४) सम्यक ज्ञान दुःख निरोध का उपाय है (दुःख निरोध-गामिमी प्रतिपद्):—ज्ञान अज्ञान का प्रतिपत्ती है, अतएव आत्मतत्व के ज्ञान से दुःख का निवारण हो जायगा। उस ज्ञान से हमारा यह तात्पर्य है कि उसके विषय में हमें आन्तरिक रूप से ही दृढ़ प्रत्यय हो जाय। यदि हम चाहते हैं कि हमें इस विश्वास की प्राप्ति इतने दृढ़ रूप से हो कि उसका हमारे जीवन पर पूरा-पूरा प्रभाव पड़ सके तो उसके लिए हमें चिर काल तक संयम और साधना करने की आवश्यकता है। बुद्ध ने सम्यक चरित्र पर जो जोर दिया था (जैसा हम पहले ही कह चुके हैं) वह हमें यहां देखने को मिलता है। परन्तु जिस दिशा में इस मत के विकास की प्रवृत्ति दिखाई देती है उससे साम्य रखते हुए अब सारा जोर प्रज्ञा और मुख्यतः चारों आर्य सत्वों के संयम (योग) पर दिया जाने लगा। यहां तक कि जहां चरित्र पर जोर दिया गया है, वहां भी कठोर संयम और त्याग की भावना मिलती है; यद्यपि जैन मत की तुलना में यह कम कठोर है। उन अनुयायियों के लिए जो साधना में काफी आगे बढ़ चुके हैं कठोर आत्मसंयम का विधान किया गया है परन्तु साथ ही जीवन के लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उतावले होकर किसी भी प्रकार के आत्मोत्पीड़न का आश्रय लेने से उन्हें रोका गया है। इसमें 'मध्यम प्रतिपदा' अथवा मध्यम मार्ग का उपदेश दिया गया है। कहा जाता है कि बोधि प्राप्ति के पूर्व स्वयं बुद्ध ने इसी प्रकार के मार्ग का अनुसरण किया था। सम्यक् शील, सम्यक् प्रज्ञा, और सम्यक् समाधि ये तीन संयम के प्रमुख अङ्ग हैं। इस संयम के पांच और अङ्ग हैं, अतएव यह अष्टाङ्गिक नाम से प्रख्यात है। किन्तु उन सब का उल्लेख करना यहां

अपेक्षित नहीं है। यहां इतना और कह देना चाहिए कि यह संयम पूर्ण रूप से तो केवल उन लोगों के लिये है जो भिक्षुओं के संघ में प्रवेश करते हैं। जैन मत की भांति यहाँ भी साधारण धर्मावलम्बियों के लिए कम कठोर संयम का विधान था।

(३)

बौद्ध मत के इतिहास की दो अवस्थाओं का सिंहावलोकन हमने अभी-अभी सरसरी तौर पर किया और यह भी देखा कि उनमें एक दूसरे से कितना अधिक अन्तर है। दूसरी अवस्था में इसके सब से अधिक उल्लेखनीय लक्षणों में एक यह है कि यह भारत की सीमा के बाहर चीन और जापान जैसे दूर-दूर के देशों में भी फैला। उन देशों में मिलने वाले बौद्ध मत में एक ऐसा विशेष लक्षण मिलता है जो जैन मत के समान है। वह यह है कि दया (करुणा) पर उसमें अधिक जोर दिया गया है। इससे ही दानादि की वृद्धि में अत्यधिक सहायता मिली। इसी सम्बन्ध में जापान का उल्लेख करते हुए आधुनिक काल का एक लेखक लिखता है, "स्पार्टानगर निवासियों में अब भी यही सब से अधिक प्रभावशाली बात है कि जिससे दया का प्रचार है।" बौद्ध मत का बहुत से छोटे-छोटे सम्प्रदायों में विभाजित हो जाना भी उसी प्रकार का एक दूसरा लक्षण है। हम देखते हैं कि उसके भारत में ही बहुत छोटे-छोटे सम्प्रदाय हो गये, अतएव विभिन्न शाखाओं में बँट जाने का दोष उसके विदेशी धर्मों के संसर्ग में आने पर थोड़े भी अंश में नहीं मढ़ा जा सकता। अपने उद्देश्य के लिए तो हमें इस मत में उठने वाले केवल एक स्थूल भेद की ओर ध्यान देना ही काफी होगा। यह भेद हीनयान और महायान नाम से प्रख्यात सम्प्रदायों का है। सम्भवतः यह भेद किसी-किसी रूप में तो इस अवस्था से अधिक प्राचीन है। हीनयान और महायान इन दोनों शब्दों

से क्या तात्पर्य निकलता है यह यथार्थतः ज्ञात नहीं। सम्भवतः इनका अर्थ क्रमशः निकृष्ट मार्ग और उत्कृष्ट मार्ग है। कालानुक्रमिक दृष्टि से कौन पहले आया और कौन बाद में और यह भी कि बुद्ध के उपदेशों के साथ उनका यथार्थ सम्बन्ध क्या है, अनिश्चित ही है। इन मतों को प्रस्तुत करते समय हम मुख्यतया 'भारतीय ग्रन्थों में मिलने वाले विवरण के अनुसार चलेंगे—विशेषतया हिन्दू और जैन लेखकों के ग्रन्थों के अनुसार। कुछ ऐसी बातें भी हैं जो दोनों ही मतों में समान हैं। उन पर पृथक-पृथक रूप से विचार करने के पूर्व हम उनमें से सब से अधिक महत्त्वपूर्ण बातों का उल्लेख करेंगे।

इसको क्षणभङ्गवाद का सिद्धान्त कहते हैं क्योंकि इस में यह प्रतिपादित किया जाता है कि कोई भी सत् पदार्थ एक क्षण से अधिक स्थिर नहीं रहता। हम देख चुके हैं कि संहिताओं के बौद्ध सिद्धान्तों में समस्त पदार्थ अनित्य माने गये थे। यह सिद्धान्त अब और आगे बढ़ा दिया गया और यह प्रदर्शित करने का प्रयत्न किया गया कि किसी वस्तु के इतिहास में केवल उत्पत्ति और विनाश का ही भेद है और जन्म के पश्चात् वह एक क्षण के लिए भी स्थिर नहीं रहती। यही लीजिए कि एक वस्तु की उत्पत्ति एक क्षण में होती है तो उसका अस्तित्त्व दूसरे क्षण नहीं रहेगा। यहां इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करने वाले तर्कों का सविस्तार उल्लेख करना सम्भव नहीं है। हम केवल इतना ही कहेंगे कि इसके अनुसार परमतत्व, चाहे उसे भौतिक माना जाय अथवा आध्यात्मिक, प्रवाहरूप अथवा संतान रूप है। इसका कारण यह है कि उसकी जितनी भी अवस्थाएँ हो सकती हैं उनमें से ऐसी एक भी नहीं होती जो स्थिर हो। इसी कारण स्थायित्व के जो भी प्रत्यय हमें होते हैं वे सब भ्रम मात्र ही होते हैं। कहा जाता है कि "एक ही जल-प्रवाह में कोई मनुष्य दो बार स्नान नहीं कर सकता" क्योंकि दो क्षणों में जल-प्रवाह एक सा

नहीं रहता। वस्तुएँ सतत् परिवर्तित होती रहती हैं। यहां तक कि जब एक वस्तु किसी अन्य वस्तु में परिवर्तित नहीं हो रही है वह तब भी स्थिर नहीं है वरन् अपने को निरन्तर नवीन स्वरूपों में परिवर्तित करती जा रही है। इसलिए इसको दीपक की लौ की भाँति ही निरन्तर एक के बाद दूसरे आने वाले समान स्वरूपों का एक संतान माना गया है।

हमारे पूर्व वर्णन में यह दिखाया गया है कि यद्यपि बौद्ध मत में परमतत्त्व को एक संघातमात्र माना गया है तब भी उसमें न तो बाह्य पदार्थ को और न आत्मा को अस्वीकार किया है (सर्वास्तिवाद)। इसमें दोनों को ही स्वीकार किया गया है और इसलिए ज्ञान-मीमांसा विषयक इसके सिद्धान्त पूर्णतया वस्तुवादी हैं। बौद्धमत के हीनयान संप्रदाय में यह लक्षण चला आया है किन्तु क्षणभङ्गवाद की नवीन कल्पना के अनुरूप इसमें स्वभावतः ही कुछ घटा बढ़ा दिया गया है। परिमाण-स्वरूप न तो बाह्य तत्त्व और न ही आत्मा एक क्षण से अधिक स्थिर रहते हैं। परन्तु ऐसा विश्वास है कि प्रत्येक वस्तु संतान रूप में चाहे कितने ही समय के लिए स्थित रह सकती है। इससे यह अवश्य होता है कि, जैसा कहा जा चुका है, उस संतान के विविध सदस्यों में से एक होने के कारण हमें एकत्व या एक ही होने का भ्रम हो जाता है। किन्हीं भी दो क्षणों में दीपक की लौ एक ही प्रतीत होती है परन्तु वस्तुतः उसका तात्पर्य उसकी दो पृथक अवस्थाओं से है और इन अवस्थाओं में कोई तात्विक एकत्व नहीं है। दूसरे शब्दों में उसके परिणाम तो हैं किन्तु ऐसा कुछ नहीं है जो नित्य रहे। यहां बौद्ध मत तथा जैन मत में पाया जाने वाला प्रतिवाद हमारे देखने में आता है। इसका कारण यह है कि जैन मत में एकत्व और समानता दोनों को ही स्वीकार किया गया है। दोनों ही मतों में परिवर्तन को माना जाता है किन्तु जहां एक में वह आंशिक रूप से लिया गया है दूसरे में पूर्ण रूप से।

जब हमारे ध्यान में यह आता है कि बौद्ध मत में किसी नित्य रहने वाले तत्त्व का निराकरण किया गया है तो हमारी समझ में यह आ जाता है कि बौद्ध मत में आत्मा को प्रत्ययों का संतान समझना चाहिए (यहां हम आत्मा के अङ्गभूत भौतिक तत्वों को थोड़ी देर के लिए विचार में नहीं लाते हैं)। ऐसी दशा में प्रश्न यह उठता है कि फिर बौद्ध 'स्मृति' आदि के विषय में, जिनका सम्बन्ध अतीत क्षणों से रहता है, क्या कहेंगे। इसका उत्तर यह दिया जाता है कि जब प्रत्यय विशेष, जिसे तत्कालीन आत्मा माना जाता है, नष्ट हो जाता है तो वह अपने पीछे एक प्रकार का संस्कार छोड़ता जाता है और दूसरे क्षण में प्रत्यय संतान में जो दूसरी आत्मा अस्तित्व में आती है उसे उस संस्कार के द्वारा उसका ज्ञान मिल जाता है। इस प्रकार एक दूसरे के द्वारा उस प्रवाह में स्मृति रूप से ज्ञान मिलता रहता है। अर्थात् यद्यपि मनुष्य की आत्मा किसी क्षण विशेष में पूर्व क्षण वाली आत्मा नहीं रहती तथापि उससे नितान्त भिन्न भी नहीं रहती है। इस सूक्ष्म अन्तर द्वारा यद्यपि इस पर अधिक विश्वास नहीं जमता किन्तु इससे व्यक्ति विशेष पर उसके किए कार्यों के फलस्वरूप लागू होने वाले नैतिक उत्तरदायित्व की व्यवस्था कायम रहती है। दण्ड भोगने वाला अपराधी भले ही वही व्यक्ति न हो तब भी वह दण्डनीय है क्योंकि क्रम से अपराधी का 'संतान' मात्र होने के कारण उसे अन्य नहीं समझा जा सकता।

जहाँ तक बाह्य पदार्थों की सत्यता का सम्बन्ध हैं समझा तो उसे भी क्षणिक जाता है संतान अथवा प्रवाह के प्रत्येक सदस्य जिनसे मिल कर वह पदार्थ बनता है "स्वलक्षण" कहलाते हैं। स्वलक्षण कहलाने का अर्थ है "अपनी ही तरह" अथवा "अपूर्व"। यह एक विशेष मात्र के लिए आता है। यदि इस विशेष को 'नील' अथवा 'मधुर' आदि किसी अन्य गुण से किसी प्रकार भी विशिष्ट माना जाना है तो वह भ्रम मात्र है। गुण अथवा कर्म जैसी सामान्य विशेष-

ताओं के द्योतक विधेय सामान्य लक्षण कहलाते हैं। वस्तुतः वे मन के विकल्प मात्र हैं जो वाह्य वस्तुओं पर आरोपित हुये से प्रतीत होते हैं और वे हमारे विचारों के प्रतिरूप होते हैं न कि वाह्य जगत के जिन पर हम उन्हें आरोपित करते हैं। जैनमत में ऐसे लक्षणों के विषय में माना जाता है कि वे वास्तव में वाह्य अर्थ का स्वभाव-निर्देशन करते हैं अतः बौद्धमत का इससे जो वैपरीत्य है वह यहाँ फिर स्पष्ट हो जाता है। स्वलक्षण वाह्यार्थ के परम आधार हैं। उनके विषय में यह माना जा सकता है कि वे वर्ण अन्यथा स्वाद और ऐसे ही इन्द्रियों को होने वाले प्रत्यक्ष के आनुमानिक आधार हैं, केवल ध्यान में यह रखना है कि ये क्षणिक संवेदन एक एक का विशेष उदाहरण लेने पर केवल नील अथवा मधुर होते हैं 'नीलत्व' अथवा 'मधुरत्व' से विशिष्ट नहीं। ये स्वलक्षण वाह्य जगत के आधारभूत परमतत्व हैं। इनकी संख्या अनन्त है। इसीसे इस मत में वाह्य पदार्थ की जो भावना की गई है उसके अनुसार उसे विशेषों का सतान अथवा संघात कहते हैं। ये विशेष वस्तुतः समस्त गुणों से शून्य होते हैं किन्तु लगता है मानो वे गुणयुक्त हों।

यहाँ तक तो हमने बौद्धमत के हीनयान सम्प्रदाय के विषय में कहा। महायान के सिद्धान्तों का निरूपण दो सम्प्रदायों में किया गया है जो दोनों ही प्रत्ययवादी हैं। योगाचार कहे जाने वाले सम्प्रदाय के अनुसार ज्ञान किसी भी बाह्य अर्थ का संकेत नहीं करता। यहाँ केवल आत्मा (चित्त) को माना जाता है और वह भी बहुत कुछ हीनयान सम्प्रदाय की भांति ही प्रत्यक्ष-संतान के रूप में। परन्तु यह नहीं माना जाता कि इन प्रत्ययों का कोई बाह्य विषय पक्ष भी है। इस प्रकार इस मत में परमतत्व प्रत्यक्ष मात्र अथवा विचार मात्र माना जाता है। इस कारण इसे विज्ञान-वाद अथवा विचार को ही एकमात्र सत्य मानने वाले सिद्धांत की संज्ञा दी गई है। इस मत को प्रतिष्ठापित करने वाल

मुख्य तर्क इस बात पर आश्रित हैं कि ज्ञान और अर्थ में नित्य सम्बन्ध पाया जाता है। ऐसा कोई ज्ञान नहीं होता जो किसी अर्थ का संकेत न करता हो और ऐसा कोई अर्थ नहीं है जो ज्ञेय रूप के अतिरिक्त किसी अन्य रूप में ग्राह्य हो। उनके इस अनिवार्य सम्बन्ध से यह प्रकट होता है कि उन्हें पृथक रूप में होने की कोई आवश्यकता नहीं और ठीक तो यही मालूम पड़ता है कि तथाकथित पदार्थ स्वयं ज्ञान का ही एक रूप माने जा सकते हैं। अर्थ क्या है? इस विषय की विवेचना करते हुये इस मत में यह कहा गया है कि वह चित्त की अवस्थाएं अथवा स्वरूप विशेष ही है। ध्यान रखने की बात यह है कि यह चित्त शब्द उसी दशा में प्रयुक्त किया जा सकता है जब विचार-संतान के लिए उसका प्रयोग किया जाय। विचार-संतान ही इस मत में आत्मा के लिए आता है। यही इस सम्प्रदाय का प्रत्ययवाद है। पूर्वानुभव द्वारा पड़ी हुई पहली वासनाओं के पुनरुज्जीवित होने के कारण ही चित्त इन स्वरूपों का आकार ग्रहण कर लेता है। प्रत्यक्ष की विविधता का कारण समझाते हुए यह कहा जाता है कि यह विविधता प्रत्यक्षभूत अर्थ की विविधता के कारण न होकर पुनरुज्जीवित वासनाओं के स्वभाव-वैभिन्य के कारण होती है।

इस प्रकार का विवेचन सुनने में विलक्षण भले ही लगे क्योंकि यह कहा जा सकता है कि कम से कम आदि वासना तो अवश्य ही किसी बाह्य अर्थ के कारण होती होगी। परन्तु इस आक्षेप का निराकरण करने के लिए दो तर्क हैं। पहला तो यह कि काल की दृष्टि से इन वासनाओं का कोई आदि भी है इस बात का खण्डन किया जाता है। वे यथार्थतः अनादि है। दूसरे यह कहा जाता है कि ये वासनाएँ बाह्य-अर्थ के कारण होने वाले यथार्थ ज्ञान मात्र से ही चित्त पर नहीं जम जाती जैसा सामान्यतया सोचा जाता है वरन् भ्रम के कारण भी उदाहरणतया किसी प्रेत का कल्पित प्रत्यक्ष। यह सोचना कि चित्त की प्रत्येक वासना का कारण अन्ततो-

गत्वा एक ऐसे बाह्य अर्थ के रूप में पाया जा सकता है जो वस्तुतः सत् है एक तरह से साध्य को ही स्वीकार कर लेना होगा। अस्तु, यदि किसी एक वासना-संतान का आदि हो भी तो उससे इस बात की स्थापना नहीं होती कि अतीत में किसी समय उस वासना के अनुरूप किसी वस्तुतः सत् अर्थ का अस्तित्व था।

यह मत उस सिद्धान्त के समान है जिसे आधुनिक (पाश्चात्य) दर्शन में 'विषयि सापेक्ष प्रत्ययवाद' (Subjective idealism) या विषयि सापेक्षत्ववाद (Subjectivism) कहते हैं। इसके विरुद्ध सबसे मुख्य आक्षेप यह लगाया जाता है कि इसमें सब प्रकार के अनुभवों को स्वप्नों के समक्ष ला खड़ा किया गया है। दूसरे शब्दों में इसमें सत्य और भ्रम के बीच रहने वाले अनुभव को मिटा ही दिया गया है क्योंकि दोनों में ज्ञान के अतिरिक्त बाहर किसी अर्थ को नही माना गया है। परन्तु आक्षेपों से अपनी रक्षा करने की इस पक्ष में बहुत कम सम्भावना है। स्वप्न के मिथ्यात्व का अनुमान तो हम जाग्रत अवस्था के अनुभवों से उनकी तुलना करके कर सकते हैं। यदि हम यह कहते हैं कि इस अवस्था के अनुभव भी मिथ्या हैं तो प्रश्न यह उठता है कि किस अवस्था के अनुभवों के बल पर इनको मिथ्या ठहराया जाता है। इसके उत्तर में योगाचार चाहे जो कहें उनके पक्ष की रक्षा किसी प्रकार हो नहीं सकती। इसका कारण यह है कि या तो उन्हें यह मानना पड़ेगा कि इस (जाग्रत अवस्था के मिथ्या) ज्ञान से उत्कृष्टतर भी एक ज्ञान है जो मिथ्या नहीं है अथवा यह कि जाग्रत अवस्था का अनुभव ही स्वयं सत्य है। फिर बाह्य अर्थ को अस्वीकार करने के परिणाम स्वरूप एक अन्य कठनाई उपस्थित होगी वह यह कि विज्ञानवादी को अपनी आत्मा (चित्त) के अतिरिक्त दूसरी सब आत्माओं (चित्तों) को अस्वीकार करना होगा क्योंकि यदि बाह्य-भौतिक अर्थ में विश्वास करने का कोई अर्थ नहीं है तो दूसरे व्यक्ति के अस्तित्व में विश्वास किया भी जाय तो वह इसके

अतिरिक्त किसी अन्य रूप में नहीं किया जा सकता कि वे भी हमारे स्वप्न के ही अंग हैं। इस प्रकार यह मत केवल एक आत्मा को ही और उसके अतिरिक्त प्रत्येक वस्तु को कल्पना मात्र मानने वाला सिद्धान्त (Solipsism) हो जायगा। यह तो स्पष्ट ही है कि इस प्रकार के सिद्धान्त को यद्यपि तर्क रूपेण गलत तो सिद्ध नहीं किया जा सकता तथापि उसका परिणाम यह होता है कि जिन पूर्व-स्वीकरणों को मान कर हम व्यवहारिक जीवन व्यतीत करते हैं वे बेतुके से हो जाते हैं और फिर इस प्रकार समस्त दार्शनिक विवादों की ही समाप्ति हो जाती है।

बौद्धमत का प्रत्ययवाद के पक्ष में जो दूसरा विकास हुआ है वह शून्यवाद नामक माध्यमिकों का सम्प्रदाय है। इसमें इसी बात को अस्वीकार नहीं किया गया है कि वाह्यार्थ सत् हैं वरन् आत्मा अथवा चित्त का भी निषेध किया गया है। इस निर्णय का समर्थन करने के लिए इस मत में यह कहा जाता है कि भौतिक और मनस्-तत्व सम्बन्धी दोनों ही प्रकार की वस्तुओं का जो प्रत्यय हमें प्राप्त होता है उसमें पारस्परिक विरोधों की भरमार रहती है और इसलिए उन्हें सत्य नहीं माना जा सकता। इस सम्बन्ध में जो कई तर्क उपस्थित किए जाते हैं उनमें से हम एक का उल्लेख करेंगे। यह कार्य-कारण सम्बन्धी बौद्धमत पर आश्रित है। इसके अनुसार, जैसा कि हम जानते हैं, ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है जो अनुत्पाद हो और माध्यमिक यह कहते हैं कि किसी ऐसी वस्तु की जो उत्पत्तिशील हो कल्पना नहीं की जा सकती, चाहे हम उस वस्तु को उत्पत्ति के पूर्व सत् मानें अथवा असत्। पहली दशा में तो उसकी उत्पत्ति की आवश्यकता ही नहीं होती क्योंकि वह तो है ही और दूसरी दशा में उसको उत्पन्न करना ही असम्भव है क्योंकि जो है ही नहीं उसे सत् नहीं बनाया जा सकता है। इसका अर्थ यह है कि कार्य कारण सम्बन्ध का प्रत्यय ही भ्रम है और इस कारण कि बौद्धमत के अनुसार कोई भी पदार्थ स्थिर नहीं है हमें

विवश होकर इसी निर्णय पर पहुँचना पड़ता है कि समस्त विश्व भ्रांतिमय और आत्म विरोधी है। इस सम्प्रदाय के सर्वश्रेष्ठ आचार्य कहते हैं, "न तो सत् है, न निरोध है, न बन्ध है, और न उससे मोक्ष ही है।" इसीलिए इस मत को शून्यवाद कहते हैं।

परन्तु यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि सारे अनुभव को भ्रम मात्र ठहराने वाला उपर्युक्त विवेचन केवल परम दृष्टि से ही किया गया है। इस मत में विषयी और विषय दोनों को ही एक प्रकार के सत्य (संवृति-सत्य) की कोटि में पहुँचा दिया जाता है। दैनिक जीवन के क्रिया कलाप की सापेक्ष दृष्टि के अनुसार ही उन्हें सत्य माना जाता है। यहाँ यह स्वीकार नहीं किया जाता कि हममें ज्ञान-भावना संवेदन और क्रिया की शक्ति है, केवल यही प्रतिपादित किया जाता है कि अन्ततोगत्वा उसका कोई तात्त्विक मूल्य नहीं है क्योंकि सब कुछ शून्य ही है। यही कारण है कि यदि इसको प्रत्ययवाद के बजाय सापेक्षत्ववाद (Relativism) की संज्ञा की जाय तो इसका स्वरूप अधिक स्पष्ट होगा। किन्तु जैसा हमने जैनमत के विषय में भी किया था हम यहाँ भी यह पूछ सकते हैं कि जब माध्यमिक किसी पूर्ण परमतत्व को मानते ही नहीं हैं तो क्या वे सापेक्षता के विषय को उठाने के अधिकारी हैं? इसके अतिरिक्त आत्मा अथवा चित्त का पूर्ण निषेध करना असम्भव है, क्योंकि चैतन्यमात्र के अभाव के विषय में विचार करना ही स्वयं चैतन्य की एक अवस्था है और इसलिए यह चित्त के सतताभिनिवेश (Persistence) अथवा अनिषेधात्मकत्व का संकेत करती है।

× हमने माध्यमिक सम्प्रदाय के विषय में कहा है कि वह यह प्रतिपादित करता है कि शून्य अथवा आत्मा का अभाव ही परम तत्व है। हिन्दू और जैन दोनों ने ही हमेशा इसको इसी रूप में निरूपित किया है। परन्तु जिन आधुनिक विद्वानों ने इस सम्प्रदाय का अध्ययन किया

है उनमें से अधिकांश का तो यही मत है कि शून्य का अर्थ यहाँ इतना ही है कि पूर्ण नितान्त अनुभव-अगम्य होने के कारण ऐसा प्रतीत होता है जैसे कि कुछ भी न हो। माध्यमिकों ने परमतत्व की जो व्याख्या की है यह भी इसी मत का समर्थन करती है (यह व्याख्या जैनमत की व्याख्या के ठीक विपरीत है)। माध्यमिकों के अनुसार "वह न तो सत् है, न असत् है, न सदसत् और न नसन्नासत (नसत् + नासत्) ही है। वह समस्त विचारार्थ कोटियों से मुक्त है। इस निषेध में असत् भी लिया गया है और इस कारण परम तत्त्व को बुद्धि-शक्ति के बिलकुल परे मानना पड़ता है न कि सर्वथा असत्। वस्तुतः इस प्रकार की व्याख्या इस मत में तर्क की दृष्टि से स्वयं ही निहित है। इसका कारण यह है कि बिना भावात्मक तत्व की अवधि माने पदार्थमात्र का निषेध ही विचारशक्ति में नहीं आ सकता। इस व्याख्या के अनुसार यह मत अन्त में चलकर सापेक्षत्ववादी नहीं रहता क्योंकि इसमें एक पूर्ण और परमतत्त्व को स्वीकार किया गया है— भले ही उसे माना अनिर्वचनीय ही क्यों न जाता हो। यह कहा जा सकता है कि उपर्युक्त विवरण में उल्लिखित प्रत्येक जीव के अहंकार और जीवों में उसके कारण उठने वाले प्रत्ययों के अतिरिक्त एक अविच्छिन्न चेतन अथवा परम आत्मा को योगाचार सम्प्रदाय ने भी माना है, यह दिखाने के लिए प्रमाण हैं। इन वैकल्पिक व्याख्याओं के अनुसार महायान सम्प्रदाय में जीवन का लक्ष्य पूर्ण तत्त्व से तदाकार हो जाना है न कि पूर्ण आत्मोच्छेद जैसा कि अन्यथा (हिन्दू और जैन निरूपण को मानने पर) होता है। यह उसी प्रकार है जैसा कि सामान्यतया हीनयान सम्प्रदाय के अनुसार है।

अब हम परम लक्ष्य की ओर ले जाने वाले आचार और संयम के व्यवहारिक पक्ष पर विचार करेंगे। हीनयान मत की आचार मीमांसा यथार्थतः वही है जो बौद्ध धर्म की प्राचीन संहिताओं में मिलती है; परन्तु बौद्धमत के महायान सम्प्रदाय ने दो मुख्य बातों में इसमें अत्यधिक परिवर्धन कर दिया है। व्यक्तिगत रूप से केवल अपने

लिए ही निर्वाण प्राप्त कर लेना अब जीवन का परम लक्ष्य न रहा। अपने निर्वाण से ही संतुष्ट बने रहने के स्थान पर बोधि प्राप्त करने में सफल मनुष्य से यह आशा की जाने लगी कि वह साथ के दूसरे मनुष्यों के कल्याण के लिए भी कार्य करे [इसका शाब्दिक अर्थ है बोधि (ज्ञान) सत्व (प्राणी)]। इस बोधिसत्व के आदर्श में परोपकार पर अधिक जोर दिया गया है इस प्रकार वह अर्हत् के आदर्श से कहीं श्रेष्ठ है क्योंकि वह पूर्णतया नहीं तो मुख्यतः तो अवश्य ही केवल अपने ही निर्वाण से सरोकार रखता है। कितने ही पूर्व-जन्मों में बुद्ध बोधिसत्व के रूप में निरूपित किए गये हैं। इस आदर्श के जो विशेष लक्षण दया और अनुकम्पा हैं उनका परिचय हम एक उक्ति का उल्लेख करके ही अच्छी तरह दे सकते हैं। परम्परा इसे बुद्ध की उक्ति ही ठहराती है। वह उक्ति यह है कि वे सब के दुःखों के बोझ को बड़ी ही प्रसन्नता से झेलने को प्रस्तुत हैं यदि वे इसके द्वारा संसार में सुख ला सकें। दूसरे जहाँ हीनयान नास्तिक मत का प्रतिपादक था और बुद्ध को तत्वतः मानवमात्र मानता था—यद्यपि उन्हें मानता अलौकिक-शक्ति-सम्पन्न रूप में ही था – वहाँ महायान शनैः शनैः उन्हें पूजने लगा और उनकी श्रद्धापूर्ण पूजा को निर्वाण के साधन रूप में स्वीकार करने लगा। इन विकसित स्वरूपों में बौद्ध मत का महायान सम्प्रदाय आस्तिकवादी हिन्दू धर्म से बहुत काफी प्रभावित हुआ।

चौथा परिच्छेद

न्याय वैशेषिक

हम दो विभिन्न विचारधाराओं के विषय में कह आये हैं। इनमें एक का उद्गम तो वेद है और दूसरी विचारधारा का जन्म इस विरोध में हुआ है। इस दूसरी विचारधारा के जो बहुत से रूप हुए उनमें से बहुत ने कालान्तर में धर्म जैसे महत्त्वपूर्ण विषयों में वेद को प्रमाण माना, अतः वे पहले वाली विचारधारा से मिल गये। जहाँ तक उनके सामान्य अतिभौतिक स्वरूप का प्रश्न है वे अपने मौलिक सिद्धान्तों के अनुरूप ही रहे, किन्तु सैद्धान्तिक पक्ष के इस भेद का कोई अधिक महत्त्व नहीं है क्योंकि जैसा कि हम देख चुके हैं कि वेदों—और उसमें हम उपनिषदों को भी ले लेते है—में प्रतिपादित मत बहुत व्यापक था और उसमें द्वैत और अद्वैत अथवा वस्तुवाद और प्रत्ययवाद जैसे विरोधी मतों का समन्वय था। जो नास्तिक मत बाद में आस्तिक हो गये उनमें एक वैशेषिक भी है। कुछ ग्रन्थों को छोड़कर इस मत का प्रतिपादन स्वतन्त्र रूप से कहीं भी नहीं पाया जाता और साधारणतः यह मत न्याय नाम से प्रसिद्ध मतान्तर से समन्वित मिलता है। यह बात बिल्कुल स्पष्ट समझ में नहीं आती कि यह मत भी आरम्भ में वेद से पूर्णतया स्वतन्त्र था या नहीं। सम्भवतः वह स्वतंत्र नहीं था क्योंकि न्याय शब्द का सामान्य अर्थ होता है 'तर्क' अथवा 'निर्णय' जिससे ऐसा मालूम पड़ता है कि वैदिक मत की व्याख्या और उसके प्रतिपादन के सम्बन्ध में इस मत का जन्म हुआ। विश्लेषण की उपयोगिता और तर्क की प्रमाणिकता में विश्वास ही वह विशेषता है जो इसे दूसरे मत से पृथक करती है। इसके अतिरिक्त यह मत अन्य मतों की

अपेक्षा विरोधी सिद्धान्तों के सामने अपने सिद्धान्तों की कहीं अधिक विधिवत रूप से रक्षा करता है। इसका अर्थ यह है कि यह 'तर्क' और 'वाद' दोनों ही है। अपने इतिहास के बहुत प्रारम्भिक दिनों में ही यह शास्त्र, जिसे हम दार्शनिक विवेचना का शास्त्र कह सकते हैं, प्रधानतया तात्विक मीमांसा करने वाले वैशेषिक शास्त्र से मिल गया, यहाँ तक कि इस समय गौतम के सूत्रों पर मिलने वाले सबसे प्राचीन भाष्य में भी उनके समानतंत्र होने के प्रमाण मिलते हैं। इसी कारण इस मत को न्याय वैशेषिक कहा जाता है और उनके इसी समन्वित स्वरूप पर हम यहां विचार करेंगे।

इस मत की जानकारी के लिये ये साधन है—(१) कणाद का वैशेषिक सूत्र :—यह दश अध्यायों में विभक्त है और प्रत्येक अध्याय में दो आन्हिक हैं। दूसरा ग्रन्थ है इसी पर प्रशस्तपाद का भाष्य। (२) गौतम के न्याय सूत्र :—यह पांच अध्यायों में है और प्रत्येक अध्याय में दो आन्हिक हैं—और इस पर वात्स्यायन का भाष्य है। वास्तव में प्रशस्तपाद का भाष्य ठीक माने में वात्स्यायन के भाष्य की भांति एक भाष्य नहीं है क्योंकि उसमें केवल कणाद के सूत्रों का आधार लेकर स्वतंत्र रूप से विभिन्न विषयों पर विचार किया गया है। तब भी विकास की प्रारम्भिक अवस्थाओं में इसके सिद्धान्तों को समझने के लिए यह बहुत महत्त्वपूर्ण प्रामाणिक ग्रन्थ है। इस समन्वित मत के इतिहास में मिथिला निवासी गंगेश (१२०० ई०) ने इसके स्वरूप में एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किया जिसका उद्देश्य यह था कि तर्क शास्त्र से सम्बन्ध रखने वाले इसके स्वरूप पर अधिक ध्यान दिया जाय और 'तत्वमीमांसा' तथा 'वाद' से सम्बन्ध रखने वाले स्वरूप पर अपेक्षतया कम। तब से मुख्यतया यह अपने इसी परिवर्द्धित स्वरूप को लेकर ही फला-फूला है। यही कारण है कि इसका उपयोग अधिकतर मतान्तरों—विशेषतया वेदान्त—के अध्ययन में सहायक ग्रन्थ के रूप में है। अन्नभट्ट का 'तर्क

संग्रह,' विश्वनाथ पंचानन की 'सिद्धान्त मुक्तावली' और ऐसे ही दूसरे छोटे-छोटे ग्रन्थ इसी के आधार पर बनाये गये हैं।

[१]

यह तो सर्वमान्य है कि हमें बाह्य पदार्थों का ज्ञान मन से होता है और मन को इस क्रिया में इन्द्रियों से सहायता प्राप्त होती है। इस तथ्य के कारण दार्शनिकों में एक बहुत महत्त्वपूर्ण विवाद उठ खड़ा हुआ है, वह यह है कि हम मन से पूर्णतया निरपेक्ष होकर बाह्यपदार्थों की सत्ता के विषय में कुछ कह सकते हैं या नहीं। जैन मत की भांति न्यायवैशेषिक भी यह मानता है कि यद्यपि बहिर्जगत के अस्तित्व का ज्ञान अवश्यंभावी रूप से मन के द्वारा ही होता है तथापि वह किसी प्रकार भी उस पर निर्भर नहीं रहता। यदि विश्व के समस्त मन न रहें तो भी इस मत के अनुसार विषयभूत जगत तो रहेगा ही। इस दृष्टि से यह सामान्य ज्ञान से मेल खाता है। बहिर्जगत के स्वतन्त्र अस्तित्व में विश्वास करने के कारण ही इस मत को वस्तुवादियों का मत कहते हैं। प्रत्ययवादी कहलाने वाले और इनसे विपरीत सिद्धान्तों को ठीक मानने वाले मत से यह मत भिन्न है। परमार्थ अथवा अन्तिम सत्य एक है अथवा अनेक दार्शनिकों के लिए यह भी उतना ही विवादग्रस्त एक दूसरा विषय है। प्रस्तुत मत तो यही मानता है कि सत्य अनेक हैं और दूसरे एकवादी मतों से इसकी विशेषता प्रकट करने के लिये इसे अनेकवाद की संज्ञा दी गई है। ये विभिन्न सत्ताएँ या तो अणु परिमाण वाली होनी चाहिए अथवा 'विभु' होनी चाहिये यहां यही कहा गया है। किन्तु दोनों ही दशाओं में ये अवयवहीन होती हैं और इससे यह भी सिद्ध होता है कि यदि कोई पदार्थ अवयवी है तो वह नित्य नहीं हो सकता। इसीलिये यहां यह कहा गया है कि सब मूर्त पदार्थ परमाणु से उत्पन्न होते हैं बल्कि ज्यादा ठीक तो यही कहना होगा

कि परमाणुओं से मिलकर बनते हैं। दूसरे जो विभु पदार्थ हैं वे इस प्रकार नहीं मिल सकते और इस कारण उनसे कोई वस्तु उत्पन्न नहीं होती। जैसे-जैसे हम आगे बढ़ेंगे यह बात स्पष्ट होती जायगी।

हम कह आये हैं कि यह मत परमार्थ सत्य के अनेक स्वरूप मानता है। अब हम इस अनेकवादी मत की विवेचना संक्षिप्त रूप से विषयभूत और विषयिभूत द्रव्य इन दो विभागों में करेंगे।

(१) **विषयभूत द्रव्य** :—इस मत में भौतिक पदार्थ, काल और दिक इन सब की स्वतन्त्र सत्ता मानी जाती है। इनमें भौतिक पदार्थ के पांच प्रकार हैं। इन प्रकारों की संज्ञा 'भूत' है। आकाश के अतिरिक्त पीछे गिनाये हुये ये पांचों भूत अपने मूल स्वरूप में परमाणुवीय हैं। अन्ततोगत्वा इन्हीं परमाणुवीय भूतों से पर्वत और वृक्ष अथवा मेज और कुर्सी जैसी समान वस्तुएँ निर्मित की जाती हैं। आकाश अनन्त और विभु है। परन्तु यहां इसका स्वरूप विलक्षण माना गया है क्योंकि यहां आकाश को अवश्यम्भावी रूप से शब्द का आश्रय करके लिया गया है न कि उसे शून्य के अर्थ में जैसा कि उपनिषदों में है। वस्तुतः यहां शब्द गुण का कारण बनाने के लिये ही उसकी कल्पना की गई है। काल और दिक आकाश की भांति ही अनन्त और विभु हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि भौतिक जगत अपने मूल स्वरूप में चार प्रकार के परमाणुओं की अनिश्चित संख्या और आकाश, काल और दिक इन तीन अनन्त और विभु द्रव्यों से निर्मित रहता है।

इस मत में परमाणुओं का जो स्वरूप है वह जैन मत में मिलने वाले परमाणुओं के स्वरूप से आंशिक रूप से मिलता है और आंशिक रूप से उसके विपरीत है। जैन मत के अनुसार परमाणुओं में रस, रूप गन्ध और स्पर्श होता है किन्तु यहां ऐसा माना जाता है कि उनके स्वरूप में इन गुणों का एक दूसरे के प्रति 'अपचय' और उपचय रहता है और

इसी भेद पर चार प्रकारों में इसका विभाजन निर्भर करता है। वायु में एकमात्र गुण स्पर्श है, तेजस् में स्पर्श और रूप - ये दो, जल में स्पर्श, रूप और रस---ये तीन और पृथ्वी में गन्ध को लेकर समस्त चारों गुण वर्तमान हैं। पृथ्वी का गन्ध, जल का रस, तेजस् का रूप और वायु का स्पर्श आदि प्रत्येक चारों भूतों का एक एक विशेष गुण है जिससे उनकी एक दूसरे से विशेषता मालूम होती है। जैसा कहा जा चुका है कि शब्द आकाश में होता है और उसे आकाश का विशेष गुण कहते हैं। इसी विशेषता के कारण भिन्न-भिन्न प्रकार के परमाणु आसानी से एक दूसरे से पृथक किये जा सकते हैं। केवल विभिन्न प्रकार के ये परमाणु ही एक दूसरे से भिन्न नहीं होते अपितु एक ही प्रकार के परमाणु गुणों की दृष्टि से समान होते हुये भी परस्पर एक दूसरे से भिन्न माने जाते हैं। प्रत्येक परमाणु में एक विलक्षण 'विशेष' अथवा व्यक्तित्व मानकर उसको उनकी पारस्परिक विशेषता (विभिन्नता) का कारण बतलाया जाता है। इस 'विशेष' का स्वरूप जैसे जैसे हम आगे बढ़ेंगे स्पष्ट होता जायगा। परमाणुवाद के दोनों सिद्धान्तों में न्यायवैशेषिक का सिद्धान्त अधिक बाद का मालूम पड़ता है क्योंकि यह अधिक विकसित रूप में पाया जाता है। तब भी यह किसी दशा में भी नहीं कहा जा सकता कि जैनमत का सिद्धान्त उसका आधार है।

परमाणुओं के अस्तित्व का अनुमान जिस प्रकार लगाया जाता है वह निम्न है :—अनुभव से हमें यह पता चलता है कि घट आदि के सदृश परिच्छिन्न मूर्त अवयवी छोटे-छोटे अवयवों के रूप में विभाजित की जा सकती हैं। विभाजन की यह क्रिया अनिश्चित सीमा तक नहीं ले जाई सकती। इसका कारण यह है कि उस दशा में उनके परिमाण का जो अन्तर हमें दिखाई देता है उसका क्या कारण है यह बताना असम्भव हो जायगा क्योंकि तब तो छोटे-बड़े सब पदार्थ अनन्त परमाणु वाले हो

जायँगे। इसके विपरीत यदि हम विभाजन की एक सीमा मान लेते हैं तो 'पर्वत और सरसों' जसी वस्तुओं के परिमाण में मिलने वाले अन्तर के विषय में यह कह सकते हैं कि वे जितने परमाणुओं से बने हुये हैं उनकी विभिन्नता के कारण ही उनके आकार में अन्तर है। दो वस्तुओं में जो वस्तु आकार में छोटी है उसमें अपेक्षतया बड़े आकार की वस्तु से कम परमाणु (अन्तिम अवयव) होंगे। विभाजन और उपविभाजन की इस क्रिया में भौतिक पदार्थों के जो अन्तिम अवयव होते हैं उन्हें ही परमाणु कहते हैं और आगे विभाज्य न होने के कारण वे नित्य अथवा अनुच्छेद्य माने जाते हैं। उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि इन प्रत्येक चारों वर्गों में परमाणुओं की संख्या अनन्त है और वे सब अतीन्द्रिय हैं। उनका परिमाण सीमित नहीं है वरन् अणु है। इसलिये रूप अथवा रस जैसे उनके विशेष गुण केवल अनुमान मात्र हैं। इन परमाणुओं से निर्मित सामान्य वस्तुओं के स्वभाव के द्वारा ही हम इस अनुमान पर पहुँचते हैं।

अब हम इस बात पर विचार करेंगे कि हमारे अनुभव में आने वाले भूत पदार्थों की सृष्टि इन परमाणु-तत्वों से किस प्रकार होती है। स्थूल रूप से इन सब बातों की विवेचना दो प्रकार से हो सकती है। हम वस्तुओं को परमाणुओं का संघात-मात्र कह सकते हैं उदाहरणतया जिस तरह कि बौद्धमत में माना गया हैं; अथवा हम उनको नवीन सृष्टि मान सकते हैं यद्यपि वह सृष्टि अपनी उत्पत्ति के लिये अवयवभूत परमाणुओं पर निर्भर रहती है तथापि उनसे भिन्न है। इस विषय में एक तीसरा मत भी सम्भव है। उसका उल्लेख हम आगामी परिच्छेद में करेंगे। इनमें से प्रथम मत के विरुद्ध कुछ गम्भीर आक्षेप लगाये जाते हैं। यह वही मत है जिसमें वस्तुओं को अवयव-भूत परमाणुओं का संघातमात्र माना गया है। उन आक्षेपों में एक यह है कि विचार करने पर दो वस्तुओं में परमाणु तो समान

संख्या में मिलते हैं किन्तु तब भी उनमें से प्रत्येक के अपने अलग-अलग विशेष गुण होते हैं। उन दोनों वस्तुओं को परमाणुओं का संघात मात्र मानना इस बात को स्पष्ट नहीं करता कि उनका अपना अलग-अलग विशेष गुण क्यों है? यह कह कर कि दोनों वस्तुओं में भिन्न-भिन्न रूप से अवयव संयुक्त हैं यदि उनके ऊपर एक विशेषण का आरोपण किया जाता है तो वह यह स्वीकार कर लेना होगा कि वे संघातमात्र से कुछ अधिक हैं। इसी से प्रस्तुत दर्शन दूसरे मत का पक्ष लेता है। दूसरा मत यह है कि अवयव और अवयवी एक दूसरे से नितान्त भिन्न हैं। इसका यह अर्थ है कि जब कोई पदार्थ उत्पन्न होता है तो वस्तुतः एक नवीन पदार्थ ही जो अब तक असत् था अस्तित्व में आता है और इसलिये उसमें नवीन लक्षण देखने को मिलते हैं। इसी से इसको असत्कार्यवाद का सिद्धान्त कहते हैं। इसके अनुसार कार्य कारण सिद्धान्त को सृजनात्मक रूप दिया जाता है और इसको 'आरम्भवाद' की संज्ञा भी दी जाती है। इस प्रकार इस सिद्धान्त में यह अपेक्षित है कि जब कोई वस्तु, उदाहरण के लिये ग्लोब ही को ले लीजिये दो गोलार्द्धों से निर्मित किया जाता है तो वस्तुतः अब तीन वस्तुएँ होती हैं। इनमें से एक तो ग्लोब है और दूसरे दो गोलार्द्ध जिनका अस्तित्व ग्लोब के निर्मित होने के पूर्व भी था और बाद में भी रहता है।

भले ही यह अपलाप सा प्रतीत हो पर है यह लौकिक मत के बिलकुल अनुरूप ही जिसके अनुसार अवयवी का अवयवों से भिन्न अपना स्वरूप होता है। उदाहरणतया घड़े से हम जल भरने का काम ले सकते हैं किन्तु घड़े के अवयवों से नहीं। तब भी यह मत कि उपादान कारण और उसका काय नितान्त भिन्न हैं कुछ प्रतीतिजनक नहीं मालूम पड़ता। एक चरमकोटि के पक्ष का प्रतिपादन करने वाले इस सिद्धान्त को स्वीकार करने पर यह आवश्यक हो जाता है कि

एक विशेष सम्बन्ध की कल्पना की जाय। यह सम्बन्ध वस्तुतः न तो किसी अन्य दार्शनिक सम्प्रदाय में मिलेगा न व्यावहारिक ज्ञान ही को स्वीकार्य होगा। यदि अवयव और अवयवी एक दूसरे से नितान्त भिन्न हैं और यदि, जैसा कि यहां है, दोनों का अस्तित्व साथ-साथ रहता है और वे एक दूसरे से पृथक् रूप में नहीं पाये जा सकते तो यह आवश्यक हो जाता है कि उनका क्या सम्बन्ध है यह समझा दिया जाय। इस मत में मेज और उसके ऊपर रखे हुए कागज के सम्बन्ध और ऐसे ही अन्य सम्बन्धों को संयोग कहा जाता है। परन्तु प्रस्तुत उदाहरण में वही सम्बन्ध (संयोग) उपयुक्त न होगा क्योंकि मेज और कागज को तो हम अपनी इच्छानुसार पृथक् कर सकते हैं किन्तु उसी अर्थ में अवयव और अवयवी का सम्बन्ध विच्छिन्न करना सम्भव नहीं है क्योंकि ऐसा करने में उनमें से एक का (अवयवी का) विनाश अवश्यम्भावी रूप से निहित है। तन्तुओं से बने हुए वस्त्र से यदि हम तन्तुओं को पृथक् करना चाहें तो वास्तव में वह वस्त्र का नाश करना ही होगा। फलस्वरूप इस सम्बन्ध को संयोग से अधिक घनिष्ट माना जाता है और इसे समवाय नाम दिया गया है और इसका वर्णन भी एक स्वतंत्र पदार्थ के रूप में किया गया है। इसकी कल्पना पूर्णतः निरपेक्ष है और उसकी आवश्यकता न्यायवैशेषिक मत के मौलिक बहुत्ववाद के कारण हुई है, परन्तु इस दार्शनिक सम्प्रदाय को समझने के लिए यह कितना महत्त्वपूर्ण है इस विषय में कोई अतिशयोक्ति तो हो ही नहीं सकती। आगे दिये गये विवरण में हमें इसका उल्लेख करने का अधिक अवसर मिलेगा।

सामान्यतया न्यायवैशेषिक मत व्यवहार-ज्ञान के अनुरूप ही है। उदाहरणतया इसमें मेज-कुर्सी जैसी वस्तुओं के स्वतंत्र अस्तित्व को लोक-धारणा के बल पर स्वीकार किया जाता है। परन्तु इसमें हमेशा इन धारणाओं के अनुसार नहीं चला गया है जैसा कि समवाय

और विशेष जैसे कृत्रिम-साधनों को इसमें स्थान दिये जाने से ही स्पष्ट होता है क्योंकि इसमें समवाय की भांति ही विशेष को भी विवेचना में अन्ततोगत्वा पड़नेवाली कठिनाइयों को समझाने के लिए स्वतंत्र पदार्थ माना गया है। पहले तो इस मत में यह माना जाता है कि प्रत्यक्षभूत पदार्थ को छोटे-छोटे भागों में विभाजित किया जा सकता है परन्तु जब अंतिम अवस्था में उनको एक दूसरे से पृथक् करना कठिन मालूम पड़ने लगता है तो यदृच्छया ही उनमें इस लक्षण की कल्पना कर ली जाती है कि प्रत्येक में एक विशेष होता है। इसका अर्थ केवल यही होता है कि अन्तिम भाग अमूर्त कल्पना मात्र है। ऐसी अमूर्त कल्पना के द्वारा मूर्त अवयवियों के समवाय जैसे सम्बन्ध की उतनी ही यदृच्छिक कल्पना किये बिना उसका निर्माण करना भी इस मत में अत्यन्त कठिन मालूम होना स्वाभाविक ही है।

जिस ढंग से परमाणु मिल कर अवयवी बन जाते हैं वह इस प्रकार है:—एक ही प्रकार के दो आदि परमाणुओं से द्वयणुक की उत्पत्ति होती है। द्वयणुक के दोनों परमाणु एक दूसरे से संयुक्त रहते हैं किन्तु जैसा कि अभी कहा जा चुका है वह उनसे भिन्न है और वह उन दोनों में समवाय सम्बन्ध से रहता है अर्थात् अवयव तो एक दूसरे से संयुक्त हैं किन्तु हम कह सकते हैं कि अवयवी अवयवों में समवेत है। इस प्रकार के तीन द्वयणुकों से त्रयणुक की उत्पत्ति होती है जो महत् परिमाण से संयुक्त और इन्द्रियगोचर होता है। सूर्य की किरण के प्रकाश में दिखाई देने वाले कणों को ही त्रयणुक अथवा त्रसरेणु माना जाता है। इसके अवयव तीन द्वयणुक होते हैं और यह उनसे समवाय सम्बन्ध से संयुक्त रहता है। ऐसे ही त्रसरेणुओं से जीवधारियों के शरीर सहित इस भौतिक जगत् की सृष्टि होती है। सृष्टि क्रम के अंत में विपरीत क्रम से वह अपने अवयवभूत परमाणुओं के रूप को प्राप्त हो जाता है और जब यह प्रक्रिया संपूर्ण हो जाती है तो वे परमाणु दूसरी सृष्टि के प्रारम्भ तक एक दूसरे से प्राविभक्त रहते हैं।

सृष्टि की उत्पत्ति और प्रलय के विषय में सूक्ष्म विवेचन करते हुए ही इस दार्शनिक सम्प्रदाय में सर्वज्ञ के रूप में ईश्वर के अस्तित्व की कल्पना की गई है। जिस रूप में इस जगत् का ज्ञान हमें होता है उस रूप में उसकी सृष्टि करने के लिए अपेक्षित रूप में परमाणुओं की व्यवस्था ईश्वर ने ही की। परमाणुओं की सृष्टि उसने नहीं की क्योंकि वे तो उसकी ही भांति नित्य हैं। सृष्टि से इस अपेक्षित कार्य को उत्पन्न करने के लिए जिस इच्छा और बुद्धि की आवश्यकता है ईश्वर उससे सम्पन्न है और इस प्रकार वह निमित्त कारण मात्र है। सृष्टि जगत् की वैभिन्य विशिष्टता सृष्टि में होने वाले प्राणियों के अदृष्ट अथवा पूर्व कर्म के द्वारा नियत होती है। इस प्रकार इस मत में सृष्टि के साथ एक उद्देश्य भी सम्बद्ध कर दिया जाता है, वह यह कि सृष्टि के प्राणी अपने कर्मों का फल भोग सकें और इसके साथ ही यह भी कहा जा सकता है कि जहाँ मनुष्य का प्रश्न है उसे ऐसे अवसर प्राप्त हो सकें कि वह अपने को मुक्त कर सके। अतएव, ईश्वर केवल एक स्रष्टा ही नहीं है वरन् वह संसार का निर्माता भी है। यहां हमें ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए सामान्य युक्तियों में से दो देखने को मिलती हैं: (१) सृष्टि-तत्व सम्बन्धी, इसके अनुसार जो युक्ति उपस्थित की जाती है वह इस तथ्य पर आश्रित है कि जगत् सत् का ही कार्य है और सत् जगत् को अस्तित्व में लाने में समर्थ है और (२) हेतु-विद्या सम्बन्धी: —यह युक्ति इस प्रकार है कि हमें ऐसा प्रमाण मिलता है कि संसार में एक ऐसी व्यवस्था अथवा उद्देश्य है जिसके पीछे एक उपयुक्त और दूरदर्शी तक के होने की आवश्यकता होती है। विश्व की विशालता और विविधतायों से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उसका रचयिता अवश्य ही अनन्त शक्ति तथा बुद्धि सम्पन्न होगा। इस आस्तिकवादी भावना का एक मनोरंजक लक्षण यह है कि यहाँ शिव ही परम शक्ति माने गये हैं। जैसा कि हम देख चुके हैं वैदिक काल के अनन्तर जिन दो देवताओं

को भारतीयों ने अपनी श्रद्धा और भक्ति समर्पित की शिव उनमें एक थे।

(२) विषयि भूत द्रव्य (Spirit) :—इस प्रकरण में हम आत्मा और मनस पर विचार करेंगे। इस सम्प्रदाय में स्वीकृत किये हुये द्रव्यों में यही दो बच रहे हैं। पहले द्रव्य (आत्मा) को नित्य और विभु रूप में निरूपित किया गया है। इसकी नित्यता तो कर्म सिद्धान्त में ही निहित है। आत्मा के अनादि होने का सिद्धान्त भी कर्म में निहित होता है और न्याय-वैशेषिक मत में जिस सत्तात्मक भाव पदार्थ का आदि नहीं होता वह आवश्यक रूपेण अन्तहीन भी होता है। परन्तु आत्मा की कल्पना इस दर्शन में जिस रूप में की गई है उसके अनुसार इसके मौलिक स्वभाव में ऐसी कोई भी विशेषता नहीं है जिसे आध्यात्मिक कहा जा सके। हमने यहाँ आध्यात्मिक शब्द को उसके साधारण अर्थ में लिया है। अन्य द्रव्यों से चाहे वे अणु हो अथवा विभु इसका यह अन्तर है कि इसमें ज्ञान (बुद्धि), भावना, संवदेन (सुख-दुख) और इच्छा-स्वभाव हो सकते हैं किन्तु अन्य द्रव्य इन गुणों से कदापि सम्पन्न नहीं हो सकते हैं। दूसरे शब्दों में हमारी ज्ञान विशिष्टता का द्योतन करने वाले जीवन का आधार आत्मा ही होती है। चैतन्य आत्मा का आगंतुक गुणमात्र है। आत्मा की विशिष्टता के लक्षणों के उत्पन्न होने के लिये आवश्यक शर्त यह है कि मन से उसका सम्बन्ध हो जाय। इसी कारण सामान्यतया "आत्मा" को जिस अर्थ में लिया जाता है उसके अनुसार उन दोनों को एक में लेने पर उन्हें 'आत्मा' (Spirit अथवा विषयिभूत द्रव्य) कहना ही सम्भवतः ठीक हो। परन्तु हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि यहां मनस् की जो भावना गई है उसके अनुसार वह स्वतन्त्र रूप से लेने पर उतना ही अनाध्यात्मिक ठहरता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वस्तुतः जिसे आत्मा कहा जाता है उसे यहां दो अनात्मतत्वों में विभाजित कर दिया गया है।

आत्मा अनेक हैं यद्यपि सब विभु हैं तथापि उनमें बुद्धि, सुख-दुख और इच्छा आदि गुणों की सम्पन्नता साधारणतः उन भौतिक अङ्गियों (Organism) से व्यक्त होती है जिससे वे तत्काल सयुक्त रहती ह । प्राणियों के जीवन की विशिष्टता निर्देशक अवस्थाओं में मिलने वाली विविधता को ही उनकी आत्माओं में रहने वाले मौलिक भेद का द्योतक माना जाता है । यह विभिन्नता मूल रूप से उनकी अपनी है अतः वह उनकी मुक्त अवस्था में भी उसी प्रकार पाई जाती है । इसी प्रकार दो आत्माओं में परमाणुओं की भांति ही 'विशेष' भी होता है जिससे उनका एक दूसरे से अन्तर मालूम किया जा सकता है। यद्यपि मुक्त होने पर उनमें पाये जाने वाले समस्त अन्तर तिरोहित हो जाते हैं तब भी वह विशेष रहता है । प्रत्येक आत्मा का अपना अलग-अलग सविशेष मन होता है और उसके मुक्त होने तक वह उसके साथ रहता है। वह अणुरूप होता है किन्तु इस दर्शन में माने गये अन्य अणुरूप मूलतत्वों के विपरीत मनस् किसी नई चीज की उत्पत्ति नहीं करता ।

आनुभविक अवस्था में अथवा संसार में मन सामान्यतया अपने व्यापार के द्वारा आत्मा से संयुक्त होता है । ज्ञान किसी ज्ञानेन्द्रिय का एक उपयुक्त पदार्थ से संयोग होने और उस समय उपस्थित रहने वाली अन्य शर्तों के स्वभाव के अनुसार अपने किसी एक रूप में आत्मा में उत्पन्न होता है । ज्ञान प्रत्यक्षतः अथवा अप्रत्यक्षतः इच्छा, द्वेष, सुख दुख, और प्रयत्न की उत्पत्ति करता है। ये छहों गुण उसी प्रकार आत्मा के विशेष गुण हैं जिस प्रकार कि वर्ण तेज का और गन्ध पृथ्वी का। इन सब का प्रत्यक्ष हो सकता है परन्तु वह केवल अन्तःप्रत्यक्ष होता है और केवल मन के द्वारा सम्भव है। प्रसंगवश यहां हम इतना और कह सकते हैं कि इस मत में यह माना गया है कि यद्यपि ज्ञान दूसरे अर्थों को प्रकाशित करने में तो समर्थ है

तथापि वह स्वयं अपने को प्रकाशित नहीं कर सकता। इसके लिये उसे किसी 'प्रकाशक' की आवश्यकता होती है। जिस ज्ञान से दूसरे ज्ञान की अभिव्यक्ति होती है उसे अनुव्यवसाय कहा जाता है। इन छहों में धर्म और अधर्म ये दो गुण और जोड़े जाने चाहिये। ये अन्य गुणों की भांति साक्षात् रूप से प्रत्यक्षभूत अथवा अनुभूत नहीं हो सकते। उन्हें हम केवल उनके कार्य सुख और दुख के द्वारा ही अनुमान की सहायता से जान सकते हैं जिसे वे कर्म-सिद्धान्त के अनुसार उत्पन्न करते है। उनकी यह नैतिक धारणा आचार मीमांसा के अन्तर्गत आती है इस कारण अच्छा यही होगा कि यहाँ उनके ऊपर और अधिक विचार न करके उसे आगामी खण्ड के लिये छोड़ दिया जाय जिसमें इस सम्प्रदाय की आचार शिक्षा पर विचार किया गया है। उपनिषदों के आत्मा विषयक मत की तुलना में यह बिल्कुल तुच्छ है। यहां ज्ञान अथवा अनुभव न तो आत्मा का तत्त्व और और न उसका नित्य लक्षण ही माना गया है वरन् माना यह जाता है कि जब कुछ प्रकार के बाह्य तत्त्व (जिनमें एक भी आध्यात्मिक नहीं होता) साथ-साथ व्यापारशील होते हैं वह केवल उसी समय प्रकट होता है। इस पर ध्यान देने यह मालूम हो जायगा कि यह सम्प्रदाय देहात्मवादियों से बहुत भिन्न नहीं है। उसी की भांति यहाँ भी यह माना जाता है कि भौतिक तथा अनात्म तत्वों (यह कहना ही अधिक ठीक होगा) के परस्पर संयोग अथवा सहकर्म से ही अनुभव उत्पन्न होता है।

"मैं सुखी हूँ" "मैं जाता हूँ", इसी प्रकार के अन्तः प्रत्यक्ष अथवा अन्तर्दर्शन से ही हमें आत्मा के अस्तित्व का पता चलता है। इस प्रत्यक्ष का सम्बन्ध शरीर अथवा आत्मा की किसी भौतिक उपाधि से नहीं हो सकता क्योंकि ज्ञान अथवा भावना-संवेदन उसके विशिष्ट लक्षणों का चित्रण नहीं कर सकता। इसमें सन्देह नहीं कि हमें "मैं तगड़ा हूँ" "मैं दुर्बल हूँ" इस प्रकार के भी प्रत्यक्ष होते हैं। यहाँ 'मैं'

स्पष्ट रूपेण भौतिक शरीर का सूचक है। इन उक्तियों की व्याख्या करते हुए इस मत में यह कहा जाता है कि वे लाक्षणिक है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि जो व्यक्ति उन उक्तियों को उपस्थित करता है उसमें कम से कम इस बात की अर्द्ध-बोधावस्था तो रहती ही है कि जिसे वह तगड़ा और दुबला कह रहा है वह यद्यपि वास्तविक आत्मा से सम्बद्ध है तथापि यथार्थतः उससे भिन्न है। 'मेरा शरीर' इस प्रकार की जिन अभिव्यक्तियों का प्रयोग अन्य अवसरों पर किया गया है उनसे यही प्रकट होता है कि उस शरीर का तात्पर्य एक ऐसी वस्तु से है जिसको वह (मनुष्य) धारण करता है न कि यह कि वह स्वयं ही शरीर है। इस प्रकार अपनी आत्मा का तो प्रत्यक्ष साक्षात हो सकता है परन्तु दूसरों की आत्मा अवश्यम्भावी रूप से अनुमान का विषय मानी जानी चाहिए क्योंकि हमें उसका ज्ञान केवल उसके शरीर के प्रत्यक्ष और उसके कार्य व्यापार के ढंग को देख कर ही होता है।

परमात्मा को भी इस प्रकरण में रखा गया हैं। दशम शतक के दार्शनिक उदयन ने ईश्वर के अस्तित्व के ऊपर एक विशद एवं प्रामाणिक प्रबन्ध लिखा है। उसकी प्रस्तावना रूप में उनके जो वक्तव्य मिलते हैं उनका यह तात्पर्य है कि ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास की सार्वदेशिकता ही उसका पर्याप्त प्रमाण है। किन्तु वह कुछ और प्रत्यक्ष प्रमाण भी प्रस्तुत करता है। उनमें से सृष्टि तत्व सम्बन्धी तथा हेतु विद्या सम्बन्धी इन दोनों का उल्लेख तो हम पहले ही कर चुके हैं। जीवात्मा के लक्षण आठ विशेष गुणों में धर्म, अधर्म, द्वेष और दुःख ये चार परमात्मा में नहीं पाये जाते। यथार्थ ज्ञान (विद्या) जो समस्त अस्तित्व मात्र में व्याप्त है, भूत सम्प्रदाय के प्रति दया और सदेच्छा से सम्पन्न है। इस मत के कतिपय प्रतिपादकों के अनुसार परमात्मा अनन्त सुख से युक्त है।

यहाँ तक तो हमने इस मत में स्वीकृत नौ द्रव्यों आदि की प्रकृति की विवेचना की है। ये द्रव्य पृथ्वी जल, तेज (अग्नि), वायु,

आकाश, काल, दिक, आत्मा और मन हैं। प्रसंगवश हमने इसमें कल्पित किये गये गन्ध, रस, स्पर्श, शब्द, बुद्धि, राग, द्वेष, सुख, दुख प्रयत्न, धर्म और अधर्म आदि कई गुणों का उल्लेख किया है। इन गुणों की विलक्षणता यह है कि ये एक-एक प्रकार के द्रव्यों के विशेष गुण होते हैं। इसमें और दूसरे गुणों को भी स्वीकार किया गया है। ये एक से अधिक प्रकार के द्रव्यों के विशेष गुण होते हैं। इसलिये उन गुणो को सामान्य कहा गया है। उदाहरणतया, गुरुत्व, पृथ्वी-परमाणु, जल-परमाणु आदि कई प्रकार के परमाणुओं से बनी हुई वस्तुओं में पाया जाता है। हम एक दूसरे सामान्य-गुण सयोग का उल्लेख भी कर चुके हैं जो दो द्रव्यों में पाया जाता है। हमने वहाँ यह संकेत भी कर दिया था कि समवाय से, जो इसके समान एक सम्बन्ध है, इसका क्या अन्तर है। हमारे उद्देश्य के लिए ये चौदह अथवा गुरुत्व को भी लेकर पन्द्रह गुणों को स्मरण रखना पर्याप्त होगा। इस गुरुत्व का उल्लेख हमने केवल सामान्य गुणों को समझाने के लिए ही कर दिया था। हम यहाँ पाठकों के मस्तिष्क को गुणों के स्वभाव की विवेचना करके भाराक्रान्त न करेंगे और उनकी पूर्ण संख्या गिनाने से दूर रहेंगे। ऐसा प्रतीत होता है कि यादृच्छिक रूप से ही उनकी संख्या चौबीस निश्चित कर दी गई है।

इस दार्शनिक तंत्र में व्याप्त वस्तुवादी और बहुत्ववादी भावना के अनुरूप इन सब गुणों की पृथक-पृथक अथवा अपनी-अपनी सत्ता मानी गयी है, यद्यपि उस रूप में वे कभी पाये नहीं जाते। सैद्धान्तिक दृष्टि से द्रव्य यदि वह कार्य है तो क्षण भर के लिए गुण रहित होकर भी रह सकता है, परन्तु किसी द्रव्य अथवा उसके किसी कार्य का आश्रय लिए बिना गुण कभी पाया ही नहीं जा सकता। इस एकपक्षीय आश्रयत्व से यही तात्पर्य निकलता है कि उन दोनों में समवाय सम्बन्ध है। जिस प्रकार एक अवयवी के अंग अपना अलग-अलग अस्तित्व रखते हैं, यद्यपि अवयवी उन अंगों से पृथक कभी नहीं पाया जा

सकता, ठीक उसी प्रकार द्रव्य भी समय की उपर्युक्त सीमा में अपने आप ही अस्तित्व में आ सकता है यद्यपि किसी गुण के लिए यह सम्भव नहीं है।

कर्म और द्रव्य के बीच भी वही समवाय सम्बन्ध रहता है जो वस्तुतः एक अतिभौतिक कल्पना मात्र है। कर्म इस मत में माने गये पदार्थों में तीसरा है। हाँ, एक बात यह है कि कर्म सब द्रव्यों में नहीं हो सकता। केवल अणु-परिमाण वाले और मूर्त द्रव्य ही अपना स्थान बदल सकते हैं और यहाँ कर्म का अर्थ स्थान परिवर्तन करना ही है। यह तो स्पष्ट है कि विभु आदि द्रव्य स्थान परिवर्तन नहीं कर सकते क्योंकि ऐसा कोई स्थान तो बच नहीं रहता जिसमें वे जा सकें। इस तंत्र में कर्म अथवा गति की जो कल्पना की गई है उसके सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण बात है जिसको हमें ध्यान में रखना चाहिए। हमें यह तो पता ही है कि हम कर्म को आरम्भ कर सकते हैं। उदाहरणतया हम अपनी भुजा उठा सकते हैं और गेंद जैसी गतिहीन वस्तु में भी गतिशीलता पहुँचा सकते हैं। प्रत्यक्षतः इस अनुभव के आधार पर ही यहाँ यह विश्वास किया जाता है कि कर्म सदैव एक चेतन प्राणी के द्वारा ही उत्पन्न किया जा सकता है और किसी भी भौतिक वस्तु में उत्पन्न नहीं हो सकता। इसमें सन्देह नहीं कि उसमें अन्य भौतिक पदार्थ से कर्म (गति) उत्पन्न हो सकता है जैसे कि बिलियर्ड' के खेल में एक गेंद में दूसरी गेंद से। परन्तु तब भी जब हम उसके आदि कारण को ढूँढ़ने चलते हैं तो हमें पता चलता है कि वह नियत रूप से एक चेतन कर्ता के कारण ही उत्पन्न होता है। जहाँ इस प्रकार का कर्म तो देखने में आता है परन्तु उसको उत्पन्न करने वाला कोई कर्ता नहीं होता तो इस तन्त्र के अनुसार किसी पौराणिक देवता तथा अलौकिक शक्ति को उसका कारण बताया जाता है। ऊपर ईश्वर के अस्तित्व के वषय में जिस सृष्टितत्त्व सम्बन्धी उक्ति का उल्लेख किया गया है उसके

पीछे भी कर्म-विषयक यह मत ही है। परमाणुओं के स्वयं क्रियाहीन होने के कारण जगत की सृष्टि के लिए एक ऐसी समर्थ और चेतन-शक्ति की अपेक्षा है जो उनमें सर्व प्रथम गति या कर्म उत्पन्न कर सके।

इस दार्शनिक सम्प्रदाय में जिन छः भाव पदार्थों को लिया गया है उनमें समवाय और विशेष को लेकर द्रव्य, गुण और कर्म ये पाँच हैं। इनमें समवाय एक और नित्य माना गया है चाहे उन वस्तुओं का स्वभाव, जिनमें कि यह सम्बन्ध रहता है, किसी भी प्रकार का क्यों न हो। विशेष अनेक और नित्य हैं। वे एक ही प्रकार के परमाणुओं, उसी प्रकार के अन्य नित्य तत्त्वों अथवा उन आत्माओं की विशिष्टता के सूचक है। पारस्परिक अंतर और किसी प्रकार स्पष्ट नहीं किया जा सकता।

जो भाव पदार्थ बच रहा है उसे 'सामान्य' कहते हैं, अब हम इसकी विवेचना करेंगे: सबसे पहले तो हम विभिन्न नित्य द्रव्यों को लेते हैं जिन्हें संसार का आधारभूत तत्व कहा जा सकता है। ये हैं चारों भूत, आत्मा और मन। इनमें हमें चारों भूतों और उनसे निकले हुए करोड़ों मूर्त पदार्थों को भी शामिल करना होगा। ये मूलभूत और निकले हुए तत्त्व यद्यपि सत्ता-शास्त्र के अनुसार एक दूसरे से नितान्त भिन्न हैं तथापि समान लक्षणों से रहित नहीं हैं। इन समान लक्षणों के आधार पर ही इनको पृथ्वी-परमाणु, जल-परमाणु, आत्मा, कुर्सी, मेज आदि वर्गों में विभाजित कर दिया गया है। जिन समान लक्षणों के आधार पर इन्हें संघीकृत (grouped) किया जाता है उन्हें 'सामान्य' कहते हैं। ये अपने में कभी नहीं पाये जाते और केवल अपने अनुरूप भूत विशेष से ही प्रकाशित होते हैं। तब भी उन्हें विशेष की भाँति जिनकी विशिष्टता के वे सूचक हैं, सत्-तत्व माना जाता है। इस दृष्टि से प्रस्तुत तन्त्र का जैनमत से मतभेद है क्योंकि जैनमत के अनुसार विशेष और सामान्य दोनों मिलकर सत्-तत्त्व कहलाते हैं और

पृथक-पृथक लेने पर वे दोनों अमूर्त भावना मात्र हैं।

सामान्य गुण और कर्म से इस बात में मिलता जुलता है कि वह भी विशिष्टता का द्योतक है और वह समवाय सम्बन्ध से क्रमशः अपने-अपने विशेषों से संयुक्त रहता है। इस दृष्टि से भी प्रस्तुत तंत्र का जैन मत से भेद है क्योंकि उसके अनुसार यह भेदाभेद का सम्बन्ध है। उन्हें नित्य और स्वतंत्र रूप से सत्-तत्व ही माना जाता है न कि जैन मत की भांति मूर्त पदार्थों की क्षणिक अवस्था मात्र। इस कारण उनका स्थान परमाणुओं और आत्मा की भांति संसार के मूलभूत तत्वों में है। सामान्य केवल द्रव्यों की ही नहीं वरन् गुण और कर्मों की विशिष्टता के भी द्योतक हैं। इसका अर्थ यह है कि, उदाहरणतः, विभिन्न विषयों में दिखाई देने वाला रक्तवर्ण एक न होकर अनेक है और प्रत्येक में समान रूप से एक व्यावर्तक गुण रक्तता रहता है जो नित्य और अपरिवर्तनशील है। शेष अन्य पदार्थों में जाति अथवा सामान्य नहीं पाया जाता। समवाय में तो इस कारण कि वह एक है परन्तु सामान्य और विशेष में (जो यद्यपि अनेक हैं) इस कारण कि एक में अनवस्था का भय रहता है और दूसरे में स्वरूपहीनता का। जिन 'व्यक्तियों' में सामान्य रहता है यदि उनका प्रत्यक्ष हो सकता है तो वहाँ सामान्य को पहचानने का साधन भी प्रत्यक्ष रहता है। दूसरी दशाओं में वह साधन अनुमान अथवा शब्द हो सकता है।

इस दार्शनिक सम्प्रदाय में इन छः भाव पदार्थों के अतिरिक्त एक निषेधात्मक पदार्थ को भी स्वीकार किया गया है। उसे अभाव कहते हैं। परन्तु हमें यह भली भांति ध्यान में रखना चाहिये कि वह शून्य से भिन्न है। जिस प्रकार से इस तंत्र को इस तरह के पदार्थ की कल्पना करने की प्रेरणा मिली उसे निम्न रूप में उल्लिखित किया जा सकता है :—इसी कथन को ले लीजिए कि कोई एक पदार्थ नीला नहीं है। इसका ठीक-

ठीक क्या अर्थ हुआ। इसको समझाने के हमारे पास दो साधन हैं। या तो हम इसे भावात्मक रूप में ले सकते हैं:—तब इसका यह अर्थ होगा कि इसमें कोई अन्य वर्ण है जैसे कि हरा, अथवा हम यह मान सकते हैं कि इसका अर्थ इतनी दूर तक विस्तृत नहीं हो सकता वरन् इसका तात्पर्य तो इतना ही है कि विचाराधीन वर्ण का निषेध मात्र किया गया है। जब हम यह कहते हैं कि अमुक पदार्थ नीला नहीं है तो उसका तात्पर्य यह तो होता ही है कि उसका कोई दूसरा वर्ण है, परन्तु इस कथन का शाब्दिक अर्थ यही है कि उसमें नीलत्व का अभाव मात्र है। अभाव विषयक ये दोनों मत हमें बाद में मिलेंगे. परन्तु जहाँ तक प्रस्तुत तंत्र का सम्बन्ध है इसमें दूसरे प्रकार के अभाव को लिया गया है। उपर्युक्त उदाहरण में नीलत्व ही वह वस्तु है जो अभाव का प्रतियोगी है। अभाव को इस प्रकार निरूपित अथवा विशिष्ट कर सकने के कारण हम उसकी समानता पूर्णतया असत् से नहीं कर सकते। वस्तुतः इस प्रकार का आत्यान्तिक असत्, जिसका अर्थ प्रत्येक वस्तु का निषेध करना होता है, मानव बुद्धि के परे की बात है। न्याय-वैशेषिक के अनुसार वह एक विकल्प मात्र है।

अभाव चार प्रकार का माना गया है। एक तो वह जिसमें काल विशिष्टता निहित हो जैसे वस्तु के अभाव को देखकर यह कहना कि वह पहले तो थी (प्रध्वन्साभाव) या बाद में उसका अस्तित्व हो जायगा (प्रागभाव)। अभाव देश विशिष्ट हो सकता है जैसे कि एक वस्तु का किसी स्थान पर यह कहते हुए निषेध करना कि वह कहीं और है (अत्यन्ताभाव)। अन्तिम अभाव है अन्योन्याभाव। इसका अर्थ वस्तुओं के पारस्परिक (व्यावर्तक) भेद से है जैसे हम यह निषेध करते हैं कि कागज ही कलम है। यह अन्तिम अभाव स्पष्टतः ही नित्य है इसका कारण यह है कि इस दार्शनिक सम्प्रदाय में वस्तुओं को जैन मत की भांति न मान कर उनकी तादात्म्य अथवा परिवर्तन

हीनता को स्वीकार किया गया है। जिन प्रमाणों से हमें अभाव का ज्ञान होता है उसके विषय में इस तंत्र का यह मत है कि सामान्य की भाँति जहां अभाव का प्रत्यक्ष सम्भव है, वहां प्रत्यक्ष ही वह प्रमाण होता है। परन्तु दूसरी दशाओं में वह प्रमाण अनुमान अथवा शब्द होता है। मेज के अभाव का प्रत्यक्ष सम्भव है क्योंकि मेज स्वयं प्रत्यक्षभूत है। केवल यह आवश्यक है कि हम कमरे के फर्श (स्थल) को जहां कि हमें उसके दिखने की सम्भावना थी उस समय मेजहीन देखें। इसके विपरीत किसी स्थान पर रोग के कीटाणुओं का या तो हम अनुमान कर सकते हैं अथवा किसी अन्य मनुष्य के बताने पर उनको जान सकते हैं।

ऊपर हम कह चुके हैं कि आत्मा में ज्ञान उत्पन्न होने के लिए कई बातों की पूर्ति अपेक्षित है। आत्मा और मन के सन्निकर्ष (संयोग) के अतिरिक्त, जिसका उल्लेख किया ही जा चुका है, प्रत्यक्ष के लिए दो और बातों का होना आवश्यक है। मन का किसी इन्द्रिय के साथ भी सन्निकर्ष होना चाहिए और इन्द्रिय का उपयुक्त अर्थ के साथ—इस प्रकार वर्ण को प्रत्यक्ष करने का अर्थ यह है कि चक्षु-इन्द्रिय और मन दोनों ही आत्मा के साथ सहयोग कर रहे हैं। और भी कई बातों की आवश्यकता है—यथा प्रकाश की परन्तु उनकी ओर विशिष्ट रूप से संकेत करना अपेक्षित नहीं है—विशेषतः इसलिए कि इस तंत्र में उनकी स्वीकृति कोई विलक्षण बात नहीं है। दूसरे प्रकार के ज्ञान अथवा प्रमा की उपलब्धि के लिए भी मन और आत्मा का संयोग आवश्यक है। अन्तर केवल यह रहता है कि शेष दूसरी बातें भिन्न रहती हैं। उदाहरणतया, धूम्र से अग्नि का अनुमान करने के लिए यह आवश्यक है कि हमें उद्गामी रूप से (Inductively) उन दोनों में व्याप्ति (सम्बन्ध) स्थापित करने वाले पूर्व अनुभव का स्मरण हो।

प्रत्यक्ष के विषय में सामान्य मत यह है कि वह बड़ा संश्लिष्ट है और किसी न किसी रूप में गुणों से विशिष्ट अर्थ का ही ग्रहण करता है। अर्थात्, प्रत्यक्ष में अर्थ, उसके वर्णादिक गुण और दोनों के बीच में रहने वाले सम्बन्ध का संकेत मिलता है और ये तीनों ही इसमें संश्लिष्ट रूप में पाये जाते हैं। प्रस्तुत तंत्र में इस मत को स्वीकार किया गया है, किन्तु साथ ही यह भी माना गया है कि इस अर्थ में प्रत्यक्ष के पूर्व की भी एक अवस्था होती है। यद्यपि इस अवस्था में ये तीनों तत्व विद्यमान रहते हैं तथापि जिस प्रकार वस्तुतः प्रत्यक्ष में उनको संयुक्त रूप से ग्रहण किया जाता है वह उस अवस्था में नहीं होता। उस समय 'यह कुछ है' (इदंकिञ्चित्) केवल इस रूप में ही उसका भान होता है। बाद वाली सविकल्प (निश्चयात्मक) अवस्था से उसका वैपरीत्य दिखाने के लिए उसे निर्विकल्प (अनिश्चयात्मक) प्रत्यक्ष कहते हैं। सविकल्प की भांति निर्विकल्प अवस्था के ज्ञान की अभिव्यक्ति भाषा के द्वारा निश्चित रूप से सम्भव नहीं है, न प्रत्यक्षतः ही उसके अस्तित्व का ज्ञान प्राप्त हो सकता है। इस तंत्र में यह माना जाता है कि संश्लिष्ट वस्तु का अवश्यम्भावी रूप से एक पूर्व रूप होता है जो सरल होता है जिसके द्वारा ही निर्विकल्प ज्ञान का अनुमान किया जा सकता है। इस सम्प्रदाय में वस्तुवादी सिद्धान्तों को मान कर चला गया है जिसके अनुसार ज्ञान की प्रकृति ही बाह्य-अर्थ का संकेत करना है। फलस्वरूप निर्विकल्प ज्ञान की अवस्था में वाह्य-अर्थ की सत्यता का जो भान होता है उसकी अवगति कितनी ही अस्पष्ट क्यों न होती हो किन्तु उसमें सन्देह का कोई अवकाश नहीं। सविकल्प ज्ञान की अवस्था पर ही भ्रम की सम्भावना का उदय होता है क्योंकि वहाँ दो या अधिक वस्तुओं को परस्पर एक दूसरे से सम्बन्धित रूप में ग्रहण किया जाता है—इस बात का उल्लेख हम शीघ्र ही करेंगे।

प्रत्यक्ष विषयक इस मत में यह मान लिया जाता है कि वाह्यार्थ अप-

रोक्ष-रूपेण ज्ञात होता है। एक दूसरा भी मत है जिसका उल्लेख हम अगले परिच्छेद में करेंगे। उसके अनुसार वाह्यार्थ का ज्ञान अपरोक्ष रूपेण नहीं बल्कि केवल ऐसे मनोवैज्ञानिक माध्यमों के द्वारा होता है जो किसी न किसी रूप में उनके समान अथवा उनके प्रतीक होते है। तब भी यदि न्यायवैशेषिक में यह माना जाता है कि हम वाह्यार्थ का अपरोक्ष रूप से ग्रहण कर सकते है तो इसका यह अर्थ नहीं कि इसमें भ्रम अथवा संशय का कोई स्थान नहीं। सब ही ज्ञान यथार्थ नहीं होते। प्रमा अथवा ज्ञान के यथार्थ होने के लिए यह आवश्यक है कि आत्मा के सम्मुख वाह्यार्थ उन गुणों से युक्त होकर उपस्थित हो जो कि उसमें यथार्थतः हैं। इस प्रकार के मत का तात्पर्य वही होता है जो अनुरूपता (Correspondence) का सिद्धान्त कहलाने वाले मत का होता है। केवल वही ज्ञान यथार्थ है जिसका अपने अर्थ से तादात्म्य है। इसके विपरीत विपर्यय ज्ञान (भ्रम) में जो उपलब्धि होती है उसमें एक या एक से अधिक ऐसी बातें होती हैं जो यथार्थतः उपलब्ध नहीं होती। परन्तु यह माना जाता है कि विपर्यय ज्ञानमें कोई न कोई अर्थ हमेशा ही उपस्थित रहता है और भ्रम पूर्णतया विषयिमूलक नहीं हो सकता। इसका कारण यह है कि बाद में जब हमें पता चल भी जाता है कि वह मिथ्या ज्ञान है तब भी यही प्रतीत होता है कि कोई वस्तु ही (जैसे रज्जु) गलती से किसी अन्य वस्तु (सर्प) के रूप में ग्रहण कर ली गई थी। भ्रांति विषयक इस सिद्धान्त का मतलब वस्तुतः यह निकलता है कि बिना किसी आधार के विपर्यय ज्ञान कदापि सम्भव नहीं है जैसा कि बौद्धों के एक सम्प्रदाय में माना जाता है। दूसरे शब्दों में जो भ्रम हमें होता है वह उपस्थित अर्थ के विषय में नहीं होता वरन् उसका सम्बन्ध उसके धर्मों अथवा गुणात्मक तत्वों तक ही सीमित रहता है। प्रत्येक भ्रमज्ञान का धर्मी सत्य रहता है, जो विपर्यय या भ्रान्ति रहती है वह तो केवल उसके प्रकार अथवा उस पर आरोपित किए जाने वाले धर्मों के विषय में ही सम्भव है। इसी

से वस्तु का जो यथार्थ स्वरूप है वह जब उससे भिन्न (अन्यथा) रूप में प्रतिभासित होता है तभी यह कहा जाता है कि हमें उसके विषय में भ्रम हो रहा है (अन्यथा ख्याति)।

एक साधारण उदाहरण ही ले लीजिए। रेलगाड़ी में यात्रा करते समय बच्चों को ऐसा लग सकता है कि बाहर दिखाई देने वाले वृक्ष विपरीत दिशा में दौड़े चले जा रहे हैं। यह एक भ्रम है किन्तु यह केवल उसी हद तक है जहाँ तक कि वृक्षों में गति आरोपित करने का प्रश्न है क्योंकि यथार्थतः गति रेलगाड़ी में है न कि वृक्षों में। यहाँ यद्यपि वस्तुतः गति है किन्तु जहाँ उसका अनुभव होता है वहाँ नहीं। जिस उदाहरण को इसके पूर्व प्रस्तुत किया जा चुका है उसमें केवल रज्जु ही विद्यमान है सर्प नहीं। परन्तु इस मत के अनुसार सर्प को भी अपने में सत् ही होना चाहिए और इसके पूर्व उसका यथार्थ अनुभव हो गया होना चाहिए। इस निगमन (निर्णय) को माना जा सकता है, यद्यपि इसको स्वीकार करना किसी भी प्रकार अनिवार्य नहीं है जैसा कि ज्ञान मीमांसा विषयक योगाचार मत पर विचार करते समय हम कह चुके हैं। परन्तु ज्ञान में वैशेषिक मत यही नहीं रुक जाता, वह और आगे बढ़ गया है और उसमें यह माना जाता है कि जिस 'सर्प' विशेष का पूर्व-अनुभव हमें हो चुका था उस समय विपयय को ग्रहण करने वाले के समक्ष वस्तुतः वही सर्प उपस्थित हो जात है। इस प्रकार इस उदाहरण में भी जिस अर्थ में 'रज्जु' को भ्रम I माना गया है वह अर्थ भी विद्यमान है। यह सब जिस प्रक्रिया से सम्पन्न होता है उसके विस्तार में हम नहीं जा सकते। इस प्रकार की स्वीकृति को न्याय संगत मानने का आधार चाहे कुछ भी हो, किन्तु हमें जिस आवश्यक बात को ध्यान में रखना है वह यह है कि जो (अधिष्ठान) वस्तुतः हमारे सम्मुख विद्यमान् रहता है उस पर कुछ ऐसे लक्षण आरोपित कर दिये जाते हैं जो उसमें नहीं रहते। इस बात का कोई विशेष महत्व ही नहीं कि हमें उसके स्वरूप के विषय में भ्रम

हो जाता है।

अब प्रश्न उठता है कि प्रमा के प्रामाण्य को जाना किस प्रकार जाय। ज्ञान मीमांसा सम्बन्धी जो सिद्धान्त भारतीय दर्शन में स्वीकार किये गये हैं उनको दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। एक ज्ञान के स्वतः प्रामाण्य को मानता है और दूसरा इस बात का प्रतिपादन करता है कि ज्ञान के प्रामाण्य को बाह्य साधन के द्वारा पुष्ट करने की आवश्यकता है (परत.-प्रामाण्य)। पहले मत में ज्ञान की उत्पत्ति के साथ यह भी अंगीकार कर लिया जाता है कि वह यथार्थ है। उसकी परीक्षा करने की आवश्यकता केवल उसी दशा में होती है जब किसी कारण उसके विषय में संशय उत्पन्न होने लगता है। दूसरे मत के अनुसार इस सम्बन्ध में स्वयं ज्ञान की कोई अपनी प्रामाणिकता नहीं है। परीक्षण विशेष से ही हम इस बात को निश्चित क सकते हैं कि वह सत्य है अथवा मिथ्या। बाद वाले किसी दूसरे परिच्छेद में हम इस विषय में जरा विस्तार के साथ विचार करेंगे। इस समय तो इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि न्याय-वैशेषिक में दूसरे मत को स्वीकार किया जाता है। इसके अनुसार ज्ञान की सत्यता अथवा मिथ्यात्व को संवादि-प्रवृत्ति (प्रवृत्ति अथवा यत्न के द्वारा परीक्षण करना) के द्वारा निश्चित किया जाता है। उदाहरण के लिए जिस वस्तु का प्रत्यक्ष हमें हो रहा है यदि वह हमारे विचार में जल है तो उस प्रत्यक्ष ज्ञान का प्रामाण्य हमें तभी हो सकता है जब वह हमारी प्यास बुझाने में समर्थ हो। यदि वह इस अथवा इसी प्रकार के किसी दूसरे परीक्षण में असफल सिद्ध होता है तो हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि वह अयथार्थ है।

इस प्रकार ज्ञान की सत्यता या मिथ्यात्व बाद में किये हुये अनुमान का विषय है। ज्ञान व्यवहारानुगुण होने पर सत्य और न होने पर असत्य होता है। यहां इस बात को भली-भाँति ध्यान में रखना चाहिए

कि यह व्यावहारिक कसौटी केवल ज्ञान का परीक्षण करने के लिए ही ली गई है उसका स्वाभाविक स्वरूप नहीं है जो आधुनिक व्यवहारवाद की मान्यता है। न्याय वैशेषिक आधुनिक व्यवहारवाद के समान नहीं है क्योंकि उसमें प्रमाण के ज्ञान अथवा प्रमेय सम्बन्धी कार्यों पर ही पूरा जोर दिया गया है। भ्रम वस्तु के यथार्थ स्वरूप का अज्ञान है। ज्ञान का प्राथमिक उद्देश्य इस अज्ञान को दूर करना है। इसके फल स्वरूप जिस प्रवृत्ति का जन्म होता है और जिसे यहां ज्ञान के प्रामाण्य की कसौटी माना गया है वह तो बाद में आने वाला उसका प्रमाण मात्र है। इसका तात्पर्य यह है कि ज्ञानोपलब्ध के अनन्तर प्रवृत्ति के पीछे एक प्रयोजन काम करता है। वह प्रयोजन है सुख की प्राप्ति और दुःख की निवृत्ति। किसी ऐसे प्रयोजन के अभाव में ज्ञान किसी व्यावहारिक प्रवृत्ति को जन्म न देगा, परन्तु इससे उसकी तर्क संगत विशेषता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा।

वैशेषिक तंत्र में केवल दो ही प्रमाणों को स्वीकार किया गया है। वे हैं प्रत्यक्ष और अनुमान। परन्तु न्याय में उपमान और शब्द को भी अङ्गीकार किया गया है। अब हमें उनमें से तीन का संक्षिप्त विवरण देना है। उपमान को हम यहां छोड़ देंगे क्योंकि उसे जिस रूप में इस तंत्र में माना जाता है तर्क शास्त्र की दृष्टि से उसका कोई अधि महत्त्व नहीं है।

(१) प्रत्यक्ष—हम यह तो जानते ही हैं कि यहां प्रत्यक्ष का विवेचन किस प्रकार किया गया है और उसके प्रामाण्य का क्या अर्थ है। अब उसके एक महत्त्वपूर्ण प्रकार का उल्लेख करना ही शेष है। उसे अलौकिक प्रत्यक्ष कहते हैं। वास्तव में यह आनुभविक मनोविज्ञान (Empirical psychology) के क्षेत्र के परे का विषय है। कहा जाता है कि योगी उन वस्तुओं का प्रत्यक्ष करने में भी समर्थ होता है

में कोई जिनका प्रत्यक्ष साधारण मनुष्यों को नहीं हो सकता, उदाहरणतया परमाणु, धर्म इत्यादि। ऐसा विश्वास है कि योगियों में रहस्यमय शक्ति उत्पन्न हो जाती है इसी से उन्हें ऐसे अतीन्द्रिय विषयों का साक्षात्कार हो जाता है। ध्यान देने की बात है कि इस शक्ति के विकास के लिए जिन बातों की आवश्यकता है वे भी वही हैं जो कि मोक्ष-प्राप्ति के लिए अपेक्षित हैं-अर्थात नैतिक शुद्धि और निदिध्यासन की योग्यता। वास्तव में सिद्धान्त यह है कि केवल पहुँचे हुए महात्मा ही इस परिवर्धित और अलौकिक रूप में अपनी प्रत्यक्ष करने वाली शक्तियों का उपयोग करने में सफल हो सकते हैं। जैसा कि हम सोचते हैं इस प्रकार का ज्ञान अनिवार्यतः यथार्थ ही होता है। यह ऋषियों का अपना व्यक्तिगत प्रातिभ ज्ञान होता है जिसका उल्लेख हम पूर्व परिच्छेद में कर चुके हैं।

(२) **अनुमान** :- हम इस बात का संकेत कर चुके हैं कि चार्वाक मतावलम्बियों ने प्रमाण को बिल्कुल ही उड़ा देने का असफल प्रयत्न किया है। जैनमत और बौद्धमत का संक्षिप्त विवरण दते समय हमने प्रमाणों के प्रश्न पर विशेष रूप से कुछ उल्लेख नहीं किया है। ये दोनों ही मत अनुमान के प्रामाण्य को स्वीकार करते है परन्तु इस विषय में जैनियों के मत में कोई ऐसी विशेष बात नहीं जिस पर ध्यान देने की आवश्यकता हो, इस कारण हम बौद्धों की अनुमान के विषय में क्या धारणा है इस पर विचार करेंगे। बौद्ध मत में अनुमान को केवल उन्हीं दशाओं में वैध माना जाता है जहाँ कारण के अस्तित्व का अनुमान किसी ऐसी वस्तु की उपस्थिति से किया जाता है जिसे उसके कार्य के रूप में सिद्ध करके दिखाया जा सकता हो। उदाहरणतया जहाँ हमें धूम्र का दर्शन होता है वहां अग्नि का निगमन करना पूर्णतया वैध है क्योंकि हम यह जानते हैं कि उनमें कार्यकारण भाव होने से उनका सम्बन्ध अनन्यथा सिद्ध है। सर्व प्रथम इस बात की

आवश्यकता है कि अग्नि और धूम्र दोनों में, जिनका उल्लेख हमने अपने उदाहरण में किया है, कार्य कारण सम्बन्ध का प्रत्यक्ष किया जाय। अब यदि ऐसा व्यक्ति जिसे कि इस सम्बन्ध का ज्ञान है किसी स्थ न, मान लीजिए कि पर्वत पर धूम्र का दर्शन करता है और उसको उस सम्बन्ध का स्मरण हो आता है जिसे उसका प्रत्यक्ष इस प्रकार स्थापित कर चुका है, तो उसके हृदय में यह विचार उठता है कि पर्वत पर अग्नि है। यहां प्रस्तुत तंत्र में एक महत्त्वपूर्ण और नवीन परिवर्तन कर दिया गया है जिससे अनुमान का क्षेत्र अत्यधिक विस्तृत हो गया बौद्ध मत के अनुसार धूम्र अग्नि से सम्बन्धित है क्योंकि अग्नि धूम्र का नियत तथा अनिवार्य कारण है। न्याय वैशेषिक में अनिवार्यता पर उसी रूप में जोर नहीं दिया जाता है। अथवा यह कहिए कि इस मत में इस सिद्धान्त को पूर्णतया निश्चित मान लिया जाता है कि प्रकृति के नियमों और कार्यों में ही सदा एक प्रकार की व्यवस्थित एकरूपता पायी जाती है। इसीसे इस मत में ऐसा विश्वास किया जाता है कि जिन दृष्टान्तों में सम्यक परीक्षण के पश्चात् हम इस परिणाम पर पहुँचत हैं कि एक वस्तु (साध्य) का दूसरी वस्तु (हेतु) से नियत साहचर्य है यद्यपि उनके आन्तरिक सम्बन्ध को तत्कालीन परिस्थितियों में हमें जितना ज्ञान प्राप्त होता है उससे सिद्ध नहीं किया जा सकता, तो उन दृष्टान्तों में अनिवार्यता की उपर्युक्ति अपेक्षित शर्त विद्यमान रहती है। बीच में से दो भागों में भिन्न खुरों और सींगों में नियत साहचर्य्य का उदाहरण देखने को मिलता है, अतएव इस मत के अनुसार उनमें से एक की विद्यमानता से दूसरे की विद्यमानता का भी अनुमान लगा लेना नितान्त औचित्यपूर्ण है।

अनुमान दो प्रकार का होता है। एक तो वह जिससे हम स्वयं अपने मन के संशय को दूर कर सकते हैं (स्वार्थानुमान) न और दूसरा

वह जिससे दूसरे का सन्देह दूर किया जा सकता है (परार्थानुमान) । दूसरे वाले अनुमान के लिए यह आवश्यक है कि वह भाषा-बद्ध हो । उसके विभिन्न अवयवों को इस प्रकार प्रकट किया जाता है;

प्रतिज्ञा पर्वत वह्निमान है (पर्वत पर अग्नि है) ।

हेतु—क्योंकि वहाँ धूम्र है ।

उदाहरण—जहाँ-जहाँ धूम्र होता है वहां अग्नि भी होती है—यथा रसोईघर में ।

उपनय—पर्वत पर धूम्र है और वह ऐसा है जैसा कि अग्नि के साथ सदैव रहता है ।

निगमन—अतएव पर्वत पर अग्नि है ।

यहाँ दो बातें ध्यान देने योग्य हैं । पहली यह कि तीसरे अवयव में जो व्याप्त वाक्य है उसको एक प्रतीकभूत उदाहरण के द्वारा पुष्ट किया गया है जिससे यह प्रकट किया जा सके कि उसे समीक्षण के आधार पर लिया गया है । अस्तु, भारतीय न्याय (Syllogism) नैगमनिक ही नहीं अपितु उद्गामी भी है । दूसरी यह कि चतुर्थ वाक्य जो कि अनावश्यक सा प्रतीत होता है यह सूचित करने के लिए है कि न तो हेतु अथवा लिंग और न केवल व्याप्ति-सम्बन्ध स्वयं प्रतिज्ञा के ज्ञान की प्राप्ति कराने में समर्थ हैं । केवल उन दोनों को उचित रूप से संयुक्त करने पर (उपनय) ही वह ज्ञान प्राप्त होता है ।

पंचावयव सम्पन्न न्याय का यह स्वरूप केवल दूसरों के संदिग्ध साध्य की सिद्धि के लिए ही लिया जाता है । उसका शाब्दस्वरूप स्वयं अनुमान का कोई भाग नहीं कहा जा सकता । उससे केवल श्रोता के मस्तिष्क को अपेक्षित ढंग से विचार करने में सहायता मिलती है और इस प्रकार उसके मस्तिष्क में भी विचार करने की उसी प्रक्रिया का उदय हो जाता है जैसी वक्ता के मन में होती है । अतएव, यदि न्याय के स्वरूप को ही अनुमान कहा जाता है तो वह केवल "उपचार" (व्यवहार) के

कारण ही। अर्थात् शेष अन्य भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों की भांति न्याय वैशेषिक भी तर्क शास्त्र के शब्द सिद्धान्त का निराकरण करता है जो पाश्चात्य देशों में प्रायः स्वीकार किया जाता है। भारत में सदा ही इस बात को ध्यान में रखा गया था कि तर्क शास्त्र का विषय विचार है न कि वह स्वरूप जिसमें भाषा के द्वारा उसकी अभिव्यक्ति होती है।

(३) शब्द :- जिन दो दार्शनिक सम्प्रदायों पर हम इस समय विचार कर रहे हैं उनमें केवल न्याय में ही शब्द को एक प्रमाण के रूप में स्वीकृत किया गया है। यद्यपि न्याय दर्शन में वेदों को प्रमाण माना गया है तथापि उसके प्रामाण्य की विवेचना उसमें स्वयं अपने ढंग से की गई है। इस दृष्टि से इसका मीमांसा दर्शन से मतभेद है। मीमांसा दर्शन पर विचार करते समय इस भेद को स्पष्ट कर दिया जायगा। यही नहीं कि इस सम्प्रदाय में शब्द प्रमाण को वेद तक ही सीमित रखा गया है बल्कि शास्त्रोक्त बातों के परे भी इसके क्षेत्र को विस्तृत कर दिया गया है और अत्यन्त सामान्य शब्दों में व्याख्या करते हुए इसे आप्त पुरुष का कथन कहा गया है। आप्त पुरुष का तात्पर्य यहाँ उस पुरुष से है जो सत्य को जानता है और उसके यथार्थ रूप को ही बताता है। केवल उसके वचनों पर यह विश्वास नहीं किया जा सकता कि वे भी वेद वाक्यों की भाँति पूर्ण रूपेण निश्चित है क्योंकि ईश्वर से उनका उद्गम होने के कारण उनके साथ अनिवार्य रूप से इस प्रकार का निश्चय संयुक्त रहता है।

इस प्रमाण के सामान्य स्वरूप और उसको मानने की आवश्यकता पर हम विचार कर हो चुके हैं। अब हम विशिष्ट शब्द वक्तव्यों या वाक्यों के महत्व के विषय में संक्षिप्त रूप से उल्लेख करेंगे। जब गौ जैसे शब्द का उच्चारण किया जाता है तो जो व्यक्ति उसके अर्थ से परिचित रहता है उसके सम्मुख तो गाय (पशु) का चित्र आ जाता है किंतु दूसरों के लिए उसका कोई विशेष महत्व नहीं होता। उनके मस्तिष्क

पर केवल एक श्रावण संस्कार डालकर ही वह नष्ट हो जाता है। सार्थक होने के लिए आवश्यक यह है कि दो या दो से अधिक शब्दों को उचित ढंग से एक वाक्य के रूप में संयुक्त किया जाय। कभी-कभी एक ही शब्द विचारों को अवगत कराने में समर्थ हो जाता है प तु उस समय होता सदा यही है कि प्रसग से हम एक या अधिक शब्दों को लगा लेते हैं। इस प्रकार वाक्य ही सार्थक शब्द की इकाई है। परन्तु देखना यह है कि इस प्रकार वाक्य रूप में संयुक्त शब्दों के द्वारा जो बोध प्राप्त होता है उसका स्वरूप क्या है ? वह विविध पदों का अलग अलग अर्थ तो हो नहीं सकता क्योंकि उनका ज्ञान तो पहले से ही रहता है अतएव, उस समय तो केवल उसका स्मरण भर हो जाता है। वह तो एक प्रकार का सम्बन्ध विशेष है जो उन वस्तुओं में पाया जाता है जिनका संकेत वाक्यों के अगभूत यथार्थ पदों से होता है। जब हम यह कहते हैं कि पुस्तक मेज पर है तो श्रोता को पुस्तक और मेज के एक विशेष सम्बन्ध का ही बोध होता है। इस विशिष्ट रूप में उनका जो सम्बन्ध है वही वाक्य में प्रयुक्त किसी एक पद का अर्थ नहीं हो सकता। अधिकरण वाचक पद केवल सामान्य रूप से स्थिति का निर्देश क ता है अस्तु, अधिकरण वाचक किसी शब्द से जो तात्पर्य निकलता है उसे सामान्यतया संसर्ग कहा जाता है और यह न्याय-संगत वाक्यों के संबंध में भी उसी प्रकार चरितार्थ होता है जिस प्रकार उन वाक्यों के जो न्याय संगत नहीं है।

(२)

जहाँ तक जीवन के लक्ष्य (निःश्रेयस) का सम्बन्ध है भारत के दार्शनिक सम्प्रदायों को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। एक तो वे जो उसे कष्टों से छुटकारा मानते हैं और दूसरे वे जो उसे आनन्द का रूप कहते हैं। न्याय वैशेषिक मत प्रथम प्रकार का है। इसमें अभाव की जो भावना की गई है उसी के कारण

वह मोक्ष के विषय में इस प्रकार के मत को उपस्थित कर सकता है क्योंकि उसके अनुसार दुःख के अभाव का अर्थ आनन्द की विद्यमानता नहीं है। इस सम्प्रदाय में आत्मा के स्वरूप की जो कल्पना की जाती है वह भी इस प्रकार के मत से मेल खाती है क्योंकि यद्यपि सुख और दुःख दोनो ही आत्मा के विशेष गुण हैं किन्तु उनमें से कोई भी उसके तत्वभूत पदार्थ नहीं है। इसी से गौतम ने इसे अपवर्ग (विमुक्ति) की संज्ञा दी है। इसका आधार भूत भाव यह है कि दुःख उतना ही सत्य है जितना कि सुख और हम उनमें से एक को बिना दूसरे के नहीं प्राप्त कर सकते। हम देख चुके हैं कि देहात्मवादी भी इसी मत को मानते हैं यद्यपि उससे जिस निर्णय पर वे पहुँचते हैं उसका प्रस्तुत तंत्र से अत्यन्त वैभिन्य होता है। अतएव आत्मा या तो सुख-दुख दोनों के आधीन होनी चाहिए या किसी के नहीं। पूर्व अवस्था को संसार कहते हैं। मानसिक उद्विग्नता ही इसकी विशिष्टता है जो केवल यदा-कदा ही किसी क्षण स्थाई सुख के द्वारा दूर हो जाया करती है। उत्तर अवस्था मोक्ष अथवा पूर्ण शान्ति की है यदि किसी चैतन्य हीन अवस्था को इस प्रकार की संज्ञा दी जा सके तो क्योंकि हम देखेंगे यहाँ वह एक उसी प्रकार की अवस्था है। यदि दुख का निवारण वाञ्छनीय है तो हमें सुख को भी तिलाञ्जलि देना निश्चित कर लेना चाहिए। यहाँ यह और कह देना चाहिए कि यह मानने से कि दुःख अन्त तक (सदा ही) रहता है, यह दार्शनिक सम्प्रदाय निराशावादी नहीं हो गया है क्योंकि इस बात की सम्भावना को यहां स्वीकार किया गया है कि व्यक्ति विशेष दुःख का अतिक्रमण करने में समर्थ हो सकते हैं। अर्थात् यद्यपि दुःख को यहां सत्य मान गया है तथापि अनिवार्य नहीं क्योंकि यदि कोई व्यक्ति गम्भीरता पूर्वक यह चाहता है कि दुःख से उसकी मुक्ति हो जाय तो वह हो सकती है। मोक्ष की जो यह व्यक्तिवादी (individualistic) भावना की गई है उसका यह अर्थ नहीं कि हम दूसरों के दुःखों के प्रति उपेक्षा

का भाव ग्रहण कर लें अथवा उसको दूर करने के लिए अपने प्रयत्नों को जहाँ तक सम्भव हो कम करते जांय, बल्कि अपने उदाहरण में उसको अभिभूत करने की उत्कृष्ट आवश्यकता को देख कर हमें इस बात की प्रेरणा मिलनी चाहिए कि हम उस दिशा में द्विगुणित रूप से प्रयत्नशील हों।

हम इस बात का संकेत कर चुके हैं कि मोक्ष सुख और दुःख के परे की अवस्था है। इसके विषय में कुछ शब्द और कह देना वांछनीय है। जब एक ऐसा मनुष्य जो कि मोक्षप्राप्ति का अधिकारी हो गया है इस देह को छोड़ता है, तब उसकी आत्मा ऐसा विश्वास है, केवल सुख-दुख का ही नहीं वरन् अपने विशेष गुणों का भी अतिक्रमण कर लेती है। परिणामस्वरूप उस समय वह विचार (बुद्धि), भावना, संवेदन (सुख-दुःख) और इच्छा से शून्य हो जाती है। इस प्रकार मोक्ष एक ऐसी पूर्ण विषादमय अवस्था का नाम हो जाता है जिसमें फिर से किसी जाग्रति की सम्भावना ही नहीं होती। इस मत के विरोधियों ने इस अवस्था की निन्दा करते हुए जो यह कहा है कि यह उपचार उस रोग से भी गया बीता है जिसकी चिकित्सा के लिए उसे उपयोगी ठहराया जाता है—वह ठीक ही है। परन्तु यह मृत्योपरान्त प्राप्त होने वाले मोक्ष के विषय में ही है। यदि इस सैद्धान्तिक परम अवस्था के स्थान पर हम उस अवस्था पर विचार करें जो मोक्ष प्राप्ति के परम अधिकारी को मृत्यु के पूर्व इसी जीवन में प्राप्त होती है तो हम देखेंगे कि वह अवस्था जरा भी संतोषजनक नहीं है। अतः उस समय केवल द्वेष और आत्मराग जैसे अवाञ्छनीय गुण पृथक्कृत कर दिये जाते हैं न कि आत्मा के समस्त वैशेषिक गुण। इस प्रकार मनुष्य में यथार्थ ज्ञान (बुद्धि), सम्यक् इच्छा और सम्यक् भावना-संवेदन (सुख दुःख) तो रहेगा ही, और वह अवश्य ही सत्कर्मों का सम्पादन करने में अथवा परमार्थ सत्य का चिन्तन करने में अनवरत रूप से लगा रहेगा। अर्थात् उस समय उसकी अवस्था लगभग 'दिव्य-विभूति सत् सत्व' की उस

पूर्णता के समान ही है जिसका वर्णन किया जा चुका है। यद्यपि उस सम्पादन में उस विशेष अवस्था को स्वीकार नहीं किया जाता है जिसे कुछ तंत्रों में जीवन्मुक्ति की संज्ञा दी गई है तथापि यह अवस्था उसके बिलकुल अनुरूप ही है। इस भावात्मकवादी दृष्टि से जाँचने पर यह तंत्र परमार्थतः अभावात्मक होने और अत्यन्त कठोर तपस्याओं और नियमों का विधान करने पर भी कुछ विशेष लक्षणों से सम्पन्न है। ये लक्षण ऐसे हैं जो कुछ खास प्रकार के स्वभाव वाले पुरुषों को विशेषतया आकर्षक लगेंगे।

इस लक्ष्य की प्राप्ति का साधन क्या है ? न्याय-वैशेषिक मत में इस प्रश्न का उत्तर यह है कि आत्मा का मन और शरीर के साथ संयुक्त होना ही दुःख का कारण है। इसमें सन्देह नहीं कि मृत्यु के समय भौतिक शरीर का नाश हो जायगा; परन्तु कर्म सिद्धान्त के अनुसार आत्मा के पुनर्जन्म लेने पर उसका स्थान दूसरा शरीर ले लेगा। इसके विपरीत मन सदैव वैसा ही रहेगा और आत्मा से संयुक्त रहेगा, परन्तु उसका अस्तित्व उस समय पूर्णतया व्यापारहीन होगा और फिर सुख दुःख तथा ऐसे ही अन्य लक्षणों का प्रभाव आत्मा पर जरा भी न पड़ेगा। यद्यपि आत्मा का सम्बन्ध यथार्थतः आत्मा और शरीर दोनों से ही है तथापि वह उसमें अनिवार्य रूप से समवेत नहीं है। इस प्रकार यहाँ भी दूसरे तन्त्रों की भाँति यथार्थ ज्ञान को मोक्ष का साधन और अज्ञान को बन्धन का कारण माना गया है। यह अज्ञान अथवा मोह ही द्वेष और राग को जन्म देकर क्लेश और केवल क्षणिक आनन्द से पूर्ण संसार का मूल कारण हो जाता है। रज्जु-सर्प जैसे अन्य प्रकार के भ्रमों की भाँति यह परम भ्रम भी एक विपर्यय ही है क्योंकि यह असक्त आत्मा को इस रूप में निरूपित करता है कि वह दुःखों के पचड़े में पड़ी हुई हो। हमें तो केवल पाठक को यह याद दिला देना है कि जिस भ्रम-ज्ञान से संसार का संसरण होता है वह अपरोक्ष होता है इस कारण

उसको अभिभूत करने के लिए आत्मा के स्वभाव के उतने ही अप-रोक्ष ज्ञान की आवश्यकता है।

हम देख चुके हैं कि आत्मा स्वयं अपने में सुख और दुःख से विरहित है और इसलिये कर्म सिद्धान्त के अनुसार उसे उनके (सुख-दुःख के) कारणों (धर्म और अधर्म) के परे होना चाहिए। ये अथवा अधिक उपयुक्त तो यह कहना होगा कि उनके सत् और असत् रूप निकटस्थ धर्म और अधर्म कहे जाते हैं। ये आत्मा के आठ विशेष गुणों में से जिनमें दो का उल्लेख करना शेष रह गया था वे ही हैं। इनका आवास आत्मा में उस समय तक रहता है जब तक वे क्रमशः सुख और दुःख रूप में अपने अपने फलों को जन्म नहीं दे देते हैं और इन फलों को भोगने के लिए ही मनुष्य को जन्म लेना पड़ता है। जो विपर्यय नियत रहता है चाहे यथार्थ ज्ञान के द्वारा उसका निराकरण भी कर दिया जाय, प्रवृत्ति तो तब भी रहती है, परन्तु गौतम कहते हैं कि इस प्रकार की प्रवृत्ति पुनर्जन्म अथवा धर्म के संचय की ओर नहीं ले जाती (इस प्रकार के उदाहरण में अधर्म की तो कल्पना भी नहीं की जा सकती) क्योंकि यह किसी स्वार्थ (अहं) भावना अथवा अदूरदर्शिता (अज्ञान) का फल तो है नहीं। मृत्यु के अवसर पर जब भौतिक शरीर से आत्मा का विच्छेद हो जाता है तो इस प्रकार का व्यक्ति अवश्यम्भावी रूप से मुक्त हो जाता है। उस पर धर्म और अधर्म के विषय में जो कहा गया है उनका सम्बन्ध पूर्णतया नैतिक आचार-विचार से है। तब से इस मौलिक भावना का क्षेत्र विस्तृत हो गया है और वेद विहित अथवा निन्दित कर्मों के फलों का भी इन शब्दों के अर्थ में समावेश किया जाने लगा है। उनके अर्थ में जो यह परिवृद्धि हो गई है उसका कारण यह है कि इस सम्प्रदाय में वेदों के प्रामाणिकता की स्वीकृति बाद में की गई है जिसका उल्लेख कर दिया गया है।

अब जीवन के इस परम निःश्रेयस की ओर ले जाने वाली साधना के विषय में विस्तारपूर्वक विचार किया जायगा। स्थूल रूप से यह कहा जा सकता है कि इस साधना की सिद्धि के लिए क्रम से दो सोपान हैं। (१) असंग-भावना को उत्पन्न करना प्रथम अवस्था है। सभी सम्प्रदायों ने इसका उपदेश दिया है। उसके सम्बन्ध में उनके क्रम से पृथक् पृथक् जो तात्विक मत हैं उनको हम इस दृष्टि से देख सकते हैं कि वे उस भावना के लिए भिन्न-भिन्न कारणों को प्रस्तुत करते हैं। उदाहरणतया उपनिषदों में इसकी आवश्यकता को समझाते हुए समस्त भूत समुदाय के एक तत्व को ही उसका कारण बतलाया है। प्रस्तुत तंत्र में यही बात आत्मा के तत्वतः निःसृंग स्वभाव के द्वारा समझायी गई है। इस अवस्था की साधना प्रधानतया आचार सम्बन्धी ही है और उसका तात्पर्य स्वार्थ (अहं) पूर्ण इच्छाओं और प्रवृत्तियों के पूर्ण दमन से हैं। इस मत का आधार-भूत महत्त्वपूर्ण सत्य यह है कि विचार करने पर हमें यह पता चल जायगा कि संसार के अधिकांश दुःख का मूल प्रत्यक्षतः अथवा अप्रत्यक्षतः व्यक्तिरूप में अथवा किसी विशिष्ट संघ के सदस्य के रूप में मनुष्य की स्वार्थ परता ही है। दूसरा सत्य यह है कि जब तक उसको पूर्ण-तया अभिभूत नहीं कर दिया जाता तब तक न तो व्यक्ति की और न समष्टि रूप से समाज को किसी भी प्रकार की शान्ति मिल सकती है। (२) उपर्युक्त नैतिक योग्यता परम सत्य के ज्ञान की प्राप्ति के लिए आवश्यक गाम्भीर्य की उपलब्धि में सहायक सिद्ध होती है। यह श्रवण (स्वाध्याय) और मनन के द्वारा होता है। उपर्युक्त दार्शनिक आदर्श का इस प्रकार अनुसरण करने के लिये कि वह एक प्रभावशाली साधक बन सके नैतिक योग्यता सहायता प्रदान करती है। इसी से इस दूसरी अवस्था में संयम की प्रधान विशेषता यह है कि वह बौद्धिक होता है। यहां परम सत्य का ध्यान (योग) ही अन्तिम सोपान है। यदि सफलतापूर्वक उसका अभ्यास किया जाय तो फलस्वरूप उसका प्रत्यक्ष दर्शन हो ही जाता है और उसके प्रभाव से मूल अविद्या अथवा अज्ञान

का उच्छेद हो जाता है। जीवन के परम निःश्रेयस की प्राप्ति के लिए जिस साधना का वर्णन पूर्व-परिच्छेदों में किया गया है सामान्यतया इसका उससे जो साम्य है वह तो स्पष्ट ही है। यहां अन्तर केवल यही है कि जिस सत्य का दर्शन करना है उसका स्वरूप भिन्न है। इसलिये यहाँ उस पर और अधिक विचार करना आवश्यक नहीं है।

पाँचवाँ परिच्छेद

सांख्य-योग

यह प्राचीनतम दार्शनिक सम्प्रदायों में गिना जाता है, परन्तु इसकी उत्पत्ति का विषय बहुत विवादास्पद बना रहा है। प्राचीन और अर्वाचीन दोनों ही प्रकार के कतिपय विद्वान कहते हैं कि यह उपनिषदों से निकला है किन्तु दूसरे यह मनते हैं कि यह एक स्वतंत्र तन्त्र है। इसका उद्‌गम चाहे जो भी हो इतना तो निश्चित ही है कि इस मत ने भारतीय विचारों को समष्टिरूप में व्यापक रूप से प्रभावित किया है और इसका महत्त्व केवल वेदान्त के बाद ही आता है। न्याय वैशेषिक की भांति प्रस्तुत सम्प्रदाय भी सांख्य और योग इन दोनों तन्त्रों का समन्वय है। कपिल और पतञ्जलि क्रमशः इन दोनों के प्रवर्तक थे, परन्तु दोनों का ऐतिहासिक सम्बन्ध स्पष्टरूप से ज्ञात नहीं है। उनका सामान्य तात्विक दृष्टिकोण और उनके अनुसार जीवन आदर्श की भावना एक ही है, पररतु कुछ महत्त्वपूर्ण पक्ष ऐसे भी हैं जिनमें उनका मैतक्य नहीं है। उनमें से एक दो के विषय में हम बाद में उल्लेख करेंगे। भारत के दार्शनिक साहित्य में जिन नामों से ये दोनों तंत्र विख्यात हैं वे अत्यधिक सामान्य हैं। दार्शनिक सम्प्रदायों का उल्लेख तो वे करते ही हैं किन्तु इसके अतिरिक्त वे बहुधा परमतत्व की प्राप्ति के साधनों के अर्थ में भी आते हैं। पहले वाले की व्युत्पत्ति संस्कृत शब्द 'संख्या' से हुई है। जिसका अर्थ 'मनन', है इसका तात्पर्य यह है कि ज्ञान के द्वारा दर्शन के परम तत्व का साक्षात् किया जाय। इसके विपरीत दूसरे शब्द योग का अर्थ है 'निदिध्यासन या ध्यान।' यह उसी तत्व का साक्षात करने के लिए दृढ़तापूर्वक और अभ्यास पूर्वक किए गये ध्यान को ही उसका साधन ठहराता है। सभी भारतीय दार्शनिक

सम्प्रदायों में--इसमें प्रस्तुत सम्प्रदाय का भी समावेश है–इन दोनों (ज्ञान और योग) का विधान किया जाता है। इसी कारण परमतत्व का साक्षात करने के लिए आवश्यक साधना में उनको जो एक निश्चित स्थान दिया गया है वह अन्तर उसी तक सीमित है। कुछ लोग ज्ञान को ही मोक्ष का निकटतम साधन बताते हुए उसी पर अधिक जोर देते हैं।

यह जरा विचित्र सा मालूम होता है कि प्रस्तुत सम्प्रदाय से विशेष-तया उसके सांख्य वाले भाग से सम्बन्धित साहित्य बहुत ही कम मिलता है जब कि दूसरे सम्प्रदायों के ऊपर काफी विस्तृत साहित्य मिल जाता है। सांख्य पर इस समय मिलने वाले ग्रन्थों में ईश्वर कृष्ण की सांख्य कारिका सबसे प्राचीन है। ये पाँचवी शताब्दी के लगभग हुए थे। महान वेदान्ती वाचस्पति को लेकर कितने ही विद्वानों ने इस पर टीकाएँ लिखी हैं। एक सांख्य सूत्र भी मिलता है। साधारणतया यह विश्वास किया जाता है कि यह भी उतना ही प्राचीन है जितने कि अन्य सूत्र ग्रन्थ जिन्हें कि दूसरे दार्शनिक सम्प्रदायों का मूल उद्गम माना जाता है। परन्तु ऊपर अभी जिस ग्रन्थ का उल्लेख किया गया है यह स्पष्ट रूप से प्रकट है कि यह उस पर आश्रित है। आधुनिक अन्वेषण के आधार पर यह अनावश्यक समझा गया है कि चौद-हवीं शताब्दी के पूर्व इसकी तिथि नहीं निर्धारित की जानी चाहिए। दूसरे दर्शन का सर्व प्रमुख ग्रन्थ है पतञ्जलि का योगसूत्र। बहुत कुछ सम्भावना तो इसी बात की है कि यह इसी नाम के दूसरे सुप्रसिद्ध वैया-करण पतञ्जलि से भिन्न हैं जो कि ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी में हुए थे और सम्भवतः और भी पहले हुए थे। इस पर व्यास का भी एक भाष्य है। ये केवल नाम ही से व्यास हैं न कि वही पुरातन काल के सुवि-ख्यात महर्षि। इस पर और दूसरे भाष्य भी हैं, उदाहरणतया एक है राजा भोज की वृत्ति।

[१]

पूर्व परिच्छेद में वर्णित दार्शनिक सम्प्रदाय की भांति इसमें जड़तत्व और चेतनतत्व दोनों को ही परमार्थतः सत् माना गया है। उसी की भाति इसमें भी आत्म बहुत्व को स्वीकार किया गया है। उन्हें इसमें साधारणतः पुरुष कहा जाता है। परन्तु न्याय वैशेषिक से इसका इस बात में मत-भेद है कि इसमें समस्त विषमताओं से युक्त संपूर्ण भौतिक जगत को एक ही मूल कारण से उद्भूत बताया गया है। उस मूल कारण को प्रकृति कहते हैं। इस प्रकार पुरुष और प्रकृति अथवा आत्मा और प्रकृति ये दो भावनाएँ ही इस तंत्र के दो आधारभूत तत्व हैं। उनके स्वरूप का वर्णन करते हुए हम इस सम्प्रदाय की विवेचना करना आरम्भ करेंगे। यहाँ हम बाद वाले तत्व प्रकृति को पहले लेंगे।

(१) प्रकृति :—भौतिक जगत की उत्पत्ति किस प्रकार हुई इसे दो प्रकार से समझाया जाता है। या तो, जैसा कि न्याय वैशेषिक में किया गया है निरवयव तथा अणु माने जाने वाले परमार्थतः सत् तत्त्वों के बहुत्व को ही उसका कारण बताया जाय अथवा यह कहा जाय कि विभु और श्लिष्ट माने जाने वाले किसी एक तत्त्व से ही उसकी उत्पत्ति हुई है। पहले वाला आरम्भवाद का सिद्धान्त है, बाद वाला परिणामवाद का क्योंक उसमें संसार की वस्तुओं को किसी नवीन सृष्टि का परिणाम न मानकर मूलतत्त्व में होने वाले परिणाम या स्वरूप परिवर्तन के रूप में ही माना गया है। सांख्य-योग में दूसरे प्रकार के विवेचन को स्वीकार किया गया है और उस मूलतत्व को 'प्रकृति' संज्ञा दी गई है और अनन्त विविधतामय भौतिक जगत जिसका परिणाम है। वेद के एकत्ववाद की समीक्षा करते हुए 'तदेकम' की जिस भावना का उल्लेख हम कर चुके हैं उससे इसका साम्य स्पष्ट ही है। केवल इतना अवश्य है कि उस तत्त्व का स्वरूप चेतन अथवा आध्या-

त्मिक है जबकि प्रस्तुत तत्त्व वैसा नहीं है। साक्षात रूप से इस मूलतत्त्व का प्रत्यक्ष हमें नहीं हो सकता और हमें केवल अनुमान के द्वारा ही इसके अस्तित्व का ज्ञान प्राप्त हो सकता है जो न्याय-वैशेषिक मत में परमाणुओं के विषय में होता है। स्थानों की भाँति यहाँ भी यह सम्प्रदाय जिन निर्णयोंपर पहुँचता है वे तर्क पर आश्रित रहते हैं और वह उनके समर्थन के लिए श्रुतियों की सहायता का मुंह नहीं देखता।

इस प्रकार संसार का आदि कारण प्रकृति एक और संश्लिष्ट है। तीन तत्वों से बने होने के फलस्वरूप ही इसकी यह संश्लिष्टता है। इसमें से प्रत्येक को गुण कहते हैं। सामान्यतया गुण का अर्थ होता है 'विशेषता'। हमें इस शब्द को यहाँ उस अर्थ में नहीं लेना चाहिए। यहां तो इसका अर्थ है प्रकृति का 'साधक-घटक' (component factor) अथवा 'अवयव घटक'। किन्तु यह नहीं सोचना चाहिए कि प्रकृति उनसे मिलकर निर्मित है, क्योंकि जहां वह उन पर निभर रहती है वहाँ वे भी उस पर उतना ही निर्भर रहते हैं। इसका कारण यह है कि दोनों ही समान रूप से अनादि हैं। इसके अतिरिक्त यद्यपि इन तीनों 'अवयव घटकों' (गुणों) का स्वभाव तत्त्वतः एक दूसरे से भिन्न है तब भी इनको अन्योन्याश्रित माना गया है। इसी से इनको एक दूसरे से पृथक नहीं किया जा सकता। इसका अर्थ यह है कि उनका एक में एकत्रीकरण यांत्रिक नहीं है बल्कि परस्पर एक दूसरे से सम्बद्ध है और तीनों संबद्ध होकर एकत्व की स्थापना करते हैं। दूसरे शब्दों में वे केवल सहवर्ती ही नहीं अपितु परस्पर समवेत भी हैं। गुणों का यह अन्योन्याश्रयत्व इस बात की सम्भावना का कोई स्थान नहीं रहने देता कि उनके पृथक्करण से प्रकृति का विभाजन हो सकता है।

इन तीनों गुणों को सत्व, रज और तम कहते हैं। इसमें से प्रत्येक भौतिक तत्व के एक विशिष्ट स्वरूप के लिए आता है। स्थूल रूप से सत्व प्रत्येक शुद्ध और उत्तम पदार्थ का, रज क्रिया प्रवर्तक और

तम मोह रूप तथा प्रतिबन्धक पदार्थों के सूचक हैं। उपर्युक्त वर्णन से यही प्रकट नहीं होता कि गुण केवल एक दूसरे से विशिष्ट ही है वरन् कुछ हद तक अपने अपने स्वभाव में एक दूसरे के विरोधी भी हैं। वह विरोध ऐसा नहीं है कि उनको साथ साथ मिलकर कार्य न करने दे। वे एकाकार होकर कार्य करते हैं। उनके इस अनुकूल व्यापार को प्रदीप के उदाहरण से स्पष्ट किया जाता है। जैसे कि अपने पृथक पृथक स्वरूप में बत्ती, तेल और अग्नि में ऐसी कोई सामर्थ्य नहीं दिखाई पड़ती कि वे एक साथ मिलकर कोई व्यापार कर सकें किन्तु तीनों पारस्परिक सहयोग से प्रकाश उत्पन्न करते रहते हैं। दूसरे शब्दों में यह भौतिक जगत एक व्यवस्थित समष्टि है और परमार्थतः उसमें कोई विरोध नहीं है यद्यपि वह विरोधी तत्वों से मिलकर बना है।

केवल प्रकृति ही तीन गुणों से मिलकर नहीं बनी है वरन् उससे संसृत होने वाली प्रत्येक वस्तु भी उसी प्रकार निर्मित होती है क्योंकि इस तंत्र में यह माना जाता है कि कार्य तत्वतः अपने उपादान कारण से अभिन्न होता है। वास्तव में अनुभव में आने वाली वस्तुओं के उपर्युक्त संश्लेषण के द्वारा ही प्रकृति की भावना की गई है; उदाहरणतया जिस प्रकार सुवर्णमय अंगूठियों और दस्तबन्द जैसी वस्तुओं का परीक्षण करने पर हमें स्वर्ण का ज्ञान हो जाता है। कार्य-कारण के जिस सिद्धान्त की ओर हमने पूर्व परिच्छेद में संकेत किया था प्रस्तुत सिद्धान्त उसके बिलकुल विपरीत है। इस सिद्धान्त में यह माना जाता है कि कोई भी वस्तु बिलकुल नवीन रूप में अस्तित्व में नहीं आ सकती और न उसका अस्तित्व सदा के लिये पूर्णतया विलुप्त हो सकता है। अतएव, जब यह कहा जाता है कि अमुक कार्य उत्पन्न हुआ तो उसका अर्थ यही होता है कि अब तक कारण में जो कार्य अंतर्निहित था इस समय केवल उसकी अभिव्यक्ति हो गई है। इसका आधारभूत अभिप्राय यही है कि कार्य हमेशा रहता है (सत् है) यद्यपि वह रहता अव्यक्त रूप में ही है और वह यथार्थतः केवल तभी अभिव्यक्त होता है जब कि कुछ

विशेष शर्तें, जैसे बर्तनों के बनाने के लिये कुम्हार का उद्योग, पूरी हो जाती हैं। इन शर्तों को निमित्त कारण कहते हैं। इसी से न्याय वैशेषिक की भांति यहाँ उपादान-कारण और कार्य को नितान्त विभिन्न नहीं माना गया है। इसके विपरीत दूसरा सिद्धान्त 'असत्कार्यवाद' कहलाता है।

ये गुण अथवा "विश्व के अवयवभूत तत्व" प्रकृति में पूर्ण साम्यावस्था में रहते हैं। यह अवस्था उस समय तक रहती है जब तक प्रकृति स्वयं अपने में विभिन्नताओं को उत्पन्न नहीं करने लगती। उस समय उससे क्रमशः वस्तुओं की जो विविधता उद्भूत होकर अस्तित्व में आने लगती है वह इस कारण होता है कि सृष्टि विकास के होने में जिन तत्वों का निर्माण होता है उनको बनाने वाले गुणों के अनुपात में विभिन्नता रहती है। इस प्रकार यद्यपि वे संख्या में केवल तीन ही होते हैं तब भी वे भेद बाहुल्य के कारण हो सकते हैं। प्रकृति केवल संश्लिष्ट और सर्व व्यापक ही नहीं है वरन् वह नित्य-परिणामशील और परिवर्तनशील भी है। इसी से उससे जो वस्तुएँ उद्भूत होती हैं स्वभावतः उनको भी उसके परिणामशील (अस्थिर) स्वभाव से युक्त माना जाता है। इस प्रकार जिस कागज पर ये पंक्तियाँ मुद्रित की गई हैं वह देखने में भले ही स्थिर लगे परन्तु वस्तुतः वह प्रत्येक क्षण परिवर्तित हो रहा है यद्यपि इसके साथ ही जब तक उसकी सत्ता रहेगी वह अपना तादात्म्य बनाये रखेगा। यह कह देना और आवश्यक है कि विकास का अर्थ है स्वरूप का परिवर्तन होना (परिणाम)। न्याय-वैशेषिक मत में परिणाम की यह भावना अज्ञात है। परिणाम का अर्थ स्थान परिवर्तन (परिस्पन्द) नहीं है और न्यायवैशेषिक मत में कर्म का ही अर्थ परिस्पन्द अथवा स्थान-परिवर्तन होता है। उदाहरणतया एक पौदा एक स्थान से हटाकर दूसरे स्थान पर रोपा जा सकता है, किन्तु जिस स्थान पर वह है वहीं वह बढ़ या मुरझा भी सकता है। यहाँ परिवर्तन की जो कल्पना की गई है

उसके अनुसार परिवर्तन केवल एक दिशा में ही नहीं होता है। सृष्टि विकास की यह प्रक्रिया नियत समय में चक्र के समान परिवर्तित होती रहती है और प्रत्येक सृष्टि काल के पश्चात् प्रलय काल का आगमन होता है। प्रलय काल में विश्व की संपूर्ण विविधता अव्यक्त हो जाती है अथवा यही कहिए कि वह प्रकृति में 'सोने' के लिये चली जाती है। इस प्रकार एक के बाद दूसरा चक्र आता रहता है और अन्य भारतीय तन्त्रों की भांति यहाँ भी यह माना जाता है कि इस क्रम का कोई आदि नहीं था और न उसका कोई अन्त ही होता है। परन्तु हमें यह ध्यान में रखना चाहिए कि प्रकृति प्रलय की अवस्था में भी बिलकुल निष्क्रिय नहीं हो जाती क्योंकि गति तो उसके लिए बिलकुल मूलगत मानी गई है। उस समय उसके अवयव भूत भाग, गुण परस्पर एक दूसरे के प्रति क्रियाशील होने के और विषम परिणामों को उत्पन्न करने के स्थान पर स्वयं अपना परिणाम करते रहते हैं। प्रकृति की इस स्वतः परिवर्तित क्रियाशीलता में हमें इस मत का न्याय वैशेषिक से एक अन्य महत्त्वपूर्ण अन्तर देखने को मिलता है। वह यह है कि न्याय-वैशेषिक मत के अनुसार जड़-द्रव्यों में बाह्य शक्तियों से प्राप्त होने वाली गति के अतिरिक्त अपना कोई कर्म या गति नहीं होती।

अब हम उन पदार्थों के विषय में विचार करेंगे जो प्रकृति से संसृत होते हैं। उनमें से सर्व प्रथम तत्व को बुद्धि (महत्) कहते हैं। महत् की बारी आने पर उससे अहं तत्व अथवा 'अहंकार' का उदय होता है। इन शब्दों से हमें क्या समझना चाहिए यह शीघ्र ही स्पष्ट हो जायगा। तब तक हम इस बात पर ध्यान दे सकते हैं कि इन तत्वों की प्रकृति से, जैसा कि उनके नामों से ही सूचित होता है, यह प्रकट होता है कि प्रकृति सर्व प्रथम अपने को पुरुष की आवश्यकताओं के अनुरूप बना लेती है। विचार करने की इन्द्रिय बुद्धि और विचार को जानकर या अनजाने में ही अपना बना लेने अथवा उनको अपना ही

समझ लेने वाले अहंकार-तत्त्व से जीवन के अनुभवों को ग्रहण करने के लिए सर्व प्रमुख इन दो साधनों की सृष्टि करके ही प्रकृति अपने को पुरुष के अनुरूप बना लेने वाले उपर्युक्त कार्य का सम्पादन करती है। इस दूसरे (अहंकार) से दो प्रकार के तत्त्वों की अविर्भूति होती है। इनमें से एक प्रकार के तत्त्व में हम उसके जिन विकारों का समावेश करते हैं वे निम्न हैं—मन, पाँचों सुविख्यात ज्ञानेन्द्रियाँ तथा वाक, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ। ये सब चेतन जीवन में सहायता करने वाले तत्व हैं। पंच-महाभूत दूसरे प्रकार के तत्व हैं। ये हीं दृश्य जगत के आधार हैं। यह माना जाता है कि प्रथम प्रकार के तत्त्व तो मुख्यतया अहंकार के सात्विक स्वरूप से उद्‌भूत हुए हैं और दूसरे प्रकार के उसके स्वरूप से। तृतीय तथ्य (रजोगुण) किसी पृथक प्रकार के विकारों अथवा तत्वों का संसृत करने वाला नहीं माना जाता है। उसे तो केवल सत्त्वगुण और तमोगुण दोनों का सहकारी माना जाता है।

इन पंचभूतों के विषय में यह धारणा है कि उनकी दो अवस्थाएं हैं। पहली अवस्था में वे नितान्त सूक्ष्म 'तन्मात्र' मात्र रहते हैं और दूसरी अवस्था में वे (तन्मात्राएँ) एक दूसरे से संयुक्त होकर पांच स्थूल भूतों को उत्पन्न करती हैं। उनका स्वरूप वही होता है जिससे कि हम परिचित रहते हैं। सूक्ष्म भूतों को शब्द-तन्मात्र रूप-तन्मात्र आदि इसी प्रकार के नाम दिये जाते हैं। इससे यही प्रकट होता है कि इस तंत्र में द्रव्य और गुणों में कोई अन्तर नहीं माना गया है। सुगमता के लिए द्रव्य और गुण (धर्मी और धर्म) को एक दूसरे से पृथक् करने में वस्तुतः कोई हानि नहीं है, किन्तु इस तंत्र के अनुसार न्याय-वैशेषिक की भांति यह सोचना कि दोनों एक दूसरे से तत्वतः पृथक्-पृथक् हैं अथवा परस्पर वहिर्भूत हैं बिलकुल औचित्यहीन अमूर्त कल्पना की उड़ान भरना ही होगा। तथाकथित धर्म और धर्मी परस्पर मिलकर ही एक इकाई बनाते हैं। किसी द्रव्य-पदार्थ से हमें जिस वस्तु

का आभास मिलता है वह भूत यह इकाई ही है न कि स्वयं केवल धर्म (गुण) अथवा धर्मी (द्रव्य)। यहां जैनमत से इसकी समानता स्पष्ट है। जिस प्रकार से ये सूक्ष्म तन्मात्राएँ परस्पर युक्त होकर स्थूल भूतों को उत्पन्न करती हैं वह निम्न हैः—शब्द तन्मात्र से आकाश और शब्द तन्मात्र और स्पर्श तन्मात्रा से वायु उत्पन्न होती है, इन दोनों तथा रूप तन्मात्र से तेज उत्पन्न होता है, इनसे तथा रसतन्मात्रा से अप् तथा इन सब तथा गन्ध-तन्मात्र से पृथ्वी उत्पन्न होती है। ये स्थूल भूत जैसा कि उन्हें सामान्य शब्दावली में कहा गया है, जिन तन्मात्राओं के समन्वय से उद्भूत हुये हैं उसके अनुसार ही इनमें अपने-अपने विशेष गुण भी पायेजाते हैं यथा आकाश में शब्द, वायु में शब्द और स्पर्श और इसी प्रकार दूसरों में भी। यहां न्याय वैशेषिक से एक और बात में अन्तर देखने को मिल सकता है, वह यह कि न्याय वैशेषिक में भूततत्व के सूक्ष्म (तन्मात्रिक) और स्थूल इन दो प्रकारों को स्वीकार नहीं किया गया है।

प्रकृति और पुरुष को मिलाकर ये सांख्य योग के २५ तत्व कहलाते हैं। इनको इस प्रकार सूचीरूप में दिखाया जा सकता हैः—

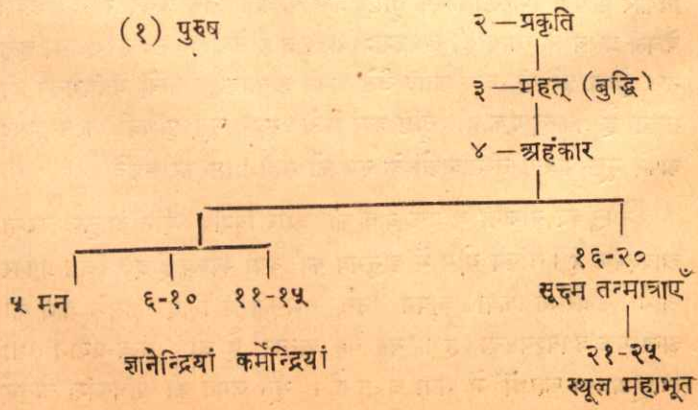

ऊपर दी गई तालिका में जो निरूपण किया गया है उसे हम सृष्टि का प्रारम्भिक विकास कह सकते हैं। वृक्ष, पर्वत तथा जीवधारियों के भौतिक शरीर आदि संसार के सामान्य पदार्थ स्थूल भूतों के बाद अथवा गौण परिणामों (विकारों) के फलस्वरूप उत्पन्न होते हैं। हमने बाद वाले परिणामों को गौण कहा है, यद्यपि ये पदार्थ भी परिवर्तन के परिणाम स्वरूप ही अस्तित्व में आते हैं। इसका कारण यह है कि इस परिवर्तन के कारण किसी नवीन तत्व (तत्वान्तर) की उत्पति नहीं होती जैसे उदाहरणतया, महत से अहंकार की अथवा शब्द तन्मात्र से आकाश की। दूसरे प्रकार के परिणाम केवल अपने अवयवभूत तत्वों अर्थात् स्थूल भूतों के भिन्न-भिन्न रूप से सयुक्त होने के फलस्वरूप अस्तित्व में आते हैं जो कि अपने स्वभाव को स्थिर रख कर ही उसमें फिर स्थिर रहते हैं। "यह ठीक पासे के एक खेल के समान है। पासे हमेशा एक ही होते हैं किन्तु जब हम उन्हें फेंकते हैं तो वे भिन्न-भिन्न रूपों में गिरते हैं। इसी कारण उनका महत्त्व हमारे लिए भिन्न-भिन्न होता है।" ये गौण परिणाम (विकार) किसी एक सृष्टि क्रम में व्यक्त होते हैं और फिर लीन हो जाते हैं। इसके विपरीत प्रारम्भिक प्रकार के विकार अथवा परिणाम एक सृष्टि क्रम के अंत तक स्थिर रहते हैं और केवल प्रलय के समय ही खण्डशः विच्छिन्न होते हैं। उदाहरणतया वृक्ष नष्ट होकर पृथिवी, जल आदि जैसे अपने अयववभूत तत्वों में विभक्त हो सकता है किन्तु एक ही सृष्टि क्रम में ये स्थूल भूत पृथिवी, जल आदि अपने मूल कारण तन्मात्राओं के रूप को नहीं प्राप्त कर सकते।

उपर्युक्त योजना में एक बात की ओर विशेष ध्यान आकृष्ट करना आवश्यक है। सांख्य योग में अनुभव का क्या स्वरूप है इसे जिस प्रकार आगे उपस्थित किया जायगा उसे समझने के लिए इसके ज्ञान की अत्यधिक आवश्यकता है। यह वह अन्तर है जो सत्व-प्रधान तथा तमस्-प्रधान पदार्थों में पाया जाता है। भूत जगत की अधिकांश वस्तुएँ

तथा हमारे शारीरिक ढांचे का अधिकांश भाग तमस्-प्रधान हैं। दूसरे पदार्थ भी, जिनमें कि सत्व की प्रधानता रहती है, प्रकृति से निसृत होने के कारण हैं भौतिक ही, किन्तु वे सूक्ष्म स्वभाव वाले होते हैं इस कारण उन्हें पुरुष के लिए विषयों को प्रकाशित करने में सहायक हो सकने के अनुकूल बना लिया जाता है। यह पुरुष, जैसा कि हम शीघ्र ही देखेंगे, निष्क्रिय है और स्वयं किसी वस्तु को ग्रहण करने में असमर्थ है। इसी को दूसरे प्रकार से हम इन शब्दों में प्रकट कर सकते हैं कि हमारे मानसिक जीवन के लिए इन सात्विक तत्वों की क्रिया एक आवश्यक शर्त है, यद्यपि उनसे इसका क्या कारण है यह स्पष्ट नहीं होता इस वर्ग में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण हैं मन, अहंकार और बुद्धि। एक साथ लेने पर उनको अन्तःकरण कहा जाता है। सूक्ष्म बातों में बिना विस्तार-पूर्वक जाए हम यह कह सकते हैं कि इसका मुख्य कार्य बाहर से संस्कारों को ग्रहण करना और उनके प्रति यथोचित रूप से अपनी प्रतिक्रिया को प्रकट करना है। इस कार्य को सुचारु रूप से संपादित करने में कितनी ही इंद्रियों से सहायता मिलती रहती है। इनमें ज्ञानेन्द्रियां और कर्मेन्द्रियां दोनों ही होती हैं। ये सब भी सूक्ष्म तत्वों के उसी वर्ग की हैं जिस वर्ग में बुद्धि आदि रक्खी जाती हैं। अन्तःकरण और उसकी सहायकभूत ये विभिन्न इन्द्रियां ही मिलकर ज्ञान प्राप्त करने के 'सम्पूर्ण यंत्र समूह' की संज्ञा से विभूषित होती हैं। स्थूल रूप से यह कहा जा सकता है कि आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार मस्तिष्क और उसके कार्यों से सम्बद्ध अन्य स्नायविक अवयवों का जो स्थान है, ज्ञान प्राप्त करने के उपर्युक्त 'सम्पूर्ण यन्त्र समूह' का स्थान भी कुछ कुछ उसके अनुरूप ही है। दोनों ही भौतिक स्वभाव वाले हैं और दोनों ही ज्ञान प्राप्त करने में आत्मा के लिए अपरिहार्य हैं। प्रत्येक जीव का अपना-अपना विशिष्ट अन्तःकरण होता है। यहाँ यह भी माना जाता है कि जब तक वह संसार

में रहता है वह कुछ अन्य तत्वों के साथ उसके साथ ही लगा रहता है। पुरुष (जीव) का जो अपेक्षाकृत अधिक स्थायी शरीर है उसे 'लिङ्ग-शरीर' (सूक्ष्म शरीर) कहते हैं। इसके विपरीत 'पुरुष' के भौतिक शरीर को 'स्थूल-शरीर' कहते हैं। लिङ्ग-शरीर स्थूल शरीर के समान मृत्यु के समय जीव से विमुक्त हो जाता है। न्याय वैशेषिक मत के समान यह पूर्ण मोक्ष प्राप्त करने पर ही छूटता है।

उपर्युक्त कथन से यह तात्पर्य निकलता है कि ऊपर की योजना में हमने जिन तत्वों को ३ और १५ संख्या दी है उन्हें दो अर्थों में लेना चाहिए। प्रकृति के सृष्टि विकास की अवस्थाओं का निरूपण करने के कारण उनका महत्व इतना ही नहीं है कि वे विश्व-व्याप्त तत्व हैं बल्कि जीव के चेतन और अधि-चेतन जीवन से भी उनका सम्बन्ध रहता है। जब जीव अथवा पुरुष अनुभवकर्ता के रूप में होता है तो उसकी सृष्टि से भी तीनों गुणों का विवेचन किया जाता है। उस समय उनको सुख, दुःख और मोह क्रमशः इन स्वभावों वाला कहा जाता है। इसका कारण यह है कि वे उसमें इन भावनाओं का उत्पादन करने के लिए आवश्यक उपकरणों के रूप में व्यापार-शील होते हैं। व्यक्ति को प्रसन्न होने के लिए यह आवश्यक है कि उसके अन्तःकरण अथवा मन की प्रवृत्ति में सात्विक गुणों की प्रधानता हो अथवा दुःख का अनुभव करने के लिए आवश्यक है कि उसकी प्रवृत्ति राजसिक हो। यह ज़रा रहस्यमय है कि यदि इन विश्व व्याप्त तत्वों का कोई मनोवैज्ञानिक महत्व नहीं है तो उन्हें 'बुद्धि' 'अहंकार' आदि की संज्ञा क्यों दी गई है। इस असंगति के सम्बन्ध में जो सम्भव विवेचन उपस्थित किया जा सकता है उसका उल्लेख हम इस परिच्छेद के अन्त में करेंगे।

प्रकृति के विषय में हम जो कुछ कह आये हैं उसको संक्षिप्त रूप में इस प्रकार रख सकते हैं—सम्पूर्ण भौतिक विश्व उससे संसृत होता

है और उसको परम और स्वतन्त्र मानने से उसके विषय में जो विवेचन किया गया है उसे स्वभाववादी (Naturalistic) कहा जा सकता है।

(२) पुरुष :—इस तंत्र में प्रकृति के साथ-साथ पुरुष को भी स्वीकार किया गया है। इसी कारण यह तंत्र प्रकृति का विशुद्ध दर्शन नहीं बन पाया है। विश्व का संपूर्ण उपादान प्रकृति में ही परिसमाप्त नहीं है। जिस तत्व से हमें इस भौतिक जगत का आभास मिलता है वह तत्व ही प्रकृति के बाहर का है। पुरुष इस आभास अथवा चेतन तत्व का ही प्रतीक है। इस प्रकार यद्यपि यह तन्त्र स्वभाववाद (Naturalism) से भिन्न है तब भी यह नहीं कहा जा सकता कि उसका तत्वैकवाद (Absolutism) अथवा प्रत्ययवाद (Idealism) से तादात्म्य है। इसका कारण यह है कि इसमें प्रकृति और पुरुष का द्वैतवाद अन्त तक बना रहता है। यदि हम चेतन तत्व और जड़तत्व इन दोनों को समानरूप से और स्वतन्त्र रूप से सत्य-तत्व न मानें तो सांख्य-योग के अनुसार अनुभव किस प्रकार होता है इसकी कोई संतोष-जनक विवेचना सम्भव ही नहीं हो सकती प्रकृति के समान ही पुरुष के अस्तित्व का ज्ञान भी यहाँ तर्क द्वारा ही प्राप्त होता है। प्रकृति की कल्पना हम इस सिद्धान्त के आधार पर करते हैं कि अस्तित्व में आने के लिए कार्यों एक उपादान कारण होना आवश्यक है। अतः कार्य को देख कर हम इस निश्चय पर पहुँच जाते हैं कि उनका कोई उपादान कारण तो पहले से होगा ही और वह उन कार्यों में स्वभावतः ही व्याप्त होगा। इसी प्रकार पुरुष की कल्पना इस सिद्धान्त से की जाती है कि जिन संघातमय-पदार्थों अथवा योजनाओं से कोई प्रयोजन प्रकट होता है वे या तो किसी ऐसे तत्व की ओर संकेत करती हैं जो उनसे परे होता है अथवा अपने से अन्य लक्ष्य (परार्थ) के लिए सक्रिय होती हैं। उदाहरणतया अपने बहुत से सुव्यवस्थित अंगों

से युक्त शरीर का संघात (अंगी) इस बात का संकेत करता है कि वह एक निश्चित उद्देश्य की पूर्ति के लिए है। प्रकृति में अन्य भी ऐसे कितने ही उदाहरण हैं जिनमें इसी प्रकार की हेतुविद्या (Teleology) लक्षित होती है। उस सम्बन्ध में दिए जाने वाले 'सुसज्जित पर्यङ्क' जैसे उदाहरणों का परीक्षण करने पर हमें इस बात का पता चलता है कि यहाँ जिस लक्ष्य से हमारा तात्पर्य है उसे केवल ऐसा होना चाहिए कि उससे चेतन प्राणी का कोई लाभ हो सके। अर्थात् प्रकृति का जो प्रयोजन है उसे एक प्रकार का 'पुरुषार्थ' ही मानना चाहिए। हाँ, यह आवश्यक नहीं है कि वह कोई मानवीय पुरुषार्थ ही हो। प्रकृति का यह संघात और योजनाएँ जिसके उद्देश्य की सिद्धि के लिए हैं वह पुरुष ही है। दूसरे शब्दों में चेतन तत्व (पुरुष) के लिए ही प्रकृति सृष्टि का 'विकास' करती है और, जैसा कि पहले ही संकेत किया जा चुका है, यही प्रकृति के सर्व-प्रथम विकारों के स्वभाव से भी प्रकट होता है। पुरुष के अस्तित्व के समर्थन में जो दूसरी युक्ति है वह (यदि उसे बिलकुल सामान्य शब्दों में प्रकट किया जाय) मनुष्य में आध्यात्मिक प्रवृत्ति का होना ही है, अथवा यह वह प्रवृत्ति है जो मनुष्य को पूर्णता (कैवल्य) के लिए उद्योगशील होने की प्रेरणा देती है। किन्तु इस तंत्र में प्रकृति की जैसी भावना की गई है उसके अनुसार मनुष्य जब तक प्रकृति के संसर्ग में है तब तक उसकी अपूर्णता अनिवार्य रहेगी। यदि ऐसा कोई पुरुष (जीव) न होता जिसे कि अपने को प्रकृति से मुक्त करना हो तो यह कैवल्यार्थ-प्रवृत्ति, नितान्त अर्थहीन होती। अस्तु, हम इसी निर्णय पर पहुँचते हैं कि कोई ऐसा तत्व अवश्य होना चाहिए जो प्रकृति से अन्य और उससे पूर्णतया स्वतंत्र हो। इस प्रकार सामान्य वस्तुओं का परीक्षण करके हम एक ही ढंग से इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि प्रकृति और पुरुष दोनों ही सत् हैं। अन्तर केवल इतना है कि जहाँ प्रकृति के अस्तित्व का पता हमें

सामान्य वस्तुओं के उद्गम अथवा आदि कारण को सिद्ध करने के लिए उपस्थित की गयी युक्तियों के फलस्वरूप लगता है, वहीं पुरुष का ज्ञान हमें उन वस्तुओं के उद्देश्य अथवा परम कारण को सिद्ध करने के लिए उपस्थित की गई युक्तियों द्वारा होता है। संसार एक ऐसे तत्व से संसृत होता है जो कि उसी के स्वभाव का है, परन्तु वह किसी अन्य (पुरुष) के उद्देश्य को सिद्ध करता है जो उससे नितान्त भिन्न है।

प्रकृति केवल एक है। इसके विपरीत पुरुष अनेक हैं। इस कारण इसको हम बहुत्ववाद कह सकते हैं। मनुष्यों की स्वाभाविक प्रवृत्तियों का निरीक्षण करने पर हमें उनमें अन्तर दिखाई पड़ता है। इसी अन्तर द्वारा पुरुष-बहुत्व का निगमन करने का प्रयत्न किया जाता है। किन्हीं भी दो व्यक्तियों का नैतिक अथवा मानसिक स्वभाव एक ही सा नहीं होता और न अपने सामाजिक अथवा राजनैतिक वातावरण के पति उनकी प्रतिक्रिया ही समान होती है। किन्तु यहां इस बात की ओर संकेत किया जा सकता है कि इस युक्ति से केवल यह प्रकट होता है कि पुरुष केवल उसी अवस्था में परस्पर भिन्न भिन्न माने जाते हैं जिस अवस्था में वे अनुभव प्राप्त करने के योग्य होते हैं, न कि वे स्वयं अपने में ही भिन्न हैं। हम आगे देखेंगे कि मुक्तावस्था में उनमें जरा भी अन्तर नहीं रहता और जब सत वस्तुओं के मूलगत स्वभाव में कोई अन्तर ही नहीं होता उस समय संख्या की दृष्टि से उनमें अन्तर करना प्रामाणिक प्रतीत नहीं होता। बहुत्ववाद के इस मत की प्रामाणिकता दिखाने के लिये यहां ऐसा कोई प्रयत्न तक नहीं किया गया है जैसा कि न्याय वैशेषिक में प्रत्येक आत्मा का एक अपना विलक्षण विशेष मानकर किया गया है। यदि यह स्वीकार कर लिया जाय कि प्रकृति के अस्तित्व को मानने का तात्पर्य यह होता है कि पुरुष के अस्तित्व को भी स्वीकार किया जाय, तो इससे हम जिस तर्कसंगत निर्णय पर पहुँचेंगे वह यह होगा कि पुरुष भी एक और अकेला है,

और एक ही विश्व-व्याप्त प्रकृति में एक विश्वात्मा (विश्व व्याप्त पुरुष) प्रतिष्ठित है।

पुरुष की जो भावना की है गई वह अन्य दृष्टियों से भी प्रकृति के बिल्कुल विपरीत है। पुरुष सामान्य है, असामान्य नहीं, वह सक्रिय नहीं है बल्कि निष्क्रिय है और कूटस्थ तथा अविकारी है। पुरुष निष्क्रिय है किन्तु प्रकृति सक्रिय है। इसका अर्थ यह है कि संवदेना (Feeling) अथवा मन के भावात्मक पक्ष से उसका साम्य अन्य पक्षों की अपेक्षा अधिक है। परिणाम-स्वरूप जब तक कि अन्तःकरण और उसकी अन्य सहायकभूत इन्द्रियां पुरुष को सहायता नहीं देतीं तब तक न तो उससे ज्ञान उत्पन्न हो सकता है और न इच्छा। वह स्वयं तो केवल भोक्ता ही है, न कि कर्ता। इसी को इस प्रकार कहा जाता है कि वह साक्षीमात्र है। यद्यपि वह चैतन्य का तत्व-स्वरूप ही है, तब भी उसकी समस्त मानसिक क्रियायें उसके अन्तःकरण, जैसे प्रकृति के विकारों, के साथ संयुक्त होने के कारण ही होती हैं और यह अन्तःकरण, जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं, सत्व-प्रधान होता है। सामान्यता हम जिसे कर्ता की क्रिया कहते ह वह इस कारण होती है कि उसके अवयवभूत तत्वों में भौतिक तत्वों का समावेश हो जाता है। उसे प्रकृति के समान ही सर्वगत माना जाता है, परन्तु सांसारिक अवस्था में उसकी विद्यमानता शरीर जैसी उन भौतिक उपाधियों के बाहर कभी नहीं अभिव्यक्त होती जिनसे वह उस समय संयुक्त रहता है। इसका वही कारण है जिसका कि उल्लेख हम हाल हीं में कर आये हैं।

जिस प्रकार से ये दोनों नितान्त भिन्न सत-तत्व एक साथ ले आये जाते हैं या ऐसा प्रतीत होता है कि वे साथ-साथ ले आये गये हैं, वह एक कठिन समस्या है और वह इस दर्शन-शास्त्र में उलझन ही बनी रहती है। परन्तु यहां हमारा विचार उस विवाद में पड़ने का नहीं है। इसका अंतिम कारण चाहे किसी प्रकार भी समझाया जाय,

वस्तुतः प्रकृति और पुरुष जिस रूप में क्रियाशील देखे जाते हैं उससे यही प्रतीत होता है कि वे एक तत्व के समान ही कार्य करते हैं। अतएव, हम इस बात को बिलकुल निश्चित मान लेंगे कि वे किसी न किसी रूप में एक दूसरे से सहयोग करते हैं। यह तो वास्तव में साधारण अनुभव की ही बात है कि बिना शरीर के कोई आत्मा नहीं है और जीवित अंगी के समान कार्य करने वाला कोई ऐसा शरीर नहीं है जो बिना आत्मा का हो। इस तंत्र के अनुसार प्रकृति और पुरुष का यह संघात अथवा, सम्भवतः यह कहना चाहिए कि उनका यह समन्वय परम-रूप नहीं है। उसे आनुभविक (Empirical) आत्मा और वास्तविक अथवा 'पर'-आत्मा अर्थात् पुरुष से भिन्न समझा जाना चाहिए। व्यावहारिक अथवा सामान्य दृष्टिकोण से यह अन्तर कुछ विशेष महत्त्व का नहीं है। इस समन्वय में जो प्रकृति-तत्व घनिष्टतम रूप से संयुक्त है, वह है अन्तःकरण। ज्ञानेन्द्रियों जैसे अन्य तत्व भी हैं, परन्तु किसी न किसी अर्थ में वे सब उसके आधीन ही हैं। किसी अनुभव के होने के लिए यह आवश्यक है कि उसके पहले पुरुष और प्रकृति एक दूसरे से संयुक्त हो चुके हों, क्योंकि पुरुष बिना प्रकृति के निष्क्रिय रहता है और प्रकृति बिना पुरुष के अन्धी। अतएव, उनका जो संयोग होता है उससे प्रत्येक अपना-अपना पूरक प्राप्त कर कर लेता है और दोनों के दोष दूर हो जाते हैं और उनकी हीनताओं की पूर्ति हो जाती है। कहा जाता है कि यह उसी प्रकार होता है जिस प्रकार कि एक अन्धा और एक लंगड़ा पारस्परिक सहयोग से काफी लम्बा रास्ता तय कर लेते हैं यद्यपि अकेले-अकेले ऐसा करने में उनमें से कोई भी समर्थ नहीं होता। हम प्रसंगवश इस बात का संकेत कर सकते हैं कि यहां चैतन्य के विषय में विचार करते हुए यह नहीं कहा गया है कि वह भौतिक तत्वों से उत्पन्न हुआ है जैसा कि देहात्मवादी मानते हैं। भौतिक तत्व आत्मा अथवा पुरुष की अभिव्यक्ति का माध्यम मात्र है न कि उसका उद्गम।

इन दोनों का संयोग केवल साधारण अवस्था में ही नहीं वरन् जीवन-मुक्ति की अवस्था में भी पाया जाता है, जबकि मनुष्य को पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है और वह मानव शरीर की समस्त दुर्बलताओं के परे पहुँच जाता है। जब इस प्रकार का कोई व्यक्ति इस शरीर को छोड़ता है तो इसके बाद भी उसका अस्तित्व रहता है क्योंकि पुरुष को नित्य माना जाता है। परन्तु उस समय वह शुद्ध पुरुष (चित्तमात्र) रहता है और प्रकृति से पूर्णतया मुक्त होता है। विमुक्ति की इस अवस्था को कैवल्य कहते हैं जिससे कि इसका अन्तर जीवन्मुक्ति की अवस्था से, जब कि पुरुषबद्ध न होने पर भी शरीर इन्द्रिय आदि से संयुक्त रहता है, स्पष्ट हो जाय। इसलिए जैनमत की भांति यहाँ भी 'पूर्णता' का अर्थ 'बन जाना' नहीं है बल्कि भौतिक बन्धनों से मुक्त हो जाना ही है। प्राकृतिक बन्धनों को निकाल फेंकने से ही आध्यात्मिक लक्ष्य प्राप्त हो जाता है।

ज्ञातृ-रूप में जब कि आत्मा अनुभव प्राप्त करने में समर्थ रहती है वह पुरुष के समान असङ्ग-तत्व नहीं होती वरन् उस समय वह उन अगणित शक्तियों के संस्कारों की अभिव्यक्ति भी करती है जिन्होंने उसके अनादि इतिहास के काल में उसके ऊपर प्रभाव डाला है। परिणाम-स्वरूप वह निष्क्रिय और जो कुछ सम्मुख उपस्थित होता रहता है उसकी द्रष्टा-मात्र ही नहीं होती बल्कि वह सक्रिय रहती है और बाह्यार्थ को ग्रहण करते समय वह उसे 'वैसे ही' ग्रहण नहीं करती है। हाँ, बौद्धमत की भांति उसे उपस्थित बाह्यार्थ का जो प्रत्यय प्राप्त होता है उसके ऊपर वह उसे 'वैसे ही न ग्रहण करके' भी किसी नवीन लक्षण का आरोपण नहीं करती। वह केवल उसके कुछ स्वरूपों को ले लेती है और शेष को छोड़ देती है। इस प्रकार 'चुने हुए स्वरूपों' को ही ग्रहण करने के इस सिद्धान्त के अनुसार किसी वस्तु के वे सब लक्षण, जिनका ज्ञान चाहे कभी भी हो, उस वस्तु में वस्तुतः प्रत्येक समय

रहते हैं और यदि कोई मनुष्य एक समय में उनसे केवल कुछ का ज्ञान प्राप्त कर पाता है तो यह पूर्णतया विषयी की परिमितता के कारण ही होता है। इस प्रकार हम साधारणतया वस्तुओं में प्रत्यक्ष के द्वारा जिन गुणों और विशेषताओं को देखते हैं वस्तुतः उनमें उनसे कहीं अधिक विशेषताएँ होती हैं। मनुष्य किसी वस्तु के जिन गुणों और विशेषताओं को ग्रहण करता है उनका निर्वाचन मनुष्य के पूर्व-जन्म अथवा स्वभाव पर निर्भर रहता है। यही कारण है कि जो वस्तु एक व्यक्ति को आकर्षक लगती है, दूसरा उसी को देखकर घृणा से मुख फेर लेता है। परम्परागत उदाहरण के अनुसार एक ही रमणी अपने प्रेमी को प्रसन्न करती है किन्तु अपने प्रतिद्वन्दी कामियों के लिए निरन्तर विक्षोभ का कारण होती है। इस प्रकार एक व्यक्ति जिस स्वरूप में संसार को देखता है वह उसका बिल्कुल अपना व्यक्तिगत होता है। फिर भी इस तंत्र में बौद्धों के योगाचार सम्प्रदाय के समान यह नहीं माना जाता कि कोई बाह्य सत है ही नहीं। इसमें सन्देह नहीं कि संसार सम्बन्धी ये दो भिन्न मत व्यक्ति से ही सम्बन्ध रखते हैं, परन्तु उसी समय वे इस बात को भी कहते हैं कि एक विषयभूत जगत भी है जो कि सब के लिए समान और स्वयं अपने पक्ष में सत है। इस वस्तुवादी पक्ष के समर्थन में यह मुख्य युक्ति उपस्थित की जाती है कि यद्यपि वस्तुओं के विषय में मनुष्यों के जो मत होते हैं उनमें विभिन्नता पाई जाती है तब भी उतने ही निश्चय के साथ यह भी कहा जा सकता है कि बहुत से विषयों में उनमें मतैक्य भी हो सकता है। यदि ऐसे अवसर होते हैं जब कि प्रत्येक केवल अपने ही अनुभव के विषय में कह सकता है तो ऐसे अन्य अवसर भी होते हैं जब वह सब के सामान्य अनुभव के विषय में भी कह सकता है।

यह इस सम्प्रदाय का एक प्रमुख लक्षण है क्योंकि यह न तो इस मत का पक्ष लेता है कि हमें जिस रूप में वस्तुओं की उपलब्धि होती है

वे ठीक उसी प्रकार की हैं और न दूसरे मत का जिसमें यह कहा जाता है कि मन जिन वस्तुओं को देखता है यथार्थत वे सब स्वयं उसके द्वारा निर्मित (कल्पित) वस्तुएँ ही होती हैं। इस मत में दोनों ही चरम कोटियों को छोड़ दिया गया है और अनुभव क्या है यह समझाने के लिये विषयगत और विषयिगत दोनों ही तत्वों को समान महत्व दिया गया है। जगत् का जो ज्ञान हमें प्राप्त होता है वह उतना ही सत्य है जितना कि हममें से प्रत्येक का उसके विषय में होने वाला व्यक्तिगत मत है। मनुष्य अपना जो विचार प्रकट करते हैं उसमें वे अपने व्यक्तित्व का भी विक्षेप कर देते हैं, और इसमें सन्देह नहीं कि उन्हें वस्तुओं का जो ज्ञान प्राप्त होता है वह विषयिगत भावनाओं से प्रभावित होता है, तब भी जिन वस्तुओं का वे प्रत्यक्ष करते हैं उनका वे कभी सृजन नहीं करते। परन्तु, यद्यपि हमारा ज्ञान एक बाह्य जगत का संकेत करता है तब भी वह है एक पक्षीय ही। भले ही इसका मतलब वास्तव में यह न हो कि यह एक ऐसा भ्रम है जिसमें वस्तु के स्वरूप का अन्यथा ज्ञान प्राप्त होता है जैसा कि न्याय-वैशेषिक मत (अन्यथा ख्याति) के अनुसार माना जाता है किन्तु यह है आंशिक ज्ञान ही। यहाँ यह कहा जा सकता है कि यह उस अंश तक तो एक भ्रम है ही जिस अंश तक कि हम उसे उसके रूप में (कि वह आंशिक ही है) नहीं जान पाते। यह भ्रम अख्याति मात्र है (अख्याति अर्थात् पूर्ण ज्ञान का अग्रहण)। यह अपूर्ण ज्ञान, जिसमें ग्रहण की जाने वाली वस्तु के केवल एक भाग पर ही स्वभावतया आवश्यकता से अधिक जोर डाला जाता है, हमारे जीवन के संघर्षों और विषमताओं का कारण होता है, चाहे वे विषमताएँ और संघर्ष एक ही व्यक्ति में भिन्न-भिन्न अवसरों में पाये जाँय अथवा भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में एक ही समय में पाये जाँय।

यदि जो भी ज्ञान हमें प्राप्त होता है वह स्वभाव से ही अपूर्ण है

तो फिर सत्य क्या है ? इस तन्त्र का यह मत है कि सम्पूर्ण और विशद ज्ञान ही, जिसमें एक भाग दूसरे का पूरक होता है और तत्सम्बन्धी भ्रम को भी दूर करता है, सत्य है। यह वह ज्ञान होता है जिसमें ग्रहण की हुई वस्तु में प्रत्येक स्वरूप पर उचित जोर डाला जाता है और पक्षपात तथा भावनाओं का कोई स्थान ही नहीं होता। यहां प्रश्न यह उठता है कि जब तक ज्ञान प्राप्त करने का साधन प्रकृति से उत्पन्न होने के कारण न केवल सत्व, अपितु रज और तम से भी युक्त अन्तःकरण रहता है क्या तब तक इस प्रकार का ज्ञान प्राप्य भी है ? इस प्रश्न का उत्तर देते समय यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि संसार का जो ज्ञान हमें प्राप्त होता है वह सीमित अन्तःकरण ही के कारण नहीं होता। इसकी वजह यह है कि अन्तःकरण की मूलगत प्रकृति तत्वतः सात्विक होती है और इस कारण वह संसार की प्रत्येक वस्तु को ठीक ठीक प्रकाशित करने के लिये विशेष रूप से उपयुक्त है। वस्तुतः मनुष्य के पूर्व संस्कारों और वासनाओं के फलस्वरूप उसके अन्तःकरण में रज और तम की प्रधानता हो जाती है। ज्ञानेन्द्रिय के रूप में उसमें जो भी परिमितता होती है उसका कारण रज और तम इन दोनों में से किसी एक की आपेक्षिक प्रधानता ही है। यथोचित आत्म-संयम द्वारा निर्मल प्रत्यक्ष के इन प्रतिबन्धकों को अभिभूत करके और अन्तःकरण को स्वाभाविक सत्व-शुद्धि की अवस्था में लाकर मनुष्य जीवन और जगत के प्रति अपने दृष्टिकोण में पूर्ण परिवर्तन ला सकता है। रज और तम निश्चय ही पूर्णतया दूर नहीं किये जा सकते, परन्तु जब अन्तःकरण पवित्र हो जाता है अथवा 'हृदय परिशुद्ध' हो जाता है तो उनकी विद्यमानता बिलकुल हानिरहित हो जाती है।

परन्तु यह कल्पना नहीं कर लेनी चाहिये कि यह पूर्णज्ञान भौतिक जगत सम्बन्धी सभी सम्भव मतों का एकत्रीकरण मात्र है। यह तो एक अनुभव होता है जिसमें उन सब का समन्वय रहता है और

पतञ्जलि ने इसकी जो विवेचना की है उसके अनुसार इसे प्र ा (प्रातिभ ज्ञान) कहना ही सर्वथा उपयुक्त होगा। इसको 'ऋतम्भरा'' (सत्य की स्थापना करने वाली) संज्ञा दी गई है और इसमें भ्रम की गन्ध भी नहीं होती। यह सत्य को और उस सत्य को जो पूर्ण सत्य होता है और सत्य के अतिरिक्त कुछ नहीं होता है, प्रकट करता है। इस समन्वय द्वारा ही मनुष्यों के दृष्टिकोणों और प्रवृत्तियों की विलक्षणताओं को दूर किया जाता है न कि उनके एकत्रीकरण मात्र के द्वारा। यह संश्लिष्ट मत दार्शनिक विचारों की चरमकोटि का निर्देश करता है। इसके अनुसार वस्तुओं के जिस स्वरूप का दर्शन हमें होता है वह उसका यथार्थ स्वरूप ही है और जो इसको प्राप्त करने में समर्थ होता है वह सम्पूर्ण काल और अस्तित्व का द्रष्टा हो जाता है। जैसे ही संसार के सम्बन्ध में इस सम्पूर्ण और निरपेक्ष सत्य का ज्ञान मनुष्य के मन में उदित होता है उसे प्रकृति के यथार्थ स्वरूप का बोध हो जाता है कि प्रकृति पुरुष से पूर्णतया विमुक्त है। यहाँ जिस ज्ञान को मोक्ष का साधन बताया गया है वह यह विवेक ज्ञान ही है न कि संसार का यथार्थ ज्ञान। दूसरे शब्दों में प्रकृति को जानने का अर्थ है आनुभविक (empirical) आत्मा का ज्ञान प्राप्त करना। उसके वास्तविक स्वरूप का ज्ञान प्राप्य है और सांख्य योग के अनुसार उसको प्राप्त करना ही जीवन का परम लक्ष्य है। इस सम्प्रदाय में यह माना जाता है कि सम्पूर्ण प्रकृति (पुरुष को) इसी परम लक्ष्य कैवल्य की ओर ले जाने के लिये प्रवृत्त है। इसी के लिये इसके स्वरूप की कल्पना की गई है और केवल इसी प्रयोजन के लिये उसका अस्तित्व है। यहाँ जो ध्यान देने योग्य बात है वह यह है कि मनुष्य के साथ लगे रहने वाले भौतिक तत्व और उसके चारों ओर का वातावरण मोक्ष प्राप्त करने के मार्ग में न तो विघ्न डालता है और न उसके प्रति बिलकुल उदासीन ही है। बल्कि कहना तो यह

चाहिये कि उनके द्वारा पुरुष को उस लक्ष्य तक पहुँचने के उद्देश्य से ही प्रकृति उसको उसके अपने स्वरूप का पूर्णतर ज्ञान कराती रहती है। इसलिये अन्त में हम यह कह सकते हैं कि प्रकृति आत्मा तथा पुरुष को बद्ध करती है। वास्तव में मनुष्य के प्रति उसका व्यवहार 'एक लौकिक शक्ति-सम्पन्न और सच्ची धर्म-माता' के समान है।

अब हम यह समझ सकने की स्थिति में है कि इस तन्त्र में प्रकृति का वास्तविक स्थान क्या है ? उसके सृष्टि-विकास की सम्पूर्ण गतिविधि का एक प्रयोजन है, जिससे कि वह नियत है। हमने प्रकृति के विषय में जो यह मत प्रस्तुत किया है कि उसका एक प्रयोजन होता है उसे ध्यान में रखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि पुरुष से प्रकृति का पूर्ण विच्छेद करने पर प्रकृति का अर्थ ही नहीं रह जाता। वाचस्पति ने तो यहाँ तक कह दिया है प्रलय काल में प्रकृति अस्तित्वहीन सी है क्योंकि उस समय वह किसी पुरुष के उपकारार्थ क्रियाशील नहीं रहती। प्रकृति में जो परिवर्तन होते रहते हैं वे केवल गुणों की यांत्रिक अथवा अन्धी क्रीड़ा के कारण ही नहीं है। ईश्वरकृष्ण के शब्दों में "पुरुषार्थ (पुरुष का उद्देश्य) ही प्रकृति की सृष्टि का हेतु है।" वह पुरुष (आत्मा) की आवश्यकताओं के अनुरूप ही स्वरूप और आकार ग्रहण करती है। उदाहरणतया चक्षुइन्द्रिय केवल इसलिये अस्तित्व में नहीं आ जाती कि उसको निर्माण करने वाले गुण (तत्व) एक विशेष प्रकार से मिल जाते हैं, बल्कि उसकी उत्पत्ति तो इसलिये आवश्यक है कि पुरुष देख सकें। जैसा हम कह ही चुके हैं कि पुरुष को जब इस रूप में लिया जाता है मानो सारी सृष्टि का विकास उसी के लिये हुआ हो तो हम उसके उद्देश्य को पुरुषार्थ के रूप में ग्रहण कर सकते हैं। जहाँ तक मनुष्य का सम्बन्ध इन पुरुषार्थों से है उन्हें स्थूल रूप से नित्य और अनित्य इन दो वर्गों में बाँटा जा सकता है। प्रथम प्रकार के पुरुषार्थ सामान्यतः सांसारिक अथवा लौकिक भोग यथा अर्थ और काम है।

दूसरे प्रकार का पुरुषार्थ है आत्म-ज्ञान अथवा प्रकृति से मुक्ति (अपवर्ग)। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि इन पुरुषार्थों के दो भिन्न-भिन्न उद्देश्य हों। इसका कारण यह है कि अपवर्ग के लक्ष्य तक पहुँचने के लिये हमें अनिवार्य रूप से सांसारिक जीवन से ही होकर जाना पड़ता है। इस सांसारिक जीवन-काल की अवधि जीव विशेष के संचित पुण्यों और ज्ञान के द्वारा नियत होती है। जीवों की यह आयु कम हो अथवा अधिक सामान्य जीवन के संघर्षों और दुःखों से सब को समान रूप से गुजरना पड़ता है। इसके बाद ही उनके मन में परम लक्ष्य के लिये प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। इसका तात्पर्य यह है कि जब तक मनुष्य अपने अनुभव के द्वारा लौकिक पुरुषार्थों की सारहीनता से अवगत अथवा उनकी प्राप्ति से संतुष्ट नहीं हो जाता तब तक वह आध्यात्मिक स्वतंत्रता (मुक्ति) पर गम्भीरता से विचार नहीं कर सकता। मुक्ति पाने का विचार गम्भीरता पूर्वक करने पर ही वह पुरुषार्थों के यथार्थ महत्त्व को समझने में समर्थ हो सकता है।

जीवन के परम पुरुषार्थ को प्राप्त करने के लिए जिन संयमों का विधान किया गया है उन पर विचार करने के पहले निम्नलिखित दो बातों पर कुछ शब्द कह देना आवश्यक है। (१) इस तन्त्र में ज्ञान की सामान्य रूप में क्या भावना की गयी है और (२) किन प्रमाणों को स्वीकार किया गया है।

(१) जैसा हम पहले ही कह चुके है प्रत्यक्ष पर दो मत सम्भव हो सकते हैं। एक तो यह कहा जा सकता है कि विषयों का ज्ञान अव्यवहित रूप से ही होता है अथवा उन्हें केवल परोक्ष रूप से बुद्धि के माध्यम से ही जाना जा सकता है और वह माध्यम किसी न किसी रूप में उन विषयों से मिलता जुलता है, अथवा प्रतीक रूप में उनके अनुरूप होता है। प्रस्तुत तन्त्र में दूसरे मत को स्वीकार किया गया है। इसको "प्रतिध्वनात्मक" प्रत्यक्ष का

सिद्धान्त" (Theory of representative perception) कहा जा सकता है। प्रत्ययात्मा अथवा आनुभविक आत्मा (Empirical self) क्या है यह समझाते हुए हमने कहा था कि वह पुरुष और अन्तःकरण का संघात है। इससे हमें यह समझने में सहायता मिलेगी कि इस सिद्धान्त का ठीक-ठीक अर्थ क्या है। इस तन्त्र के अनुसार ज्ञान प्रत्ययात्मा अथवा आनुभविक आत्मा की एक अवस्था अथवा परिणाम है। परन्तु स्वयं पुरुष में कोई परिवर्तन नहीं होता इसलिए वह केवल अन्तःकरण का ही परिणाम होता है। संख्य-योग वस्तुवादी दर्शन है, इस कारण उसके अनुसार जब हमें ज्ञान प्राप्त होता है तब केवल यही आवश्यक नहीं है कि पुरुष तथा अन्तःकरण के कुछ परिणाम ही उपस्थित हो वरन् ऐसा विषय (बाह्यार्थ) भी होना चाहिए जिसका ज्ञान प्राप्त किया जा सके। इन तीन तत्वों (अर्थात् पुरुष, अन्तःकरण और वाह्यार्थ) में अन्तःकरण मध्यस्थ का अथवा उन दोनों के बीच सम्बन्ध स्थापित करने का काम करता है। यह माना जाता कि अन्तःकरण इस कार्य को करने के एक ऐसा "आकार" ग्रहण कर लेता है जो उस विषय के अनुरूप होता है जिसका कि ज्ञान हमें प्राप्त करना है। विषयों का ज्ञान हमें केवल इन्हीं आकारों के द्वारा होता है। इन्हें वृत्ति कहते हैं और ज्ञान का अर्थ यह है कि वह वृत्ति पुरुष के प्रकाश से किस प्रकार उद्भासित होती है अथवा जानी जाती है। इस प्रकार जिसका ज्ञान प्राप्त होता है वह न तो स्वयं वृत्ति ही है और न उसको उद्भासित करने वाला तत्त्व पुरुष ही; बल्कि वह तो दोनों का समन्वय ही है। सभी प्रकार के ज्ञान का स्थायी लक्षण यह है कि वह पुरुष के प्रकाश से उद्भासित होता है, किन्तु जहां तक वृत्तियों का सम्बन्ध है वे हमारे सम्मुख उपस्थित होने वाले विषयों के अनुसार परिवर्तित होती रहती हैं। इस सिद्धान्त की सब से प्रमुख कमजोरी यह है कि इसमें माना तो यह जाता है कि विषयों का ज्ञान केवल अप्रत्यक्षरूपेण प्राप्त हो सकता है, किन्तु तब भी यह कहा जाता

है कि ज्ञान पर उनकी छाप पड़ी रहती है। यदि हम विषयों को प्रत्यक्ष रूप से कभी भी ग्रहण नहीं कर सकते तो यह स्पष्ट है कि हम उन वृत्तियों के विषय में, जो कि अन्तःकरण में होती हैं, यह कदापि नहीं कह सकते कि वे उन विषयों या पदार्थों के अनुरूप हैं।

(२) सांख्य-योग में प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द केवल यही तीन प्रमाण स्वीकार किये जाते है। इन सब की ही विवेचना की जा चुकी है। अब केवल अनुमान की एक जाति का उल्लेख करना शेष है। अभी तक हमने उसके विषय में कुछ नहीं कहा है। सामान्यतः भारतीय दर्शन में दो प्रकार की तर्क प्रणालियों को स्वीकार किया गया है। इनमें से प्रथम न्याय नाम से सुविख्यात है। इसी को स्पष्ट करते हुए धूम्र के दर्शन द्वारा अग्नि के अस्तित्व के निगमन का उदाहरण दिया था। घट के समान कार्यों को उत्पन्न करने के लिए कुम्हार जैसे एक समर्थ कर्त्ता का होना आवश्यक है। यदि इस प्रकार की देखी हुई घटनाओं के आधार पर हम इस निर्णय पर पहुँच जांय कि यह जगत् भी (यहाँ हम उसे एक कार्य मान लेते है है) ईश्वर जैसे एक सत् तत्व के द्वारा अस्तित्व में लाया गया है तो यह दूसरे प्रकार की तर्क-प्रणाली का एक उदाहरण होगा। संस्कृत में इसे पूर्व अनुमान की भाँति प्रत्यक्ष पर आश्रित न र ने वाला कहकर 'सामान्य से देखी'' (सामान्यतोदृष्ट) हुई बातों पर आश्रित रहने वाला कहा गया है और यह तर्क शास्त्र के आधुनिक ग्रन्थों में उपमानानुमान (Analogical Reasoning) का जो स्वरूप प्रस्तुत किया गया है, उसके अनुरूप है इसका अर्थ यह है कि पहले प्रकार का अनुमान केवल उन उदाहरणों में लागू हो सकता है जो सामान्य अनुभव के अन्तर्गत आते हैं और दूसरे प्रकार का उन उदाहरणों में लागू होता है जो उसके क्षेत्र के परे हैं। इसी से सांख्य योग में अतीन्द्रिय विषयों में इस प्रकार के अनुमान की सहायता ली जाती है। इस प्रकार उसमें वैदिक प्रमाण

का क्षेत्र बहुत सीमित कर दिय गयाा है । उदाहरणतः यही कहा जा सकता है कि अतीन्द्रिय प्रकृति की कल्पना इसी प्रकार के अनुमान द्वारा की जाती है। इस तन्त्र में शास्त्रों के प्रमाण का आश्रय वहीं लिया जाता है जहां किसी प्रकार का अनुमान सम्भव नहीं हो सकता है जैसे उस क्रम के उदाहरण में जिसमें कि प्रकृति से स्थूल भूत पर्यन्त विविध तत्त्व उद्भूत होते हैं। कुछ लोग जैसे कि वेदान्ती ही यह मानते है कि अनुमान के क्षेत्र का इस प्रकार विस्तार कर देना उचित नहीं है क्योंकि बहुत हुआ तो यह प्राप्त निगमन (निर्णय) की सम्भावनामात्र का संकेत कर सकता है न कि उसकी निश्चिति का। बाद के एक परिच्छेद में हम इस बात की ओर संकेत करेंगे।

(२)

पुरुष के स्वरूप का जो ज्ञान अब हमें प्राप्त हो चुका है उसके द्वारा हम इस बात को जानने में समर्थ हो सकेंगे कि इस दार्शनिक सम्प्रदाय में प्रकृति से मुक्त होना (कैवल्य) ही जीवन का लक्ष्य क्यों माना गया है। यही उसका मूलगत स्वभाव है। इस दृष्टि से सांख्य-योग का न्याय वैशेषिक से सादृश्य है। दोनों ही समानरूप से उत्कृष्ट कैवल्य का उपदेश देते हैं। उनमें अन्तर केवल यह है कि यहां तो यह माना जाता है कि आत्मा उस दशा में भी चैतन्य ही रहती है; किन्तु न्याय वैशेषिक में यह नही माना जाता है। परन्तु यह अन्तर केवल सैद्धान्तिक ही हैं क्योंकि न्याय वैशेषिक की भांति प्रस्तुत तन्त्र के अनुसार भी आत्मा को उस समय अपने वातावरण का कोई ज्ञान नहीं रहता है और इसी से उसे स्वयं अपना ज्ञान भी नहीं रहता। इसका कारण उस समय आत्मा (पुरुष) में अन्तःकरण और इन्द्रियों के समान ज्ञान प्राप्त करने के समुचित उपकरणों का अभाव है।

जहां तक इस लक्ष्य तक पहुँचने के लिए आवश्यक साधना के

सामान्य लक्षणों का सम्बन्ध है प्रस्तुत दर्शन इस दूसरे के समान ही है। समर्थ गुरु के द्वारा प्रदर्शित मार्ग से परमार्थ सत्य का ज्ञान प्राप्त करने और उस पर मनन करने के अतिरिक्त अनासक्ति की भावना को उत्पन्न करना और ध्यान का अभ्यास करना ही इस साधना के अङ्ग हैं। सांख्य के ग्रन्थों में इस साधना के विषय को संक्षेप रूप से छू भर दिया गया है, किन्तु योग में इसी का पूर्ण रूप से वर्णन किया गया है। यदि एक में सिद्धान्तों का विशद् रूप से विवेचन किया गया है तो दूसरे में उनकी शिक्षा के व्यावहारिक पक्ष को व्यापक रूप में लिया गया है। परन्तु यहाँ इतना और कह देना चाहिए कि इस तन्त्र के अनुसर योग का जो उद्देश्य है वह उपनिषदों के योग से अत्यधिक भिन्न है। यहाँ उसका उद्देश्य "मिल जाना" नहीं है बल्कि वियोग है। उपनिषदों में यह माना गया है कि योग से प्रत्यगात्मा अथवा जीवात्मा परमात्मा (ब्रह्म) से मिल जाती है किन्तु यहां इस प्रकार की कोई आत्मा तो स्वीकार की नहीं गयी है अतएव यहां (आत्मतत्व-पुरुष) प्रकृति से अपने को वियुक्त करके अपने स्वरूप की प्राप्ति कर लेता है। इस प्रकार जिस योग का अर्थ वहां "मिल जाना" है, यहां उसी का अर्थ "वियोग" हो जाता है।

इस साधना में योग के अष्टाङ्गों का समावेश है। ये अष्टाङ्ग यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार धारणा, ध्यान, और समाधि हैं। समष्टि रूप में इस साधना का उद्देश्य मनुष्य को जन्मजात संकीर्ण अहं भावना से उठाकर मोक्ष (कैवल्य) प्राप्त कराने वाले विवेक-ख्याति तक पहुँचाने में सहायता प्रदान करना है। इस आष्टङ्गिक योग पर विचार करते समय हम इसे दो अवस्थाओं में ले सकते हैं—

१) पहली अवस्था का उद्देश्य इच्छाशक्ति को नियन्त्रित करके उचित दिशा की ओर ले जाना है और वह सत्य से भिन्न शिवं की प्राप्ति का निरूपण करती है। विशेष रूप से इसका सम्बन्ध उन सद्गुणों से है

जिनका समावेश हम यम (आत्म-संयम) और नियम (सदाचरण) साधना के इन प्रथम दो अङ्गों में करते हैं इनमें यम का स्वरूप मुख्य रूपेण निषेधात्मक है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय (दूसरे के द्रव्य को न चुराना या हड़पना), ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह (विषयों को ग्रहण न करना) ये पाच यम होते हैं। नियम भावात्मक हैं। उनमें शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान का अन्तर्भाव है। एक एक करके लेने पर इन्हे सांख्य-योग के दस विहित-शासन कहा जा सकता है। सफल होने के लिए योग की साधना के लिए यह आवश्यक है कि वह इस सदाचार-प्रधान नींव पर आश्रित हो। केवल प्राणायाम अथवा योग के आसनों का अभ्यास भर करना आध्यात्मिक दृष्टि से किसी लाभ का नहीं। इस प्रकार की नींव के बिना पूर्ण सत्य का दर्शन करने अथवा परम मोक्ष प्राप्त करने की कोई सम्भावना नहीं होती। इसके विपरीत जो इसकी दृढ़ नींव डाल लेता है उसे चाहे यहीं रुक जाना पड़े तब भी उसने साधना के क्षेत्र में काफी उन्नति प्राप्त कर ही ली होगी। संयम की इस अवस्था की विशेषता है अपनत्व को बिल्कुल दबा देना। मनुष्य को अपनी अहंकार पूर्ण प्रवृत्तियों को दबा कर उनके ऊपर उठ जाना चाहिए। ये प्रवृत्तियाँ ही संसार के इतने सारे दुष्कर्मों की कारण हैं। इस प्रकार से प्राप्त की हुई आसक्तिहीन (अहंकार-हीन) प्रवृत्ति को वैराग्य कहा जाता है। आध्यात्मिक इच्छा शक्ति (सम्प्रज्ञात समाधि) को जाग्रत करने के लिए इसको उत्पन्न करने का आदेश दिया गया है। पर वैराग्य से इसका अन्तर स्पष्ट करने के लिए इसको अपर (निम्न) वैराग्य कहा गया है। जब तक कि पूर्ण विवेक (ज्ञान) नहीं प्राप्त होता और अहंकार और गुणों के प्रति स्वाभाविक वितृष्णा नहीं उत्पन्न होती तब तक इसकी आविर्भूति नहीं होती। वस्तुतः जैसा कि व्यास मुनि कहते हैं इस पर वैराग्य के पूर्ण ज्ञान से शायद ही कोई अन्तर हो।

(२) संयम की दूसरी अवस्था में योग के शेष छः अङ्ग हैं। यह समाधि की शक्तियों को निश्चितरूप से उत्पन्न करने के लिए हैं। एतद्विषयक सूक्ष्म बातें कुछ कुछ पारिभाषिक हैं, इसलिए हम यहाँ केवल इसके स्थूल लक्षणों का उल्लेख करेंगे। इनमें से प्रथम तीन योगाङ्ग मन का निग्रह करने में सुविधा उत्पन्न करने की दृष्टि से भौतिक शरीर का निग्रह करने के लिए स्वीकार किये गये हैं। जैसा कि सूचित किया जा चुका है, वे आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार (विषयों से उनकी इन्द्रियों को हटा लेना) हैं। बाद के तीनों योगाङ्ग विक्षिप्त मन को प्रत्यक्षरूप से किन्तु धीरे धीरे वश में लाने में सहायक होते हैं। इस अवस्था में ध्यान के लिए कोई एक अर्थ चुना जा सकता है। केवल यह आदेश दिया गया है कि उन अर्थों में एक प्रकार का तारतम्य हो जिससे कि स्थूल अर्थ पर ध्यान जमाने में सफलता मिलने के पश्चात् अपेक्षतया सूक्ष्म अर्थ को ध्यान (समाधि) का विषय बनाया जा सके। मन पर इस प्रकार का निग्रह हो जाने के पश्चात् साधक सांख्य-योग के परम सत्य को ध्यान (समाधि) का विषय बनाता है। यह योग की परम अवस्था है। यही उपर्युक्त "ऋतम्भरा प्रज्ञा" की ओर ले जाती है। इसका अभ्यास क्रम से दो अवस्थाओं में करना चाहिए। पहली अवस्था में जिस सत्य का ज्ञान अब तक केवल परोक्ष रूप में हो रहा था वही प्रत्यक्ष अन्तर्ज्ञान के रूप में प्रतिभासित होने लगता है। इस प्रकार की समाधि में साधक को इस बात का बोध रहता है (उसे सम्प्रज्ञात कहने से ही जैसा कि प्रकट होता है) कि उसने कैवल्य के साधन विवेक-ज्ञान को प्राप्त कर लिया है। परन्तु दूसरी अवस्था (असम्प्रज्ञात) में वह इसके परे चला जाता है। इस अवस्था को "निद्राहीन (प्रत्ययहीन) निद्रा" कहा गया है। इस अवस्था में मनुष्य संसार और एक व्यक्ति के रूप में अपने अस्तित्व तक को ठीक उसी प्रकार भूल जाता है जिस प्रकार कि निद्रा में।

तब भी यह शून्य नहीं है क्योंकि उस समय पुरुष अपने अविच्छिन्न आलोक के साथ रहता ही है। इस अन्तिम अवस्था में अन्तःकरण के समस्त व्यापार रुक जाते हैं और एक तरह से पुरुष अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है। तब साधक जीवन्मुक्त हो जाता है। यौगिक समाधि की इस प्रकार की किन्हीं दो अवस्थाओं में वह उसी प्रकार का जीवन व्यतीत करेगा जिस प्रकार के जीवन का अभ्यास उसे इस आत्म संयम की लम्बी अवधि में हो गया है, परन्तु प्रकृति से पूर्ण तया विमुक्त होने के कारण तब वह "राग, दुःख और द्वेष" से दूर रहेगा।

ऊपर दिये हुए वर्णन में एक बात ऐसी है जिसको कि जरा समझाने की आवश्यकता है। साधना की प्रारम्भिक अवस्था में हमने ईश्वर-प्रणिधान को भी उसका एक अङ्ग बताया था, परन्तु हमने अभी तक इस बात का बिलकुल उल्लेख ही नहीं किया कि इस तन्त्र में उसका क्या स्थान है। यहां हम जिन दो सम्प्रदायों पर विचार कर रहे हैं उनमें सांख्य अपने प्राचीन संस्कृत स्वरूप में निश्चयपूर्वक ही निरीश्वर (नास्तिक) है। पुरुष (आत्मतत्त्व) की नित्यता और परमरूपता में तो यह दर्शन विश्वास करता है किन्तु वह ईश्वर के बारे में कुछ नहीं मानता। यहां यह अपना युक्तियुक्त पक्षपात प्रकट करता है, क्योंकि जैसा कि भलीभांति ज्ञात ही है, ईश्वर के अस्तित्व का कोई ऐसा तर्कसम्मत प्रमाण नहीं दिया जा सकता जो कि विश्वास उत्पन्न करने में समर्थ हो। इसमें कोई सन्देह नहीं कि सांख्य दूसरे भारतीय दर्शनशास्त्रों की भांति ही तत्वतः पुरुषार्थों का दर्शन है। परन्तु उसके आचार्यों के अनुसार उत्कृष्ट अथवा नित्य पुरुषार्थों की पारमार्थिकता को स्वीकार करने के पूर्व जिस बात को मान लेना अनिवार्य है वह है जीवात्मा की नित्यता (अमरत्व)। जिस हेतु वादी युक्ति (teleological argument) का उल्लेख हम पहले ही कर चुके हैं, यह

जिस प्रकार उसका प्रयोग किया गया है, उससे यह भलीभांति निर्दिष्ट हो गया है। इसमें किसी स्रष्टा के अस्तित्व को नहीं माना गया है, परन्तु यह कहा जाता है कि वह एक ऐसे उपभोक्ता का संकेत करता है जो कि इस सृष्टि अथवा योजना से अपनी हित-सिद्धि करता है। प्रकृति में ऐसे साधन विद्यमान् पाये जाते हैं जो लक्ष्य (कैवल्य) की सिद्धि के लिए अपने को उसके अनुकूल बना लेते हैं। इससे सांख्य यह अनुमान न करके कि उनका रचयिता कोई ईश्वर है, एक आत्मा (पुरुष) का अनुमान करता है और उनके अस्तित्व को उसी के लिए मानता है। इस प्रकार सांख्य सृष्टि को तो स्वीकार करता है परन्तु चेतन स्रष्टा को अस्वीकार करता है।

दूसरी ओर योग में पुरुष के अतिरिक्त ईश्वर के अस्तित्व की भी कल्पना की गयी है। हमने संयमों का वर्णन करते समय ईश्वर का जो उल्लेख किया है उसका कारण, जैसा कि हम पहले ही कह आये हैं, यह है कि उसे पूर्णतया उसी तन्त्र से लिया गया है। फलस्वरूप जो संयम पूरी तौर से सांख्य मत के अनुरूप होता है उसमें ईश्वर-भक्ति का कोई स्थान न होगा। परिच्छेद के प्रारम्भ में इन दोनों तन्त्रों में पाये जाने वाले जिन महत्वपूर्ण अन्तरों के विषय में संकेत किया गया था यह उनमें से एक है।

परन्तु यहाँ ईश्वर की जो भावना की गयी है वह उपनिषदों में की गयी भावना से अत्यधिक भिन्न है। सबसे पहले तो वह भी सांख्य का एक पुरुष ही है और इस कारण नित्य और सर्वव्याप्त होते हुए भी सब कुछ उसी में व्याप्त नहीं है। अन्य पुरुष भी हैं तथा प्रकृति है, और वह इनसे अविच्छिन्न है।

यहाँ ईश्वर की जो भावना की गई है वह भी न्याय वैशेषिक में की गई भावना से कोई समानता नहीं रखती। इसका कारण यह है कि बोलचाल की भाषा में हम यह कह सकते हैं कि जगत् की सृष्टि का

भार उस पर नहीं है क्योंकि जैसा कि हम जानते ही हैं, वह तो प्रकृति का स्वतः होने वाला स्वाभाविक कार्य है। उसके विषय में तो केवल यही कहा जाता है कि वह या तो प्रकृति की सृष्टि को प्रेरित करता है अथवा पुरुष से प्रकृति का संयोग करवा देता है जो सृष्टि के लिये आवश्यक है। उसके अस्तित्व को सिद्ध करने के लिये यह युक्ति है कि हम मनुष्यों में ज्ञानशक्ति और ऐसे ही अन्य 'ऐश्वर्यों' के जिस तारतम्य को देखते हैं उससे हमें एक ऐसे सत्व का आधार अनिवार्य रूप से मिलता है जो कि इन ऐश्वर्यों अथवा विभूतियों के उत्कृष्टतम रूप से सम्पन्न हो। इस प्रकार एक पूर्ण सत्व के प्रत्यय मात्र के आधार पर उसके अस्तित्व को ही यथार्थतः मान कर पतञ्जलि उस युक्ति का आश्रय ले रहे हैं जिसे कि पाश्चात्य दर्शन में सत्व-मीमांसा सम्बन्धी युक्ति (Ontological Argument) कहा जाता है जिस सत्व का हमें इस प्रकार अनिवार्य रूप से आभास मिलता है उसी को ईश्वर कहते हैं। इसी से वह पूर्ण-पुरुष है और सदा ही से ऐसा रहा है। समस्त उत्तम और उत्कृष्ट विभूतियों का वह निवास है और उसकी भावना सविशेष रूप में की गई है इसीलिये वह विलक्षण (पुरुष-विशेष) है। मुक्त पुरुष भी उसकी तुलना में नहीं खड़े हो सकते क्योंकि वह उनकी तरह कभी भी संसार के बन्धनों में नहीं पड़ा है। अपनी पूर्णता के कारण ही इस दृष्टि से कि मनुष्य कितनी उन्नति कर सकता है, वह उनके सम्मुख एक आदर्श रूप में उपस्थित होता है। इस रूप में वह गुरु के समान है क्योंकि गुरु को भी इसी प्रकार आदर्श की प्रतिमूर्ति होना चाहिए। अन्तिम नियम का अर्थ इस रूप में ही ईश्वर भक्ति (प्रणिधान) करना है। इसका तात्पर्य है उसके सम्मुख पूर्ण आत्म-समर्पण। आत्म-समर्पण की इस भावना का अभ्यास करने का जो आदेश दिया गया है उससे यह पता चलता है कि यहाँ स्वार्थ-हीनता और अहंकारहीनता उत्पन्न करने को ही संयम (योगाङ्गों)

का मुकुट-मणि माना गया है।

कैवल्य प्राप्ति के लिये अभी तक जिन संयमों (योगाङ्गों) का वर्णन किया गया है उनमें ईश्वर-प्रणिधान का स्थान गौण है। ईश्वर-प्रणिधान के अनन्तर शेष छः योगाङ्गों का अभ्यास करना चाहिये। ये आसन से प्रारम्भ होते है और समाधि में अन्त होते हैं। कैवल्य (मोक्ष) प्राप्त करने के लिये पतञ्जलि केवल इन संयमों को ही स्वीकार नहीं करते हैं वरन् एतदर्थ एक अन्य साधन भी स्वीकार करते हैं। वह है ईश्वर-प्रणिधान अथवा ईश्वर भक्ति और ईश्वर में अपने चित को लगाना। इसके द्वारा योग की इन सब विस्तृत तैयारियों के बिना भी साधक मोक्ष का अधिकारी हो जाता है अर्थात् वह हमारे सामने एक आदर्श के रूप में तो उपस्थित होता ही है किन्तु इसके अतिरिक्त वह करुणा-सिन्धु है (यह करुणा उसकी एक विभूति है) इसलिये यदि दुःखों में फँसे हुये मनुष्य उसमें केवल श्रद्धा ही रखते हैं और उसका ध्यान करते हैं तो वह उनके ऊपर दया करता है और उन्हें मोक्ष प्राप्ति में सहायता देता है। इन दोनों मार्गों में इसको अपेक्षतया अधिक सरल कहा गया है। हां, यह अवश्य स्पष्ट है कि यह उन लोगों के लिये है जो उसमें श्रद्धा बनाये रख सकते हैं। गीता के सम्बन्ध में हमने जिस भक्ति-योग का उल्लेख किया था यह उसके अनुरूप ही है। दो बातों से हमें इस बात का संकेत मिलता है कि इस तन्त्र में परम ईश्वर के प्रति जो विश्वास है वह उसका अपना नहीं है। इनमें एक तो है योग अथवा संयम की यह द्विविधता (ज्ञानयोग और भक्तियोग) और दूसरी यह कि भक्तियोग परमार्थ-सत्य के ज्ञान को बहुत कम महत्व देता है, यद्यपि सांख्य के लिये यह अत्यन्तावश्यक है।

अब तक जो कुछ कहा गया है उससे यह अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है कि प्रकृति की जो भावना की गई है वह बिलकुल हेतुवादी

(Theological) है। यदि उससे केवल एक इसी प्रयोजन की सिद्धि होती है कि पुरुष को भोग अथवा अपवर्ग किसी एक की प्राप्ति हो जाय तो हम यह मान सकते हैं कि ऐसा करना उसका स्वभाव ही है, यद्यपि उस समय भी यह नहीं कहा जा सकता कि उस लक्ष्य के लिये उसकी जो अनवरत और अनुकूल प्रवृत्ति है। वह मन से बिना कोई सम्बन्ध रखे ही हो रही हो। परन्तु यथार्थतः इससे इन दोनों ही प्रयोजनों की सिद्धि हो जाती है इस प्रकार जो हेतु विद्या (Teleology) प्रकृति की विशिष्टताओं का निरूपण करती है वह स्थिर नहीं है। इसका तात्पर्य यह है प्रकृति में (प्रत्येक) पुरुष की आवश्यकताओं के अनुसार ही भोग अथवा अपवर्ग इन दोनों में से एक को चुन लेने की सामर्थ्य है। निस्सन्देह ही इनमें कोई प्रयोजन की द्विविधता नहीं है क्योंकि, जैसा हम कह ही चुके हैं, उनमें से एक दूसरे का नियत रूप से सहायक होता है। परन्तु ऐसा होने पर भी इसका मतलब यह है कि प्रकृति पुरुष की विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये अपने व्यापारों को भिन्न भिन्न रूप से उनके अनुकूल बनाने में समर्थ है और जहाँ एक ही पुरुष का सम्बन्ध है वहाँ प्रकृति मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उपर्युक्त एक उद्देश्य के स्थान पर दूसरे उद्देश्य को ग्रहण कर सकती है। अच्छा, अब यदि हमें यह बताना पड़े कि प्रकृति में अपने व्यापारों को इस प्रकार पुरुष की आवश्यकताओं के अनुकूल बना लेने की जो सामर्थ्य है उसका क्या कारण है, तो हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि बिना एक ऐसे मनस-तत्व अथवा आत्म तत्व को माने, जो अपनी इच्छा के अनुसार कार्य करने में समर्थ हो, यह कदापि सम्भव नहीं है। सांख्य में वस्तुतः इस प्रकार का तत्व स्वीकार भी किया गया है। पुरुष ही यह तत्व है। परन्तु उसे प्रकृति से पृथक् और नितान्त निष्क्रिय माना जाता है। यहाँ इस दर्शन में हमें एक विरोध दिखाई देता है। वह यह है कि अचेतन प्रकृति में

इच्छा-शक्ति के प्रयोग के द्वारा कार्य करने की क्षमता। अन्धे और लँगड़े के जिस उदाहरण से इस मत की पुष्टि की जाती है वह इस प्रसङ्ग में जरा भी ठीक नहीं बैठती है। इसका कारण यह है कि उस उदाहरण में अन्धा और लँगड़ा दोनों ही विवेकी हैं और इसलिये एक दूसरे के साथ भली भांति सहयोग कर सकते हैं, परन्तु यहाँ उन दोनों में से एक (प्रकृति) विवेकहीन (जड़) है। अतएव उनमें इस प्रकार का कोई पारस्परिक सहयोग सम्भव नहीं है। इस कठिनाई से बचने का एक बना-बनाया मार्ग तो यह है कि एक प्रकृति से परे एक ऐसे ईश्वर की कल्पना कर ली जाय जो कि बद्ध पुरुषों के कर्माशयों के अनुसार प्रकृति के व्यापारों को बाहर से परिचालित करता रहता है। परन्तु यह मान लेना इस तन्त्र के मौलिक सिद्धान्तों के ही विपरीत है, कम से कम इस तन्त्र (सांख्य योग) के सांख्य पक्ष के विपरीत तो वह प्रत्येक दशा ही में है।

इस स्पष्ट असङ्गति का कारण क्या सांख्य में बताया गया है? इसको दो प्रकार से समझाना सम्भव प्रतीत होता है। पहला तो यह है कि प्रकृति को एक समष्टि के रूप में लेने पर उसमें एक ऐसे आत्म-तत्व को व्याप्त मान लिया जाय जो अन्दर से ही उसकी सृष्टि के क्रम को प्रेरित और पूर्ण रूप से आगे का मार्ग प्रदर्शित करता रहता हो। उस समय यही कहना ठीक होगा कि पुरुष के मोक्ष की इच्छा प्रकृति में नहीं होती है बल्कि पुरुष (आत्मतत्व) अथवा यदि हम चाहें तो यह भी कह सकते हैं कि प्रकृति के साथ संयुक्त आत्म-तत्व में ही होती है। प्रकृति में हमें जो एक प्रकार की तर्कसंगत व्यवस्था दीख पड़ती है उसका क्या कारण है? इसका उत्तर हमें इस आत्मतत्व के मान लेने से संतोषजनक रूप से मिल जाता है। अन्ततः वास्तविक मुक्ति पा लेने के लिये चलने वाला संघर्ष ही जीवन है और यदि मनुष्य पहले निम्नतर पुरुषार्थों (अर्थ, काम) के पीछे

ही पड़ा है तो यह परमार्थ-सत्य विषयक उसके अज्ञान के कारण ही है। परन्तु वह उपनिषदों की दो प्रकार की शिक्षाओं में से एक प्रकार की (ब्रह्म परिणामवाद) होगी, और तब तो यह कहना पड़ेगा कि अपने वर्तमान रूप में यह तन्त्र उसी से लिया गया है। श्वेताश्वतर उपनिषद् तो वस्तुतः ईश्वर के विषय में यह कहता है कि वह "अपने गुणों में ही अन्तर्निहित है"। हमें यह मानना पड़ेगा कि यहाँ पर उपनिषदों में मिलने वाले परमार्थ-सत्य विषयक इस सम्पूर्ण मत का सांकर्य द्वैतभावनात्मक पक्षपात के फल स्वरूप कर दिया गया है और आत्म तत्व (पुरुष) को प्रकृति से पृथक कर दिया गया है। इसका परिणाम यह हुआ कि यह पूरा का पूरा दर्शन अभ्युपगम्य-सा हो गया है। प्रकृति और पुरुष को इस प्रकार बलात् पृथक कर देने का ही यह परिणाम है कि इस मत में उन दोनों के पारस्परिक सहयोग का क्या कारण है यह संतोषजनक रूप से नहीं समझाया जा सकता। इस प्रकार का विवेचन प्रकृति के "महत्" के "अहंकार" आदि जैसे कुछ विकारों को दिये गये नामों पर भी प्रकाश डालता है। विश्व-व्याप्त सत्वों के रूप में वे सम्पूर्ण प्रकृति में अन्तर्व्याप्त विश्वात्मा की ज्ञानेन्द्रियों का निरूपण करते हैं। परन्तु जब यह तन्त्र औपनिषद शिक्षा से आविर्भूत हुआ तो इस प्रकार की आत्मा की भावना ही को त्याग दिया गया, अतएव उनको जो संज्ञाएँ दी गई वे स्वभावतः नितान्त यदृच्छापूर्ण और विभ्रम में डालने वाली हो गयीं। इसी को दूसरे प्रकार से इस तरह समझाया जा सकता है कि यह मान लिया जाय कि मूलतः यह सम्प्रदाय शुद्ध स्वभाववादी था और पुरुष अथवा आत्म तत्व का विचार, जिसकी स्वतः विकासशील और स्वतः नियामक प्रकृति के लिये कोई आवश्यकता ही नहीं है, इसमें दूसरे तन्त्रों के सादृश्य से ले आया गया है।

छठा परिच्छेद

पूर्व-मीमांसा

अब हम उन सम्प्रदायों के विषय में विचार करना प्रारम्भ करेंगे जिन्होंने मुख्यतया वैदिक प्रमाण को ही अपना आधार माना है। ये सम्प्रदाय दो हैं। इन में एक तो वेद के प्रारम्भिक भागों विशेष रूप से ब्राह्मणों की और दूसरा उपनिषद कहे जाने वाले वेदों के बाद वाले भागों की शिक्षा का प्रतिपादन करते हैं। इस कारण उन्हें क्रमशः पूर्व-मीमांसा और उत्तर-मीमांसा कहा जाता है। इन सम्प्रदायों को "मीमांसा" की जो संज्ञा दी गई है उसका अर्थ है "विधिवत् परीक्षण"। साथ ही इससे यह भी प्रकट हो जाता है कि भारतवर्ष में श्रुति को आधार मानने वालों तन्त्रों में भी 'विचार' को कितना प्रमुख स्थान दिया गया है। भले ही उनमें तर्क को ही ज्ञान प्राप्त करने के अन्तिम साधन के रूप में न स्वीकार किया गया हो किन्तु तब भी उन का तात्पर्य यह कभी नहीं है कि अपरीक्षित और निराधार प्रमाणों पर आँखें बन्द करके विश्वास कर लिया जाय। इसी से हम उन्हें इस रूप में ग्रहण कर सकते हैं कि वे व्यवहारतः तर्क पर आश्रित हैं यद्यपि सिद्धांततः ऐसा नहीं है। डा० रैन्डले कहते हैं कि आस्तिक सम्प्रदायों की यह विशेषता कुछ विशेष परिस्थितियों पर निर्भर है। वह यह है कि जब बौद्धमत से उनका पाला पड़ा तो उन्हें "एक तीव्र विरोध का सामना करना पड़ा। इसी ने उनको बलपूर्वक इसके लिए प्रेरित किया कि वे भी स्वतन्त्र अन्वीक्षण को इतना बढ़ा दें कि वह संशय-वाद की अन्तिम सीमा तक पहुँच जाय," और दूसरी बात यह थी कि उसका (बौद्धमत का) सामना उसी के अस्त्रों से किया जा सकता था। वे अस्त्र थे प्रत्यक्ष

और अनुमान। आगे चल कर वे कहते हैं कि "इसका शुभ परिणाम" यह हुआ कि श्रुति प्रमाण की शृंखलाओं ने आस्तिक दर्शन के कट्टर विचारकों को इस प्रकार नहीं जकड़ लिया कि वे उन बातों को भी न ग्रहण करें जो कि प्रमुख रूप से तर्क ही पर आश्रित हैं।" इस परिच्छेद में पूर्व मीमांसा अथवा मीमांसा ही, जैसा कि प्रायः संक्षेपतः कहा जाता है, हमारे विचार का विषय रहेगी।

जहाँ तक इसके प्रादुर्भाव का सम्बन्ध है यह तन्त्र ब्राह्मण काल तक पहुँचता है। तत्कालीन ग्रन्थों में यज्ञ-सम्बन्धी कर्मकाण्ड के सम्बन्ध में विभिन्न प्रश्नों पर विचार किया गया है, परन्तु अधिकांशतः यह विचार इस विषय में किया जाता है कि उनका उन यज्ञ विशेषों से क्या सम्बन्ध है जिनके द्वारा अभीष्ट प्रेय की प्राप्ति और अवांछनीय अप्रेय का निवारण हो सकता है। यह तो स्मरण ही होगा कि "ब्राह्मण" शब्द का अर्थ है ऐसे आचार्य अथवा पुरोहित का निश्चित मत जिसका शासन सर्व-स्वीकृत हो। इस विचार करने के फलस्वरूप जो निर्णय प्राप्त होते थे बाद में उन्हें विधिवत् रूप से संग्रहीत कर लिया जाता था और पर्याप्त रूप में परिवर्धित भी कर दिया जाता था। कल्पसूत्र नाम से प्रख्यात एक प्रमुख प्रकार के साहित्य के द्वारा यह बात प्रकट हो जाती है। मैक्समिलर के शब्दों में ये कल्पसूत्र "वैदिक कर्मकाण्डों की एक प्रकार की व्याकरण" का काम देते हैं। परन्तु प्रमुखतया ये यज्ञ सम्बन्धी विधि-विधानों का स्पष्टीकरण करने वाले सूत्रग्रन्थ ही हैं। हाँ, बाद में स्पष्टतः अन्य दार्शनिक सम्प्रदायों के विषद् विकास के कारण ही मीमांसा ने भी एक पूर्ण विकसित दार्शनिक सम्प्रदाय का स्वरूप प्राप्त कर लिया और कर्मकाण्ड के विधिवत निरूपण के अतिरिक्त इसकी अपनी ही सत्व मीमांसा (Ontology) और प्रमाण मीमांसा (Epistemology) भी हो गई।

इस सम्प्रदाय का साहित्य बहुत विस्तृत है। इसका सर्व प्रथम मूल

'जैमिनि-सूत्र" (लगभग ३००-२०० ई० पू०) में पाया जाता है। इसमें १२ अध्याय हैं जो ६० पदों में विभक्त हैं। इसमें लगभग एक सहस्र विषयों पर विचार किया गया है, इसलिए यह दार्शनिक सूत्रों से कहीं बड़ा है। सम्भवतः यह उनसे प्राचीनतम भी है। इस पर लिखा गया जो सबसे पहले का भाष्य मिलता है वह शबर स्वामी (४०० ई०) का है; और कुमारिल भट्ट और प्रभाकर ने जो अन्यत्र गुरु के नाम से प्रख्यात हैं इसकी दो प्रकार से व्याख्या की है जो कि एक दूसरे से कुछ कुछ भिन्न है। इसका परिणाम यह हुआ कि इस मत के अनुयायियों में ऐसी दलबन्दी की भावना का उदय हो गया कि वे दो सम्प्रदायों में विभक्त हो गये। जिस काल में इन वृत्तियों (व्याख्या-ग्रन्थों) की रचना हुई उसको निश्चितरूपेण नहीं जाना जा सकता, किन्तु ऐसा विश्वास है कि बहुत सम्भवतः इन दोनों ही दार्शनिकों ने सप्तम ईसवी शतक में अपनी अपनी रचनायें कीं। कुमारिल के लगभग सभी ग्रन्थ सम्पूर्णतया मुद्रित हो चुके हैं, परन्तु दूसरे दार्शनिक के ग्रन्थ आंशिक रूप में ही प्राप्य हैं और उस भाग का भी केवल एक टुकड़ा ही अभी तक प्रकाश में आया है।

(१)

दो बातों में इस तन्त्र की तुलना न्याय-वैशेषिक से की जा सकती है। एक तो यह कि यह बहुत्ववादी है और दूसरे यह कि यह वस्तुवादी है। उसकी भाँति ही इस मत में भी आत्मा के बहुत्व और भौतिक जगत के आधारभूत परम द्रव्य-तत्वों की अनेकता में विश्वास किया जाता है। परन्तु जैसा कि हम शीघ्र ही देखेंगे इन तन्त्रों में महत्वपूर्ण अन्तर भी हैं। मीमांसा के जिन दो भिन्न सम्प्रदायों का उल्लेख हमने अभी किया है उन दोनों में कितनी ही दृष्टियों से परस्पर मतैक्य होते हुये भी उनके मौलिक सिद्धान्तों में कुछ मतभेद है। परन्तु जिस रूप में

दोनों दार्शनिकों में अधिक प्रभावशाली—अर्थात् कुमारिल ने इस तन्त्र का प्रतिपादन किया है, यहाँ हम उसी तक अपना ध्यान सीमित रखेंगे और उसके दूसरे स्वरूप (प्रभाकर प्रतिपादित) की केवल उन कुछ ही बातों का उल्लेख करेंगे जो सम्पूर्ण भारतीय दर्शन के इतिहास में अपूर्व हैं।

न्याय वैशेषिक में जिन सात पदार्थों की कल्पना की गयी है मीमांसा में उनमें से द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य और अभाव केवल इन पाँच को स्वीकार किया गया है; और शेष दो, समवाय और विशेष, का निराकरण किया गया है। ये दोनों, जैसा कि पहले ही संकेत किया जा चुका है, यदृच्छता कल्पित पदार्थों के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं और उस तन्त्र में मानी जाने वाली कुछ बातों के कारण उनको ग्रहण करना आवश्यक हो गया है। 'समवाय' के स्थान पर यहाँ एक अन्य सम्बन्ध की कल्पना की गयी है जो बिलकुल ही भिन्न प्रकार का है और न्याय-वैशेषिक के अतिभौतिक (Metaphysical) पक्ष से मीमांसा के एक मौलिक मतभेद की ओर संकेत करता है। प्रस्तुत तन्त्र का मत यह है कि द्रव्य और गुण अथवा विशेष और सामान्य जैसे पदार्थ एक दूसरे से नितान्त भिन्न नहीं है, वरन् वे एक होते हुए भी भिन्न हैं। यह कहा जाता है कि यदि वे पूर्णतया भिन्न होते तो एक दूसरे से पृथक किये जा सकते थे, किन्तु न्याय वैशेषिक ही में यह स्वीकार किया गया है कि ऐसा नहीं हो सकता। इसलिए इस मत में इस प्रकार के पदार्थ एक दूसरे के साथ भेदाभेद का सम्बन्ध रखते हैं। जैनमत और सांख्य योग के सम्बन्ध में विचार करते समय हम "भेदाभेद" की भावना से परिचित हो चुके हैं। इस सम्बन्ध की संज्ञा है 'तादात्म्य'। इसका शाब्दिक अर्थ है "एकत्व" (तदाकारिता), परन्तु कुमारिल के अनुसार जितने भी तादात्म्य होते हैं सब "भेद में अभेद" (तदाकार) होते हैं। वे तदाकार होते हैं इसीलिए हम

(उदाहरण के लिए कह लीजिए कि) द्रव्यों को गुणों से विशिष्ट कह सकते हैं। उदाहरणतया हम कहते हैं कि "गुलाब लाल है।" परन्तु वे (गुलाब और लालिमा) बिल्कुल एक ही नहीं हैं क्योंकि गुण, द्रव्य नहीं है। कुमारिल कहते हैं कि जहाँ जहाँ दो भिन्न प्रत्ययों का उदय हमारे मन में होता है वहाँ अत्यन्त भेद मानना और जहाँ एक का ही उदय होता है वहाँ अत्यन्त तादात्म्य की कल्पना करना ठीक नहीं है। जहाँ तक हमें वस्तुओं का ज्ञान इस प्रकार होता है कि "यह एक है और यह एक दूसरी है" वहां तक तो वे एक दूसरे से भिन्न हैं, परन्तु उसी समय वे हमारे अनुभव में इस रूप में भी आ सकती है कि "यह उससे 'अन्य नहीं' (अनन्य) है और इस प्रकार वे एक हो सकती हैं। यह स्पष्ट है कि वस्तुओं पर इस प्रकार विचार करने में ही इस तन्त्र का बहुत्ववाद अधिकांशतः निहित है। साथ ही इससे यह भी प्रकट होता है कि यह न्याय वैशेषिक की तरह तत्त्वतः बहुत्ववादी नहीं है।

जहाँ तक प्रथम पदार्थ, द्रव्य, का सम्बन्ध है न्याय वैशेषिक में माने जाने वाले नवों द्रव्यों को मीमांसा में स्वीकार किया गया है और इसने उनमें दो द्रव्य और जोड़ दिये गये हैं। वे हैं "तम" और "शब्द"। न्याय-वैशेषिक में इन बाद वाले द्रव्यों में से पहले (तम) के विषय में समझाते हुए यह कहा गया है कि वह प्रकाश का अभाव मात्र है और दूसरे (शब्द) के विषय में यह कि वह 'आकाश' का गुण है। इन दोनों का द्रव्य अन्तर्गत जो समावेश कर दिया गया है उसके औचित्य को प्रतिष्ठापित करने के लिए यहां पर विस्तृत युक्तियों को प्रस्तुत किया गया है; किन्तु वे भारतीय विचारों की विलक्षणता के अतिरिक्त और कुछ नहीं प्रतीत होतीं और इसलिए यहाँ उनका वर्णन करने की कोई आवश्यकता नहीं मालूम पड़ती। दोनों तन्त्रों में जिन द्रव्यों को स्वीकार किया गया है उनके सम्बन्ध में केवल दो बातों का

उल्लेख करना पर्याप्त होगा।

(१) पहली परमाणुवाद के सिद्धान्त के सम्बन्ध में है। हमें पता है कि न्याय वैशेषिक ने संसार में पाये जाने वाले समस्त भौतिक कार्य (जन्य पदार्थों) के परम कारण के रूप में अविभाज्य और अतीन्द्रिय परमाणुओं को स्वीकार किया गया है। कुमारिल ने भौतिक जगत् के इस बहुत्ववादी आधार को स्वीकार तो किया है, किन्तु उनका मत यह है कि सामान्य वस्तुओं के विश्लेषण को इतनी दूर तक ले जाने की कोई आवश्यकता नहीं है और वे सूर्य की किरणों में दिखाई देने वाले चाक्षुष कणों पर ही रुक जाते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि ये कण दूसरे तन्त्र (वैशेषिक) के त्रसरेणु के ही अनुरूप है। न्याय-वैशेषिक अपने मत का प्रतिपादन अनुमान के बल पर करता है और साथ ही वह यह भी प्रतिपादित करता है कि यह अनुमान योगियों की अन्तर्दृष्टि के द्वारा प्रमाणित रहता है। परन्तु मीमांसक के रूप में कुमारिल इस बाद वाली बात को स्वीकार नहीं करते, जैसा कि हम देख ही चुके हैं, और वे प्रतीति (प्रत्यक्ष) सिद्ध अबाधित तथ्यों के परिणामों में अनुमान के प्रयोग के द्वारा गड़बड़ी उत्पन्न करने के बड़े विरुद्ध हैं। वे कहते हैं कि हम सामान्य बुद्धि का अपलाप करने के लिये तर्क का प्रयोग नहीं कर सकते। उनके अनुसार जो विषय यथार्थतः इन्द्रियातीत है उनका ज्ञान प्राप्त करने का साधन न तो अनुमान है और न तथाकथित ऋषियों और योगियों की अन्तर्दृष्टि, बल्कि श्रुति है। इसके बाद वे कहते हैं कि जिस प्रकार के परमाणुओं को न्याय-वैशेषिक में स्वीकार किया गया है उनके प्रति श्रुति मौन धारण किये हुये हैं। उन्होंने यह कल्पना की है कि पृथिवी, जल, अग्नि और वायु इन चारों भूतों के परमाणु इस प्रकार अविभाज्य नहीं हैं और वे परिच्छिन्न परिणामयुक्त हैं इसलिये वे यथार्थ में किसी प्रकार भी आणव (Atomic) नहीं हैं। न्याय वैशेषिक के अभिप्रेत मत से

कुमारिल का मतभेद केवल सामान्य-प्रतीति-सिद्ध जगत् के उपादानभूत परम तत्वों (परमाणुओं) के विषय में ही नहीं है वरन् उन परमाणुओं और उनसे निर्मित अवयवियों के बीच में रहने वाले सम्बन्ध के स्वरूप के विषय में भी है। द्रव्य और गुण में रहने वाले सम्बन्ध सादृश्य से ही इस सम्बन्ध को भेदाभेद कहा गया है। इसके अनुसार अवयव और अवयवी अत्यन्त भिन्न नहीं हैं वरन् वे एक होते हुये भी भिन्न हैं।

(२) दूसरी बात जिसका उल्लेख करना है वह यह है कि यहां आत्मा की क्या भावना की गई है। न्याय-वैशेषिक मत से सामान्यतः मतैक्य होते हुए भी कुछ तात्विक बातों में मीमांसा का उससे मतभेद भी है। दोनों ही तन्त्रों में आत्मा विभु और नित्य मानी गई है। दोनों ही में मन के द्वारा उसकी प्रत्यक्ष प्रतीति होती है। परन्तु जिस प्रकार से उसका ज्ञान प्राप्त होता है उसकी भावना दोनों में भिन्न भिन्न रूप में की गई है। न्याय-वैशेषिक में इसका प्रत्यक्ष प्रत्यक्षभूत अर्थ के साथ ही न होकर बाद में एक पृथक प्रयत्न के फलस्वरूप होता है। यदि कोई प्रेक्षक किसी एक क्षण में किसी एक अर्थ का ज्ञान प्राप्त करता है तो, यदि वह चाहता है, उसे इसका भी बोध हो सकता है कि उसे बाद में भी किसी अन्य क्षण में उसका ज्ञान प्राप्त हो रहा है। प्रथम प्रकार के ज्ञान के स्वरूप को (उदाहरण के लिये यह कहिये कि उसमें मेज का उल्लेख किया गया है) इस भांति प्रकट किया जा सकता है कि "यह एक मेज है" और दूसरे प्रकार के ज्ञान के स्वरूप को इस भांति कि "मैं एक मेज देखता हूँ।" यदि प्रेक्षक इस प्रकार के "बाद के ज्ञान" (अनुव्यवसाय) की ओर ध्यान नहीं देता है तो उसका (अनुव्यवसाय का) किसी प्रकार उदय ही न होगा. इसलिये किसी वस्तु (अर्थ) का प्रत्यक्ष करने वाले व्यक्ति के लिये यह आवश्यक नहीं ह कि वह उ वस्तु का यथार्थतः अनुभव करे कि वह वैसा कर रहा है।

न्याय वैशेषिक के अनुसार ज्ञान का अर्थ यह नहीं है कि आत्म-बोध भी हो। परन्तु यहाँ (मीमांसा) में) यही बात है और जब भी किसी अर्थ का ज्ञान प्राप्त होता है तो उसके साथ ही आत्मा को भी उद्भासित हुआ माना जाता है। अतः जिस रूप में ज्ञान उत्पन्न होता है, उदाहरण स्वरूप मेज ही के ज्ञान को ले लीजिये, उसे इस प्रकार प्रकट किया जाता है कि "मैं मेज देखता हूँ।" कहा जाता है कि प्रकट करने के इस ढंग में दो प्रत्यय निहित हैं—एक तो अहं-प्रत्यय और दूसरा मेज का प्रत्यय। जिस प्रकार मेज बाद वाले प्रत्यय का विषय है उसी प्रकार आत्मा पहले वाले प्रत्यय का विषय है।

इस प्रकार यद्यपि अर्थ-ज्ञान के समय आत्मा का ज्ञान भी नियत रूप से होता है, तथापि जैसा कि भ्रमवश सोचा जा सकता है, वह आत्मा का ज्ञान प्राप्त करने की क्रिया के कर्ता अथवा विषय के रूप में नहीं होता है, बल्कि केवल आत्म-प्रत्यय के विषय के रूप में। यहाँ इसकी विषयी और विषय दोनों रूपों में भावना की गई है। यह ज्ञान प्राप्त करने में विषयी के रूप में और ज्ञेय होने में विषय के रूप में होता है। "मैं अपने को जानता हूँ" इस सुपरिचित प्रतीति से यह बात सुस्पष्ट हो जाती है। यह कहना कि एक और वही आत्मा एक और उसी ज्ञान-क्रिया का विषय और विषयी हो सकती है, विरोधी प्रतीत हो, परन्तु कुमारिल के अनुसार इस प्रकार के विरोधों का प्रभाव वस्तुओं की वास्तविकता पर नहीं पड़ता। वे कहते हैं कि अनुभव ही सत् तत्व के ज्ञान का अन्तिम साधन है और जब वह (अनुभव) वस्तु में विरोधी लक्षणों के होने को प्रमाणित ठहराता है तो हमारे लिये उनको उनसे विशिष्ट कहना पूर्णतया न्यायोचित है। हम शीघ्र ही इस बात को समझाएँगे कि हमें किस प्रकार आत्मा का ज्ञान विषयी रूप में भी होने लगता है।

धर्म और अधर्म के अतिरिक्त जो यहां नहीं हैं मीमांसा में आत्मा जिन विशेष गुणों से विशिष्ट मानी जाती है वे वही हैं जो दूसरे तन्त्र (न्यायवैशेषिक) में हैं। तद्विषयक मीमांसा की विवेचना का उल्लेख हम बाद में करेंगे। ज्ञान, इच्छा, द्वेष सुख, दुख और प्रयत्न इन शेष छः गुणों में से अन्तिम पांच न्याय वैशेषिक की भांति ही अन्तः करण द्वारा ग्राह्य हैं। उस तन्त्र के अनुसार प्रथम गुण 'ज्ञान' मनन करने पर उद्भासित हो जाता है और इसलिए प्रत्यक्षतः ज्ञेय है। इसके विपरीत यहां वह केवल अनुमान का विषय है। इसका कारण यह है कि यहां उसके स्वरूप की जो भावना की गयी है वह भिन्न है। हम अब उसके स्वरूप की विवेचना करेंगे।

पाठकों को याद होगा कि न्याय वैशेषिक के अनुसार ज्ञान आत्मा का एक गुण है। मीमांसा का मत है कि वह आत्मा का कर्म (क्रिया) है। ज्ञान को आत्मा में होने वाली एक प्रक्रिया के रूप में माना जाता है और इसका तात्पर्य यह है कि अर्थ-ज्ञान होने पर आत्मा में एक परिवर्तन हो जाता है। इस प्रक्रिया के द्वारा ग्राह्य विषय (वस्तु) प्रकाशित अथवा अभिव्यक्त हो जाती है। इसलिए जहां न्याय-वैशेषिक में ज्ञान को एक अथवा बिजली की चमक की तरह एकदम से हो जाने वाला माना गया है, यहां उसकी कल्पना दो अवस्थाओं में की गयी है—क्रिया रूप में और फल (परिणाम) रूप में। जिस ज्ञान को प्रायः एक माना जाता है उसी को दो में विभक्त कर देने का कारण यह है कि विषय और विषयी इन दोनों वस्तुओं से सम्बन्ध रखने के कारण जब वह (ज्ञान) उत्पन्न होता है तो उसका प्रभाव दोनों ही पर पड़ता है। अतएव इनमें से कवल एक ही दृष्टिकोण से उस पर विचार करने और यह कहने से कि वह आत्मा में उत्पन्न होता है उसका स्वरूप पूरी तौर से ठीक-ठीक नहीं अंकित हो सकता। ज्ञान प्राप्त करने की प्रक्रिया स्वभावतः अतीन्द्रिय है क्योंकि वह आत्मा जैसे सूक्ष्म तत्व में होती है। परन्तु उसके द्वारा विषयों

का प्रकाशन भी होता है और इससे उसके अस्तित्व का अनुमान किया जा सकता है। यही कारण है कि यहां ज्ञान को एक क्रिया के रूप में अनुमेय कहा गया है। उससे जिस फल (परिणाम)—प्राकट्य (अभि व्यक्ति)—की प्राप्ति होती है वह प्रत्यक्षतः ज्ञेय है, परन्तु उसी रूप में जिस रूप में वह अभिव्यक्त विषय को विशिष्ट करता है। "विषयी" शब्द का अर्थ है 'ज्ञाता' (जानने वाला) अथवा ज्ञानवान्। इस कारण सुस्पष्ट ही है कि वह (विषयी) अथवा 'अहं रूप' ज्ञान प्राप्त करने की क्रिया का कर्ता केवल ज्ञान के जान लेने के पश्चात ही जाना जा सकता है। अस्तु, स्वयं विषयी अनुमान के द्वारा ज्ञेय है न कि मनन से अन्तर्दृष्टि द्वारा जैसा कि न्याय वैशेषिक में माना जाता है। इसलिए केवल विषय ही प्रत्यक्षतः ज्ञेय है न कि विषयी अथवा ज्ञान। इतना हम और कह सकते हैं कि ज्ञान और आत्मा में जो सम्बन्ध है वह भेदाभेद का है। इस दृष्टि से प्रस्तुत मत जैन मत से मिलता जुलता है, यद्यपि इसमें ज्ञान की जो भावना की गयी है सम्पूर्ण रूप में लेने पर वह जैन मत से बहुत भिन्न है।

आत्मा के प्रकरण को समाप्त करने के पूर्व हमें एतद्विषयक न्याय वैशेषिक मत से इसके एक अन्य मतभेद का उल्लेख करना है। न्याय वैशेषिक में जीवात्माओं के अतिरिक्त एक 'परम-आत्मा' अथवा ईश्वर को स्वीकार किया गया है। यहां इस अन्तर को नहीं माना गया है। वास्तव में कुमारिल ने तो यह दिखाने के लिए कि इस प्रकार की सर्वज्ञता और ऐसी ही अन्य परमोत्कृष्ट विभूतियों से युक्त, आत्मा हो ही नहीं सकती, विस्तृत युक्तियों को उपस्थित किया है। उदाहरणतया यह कहा जाता है कि एक सर्वशक्तिमान् और दयालु ईश्वर के द्वारा निर्मित होने पर भी संसार में दुःखों की विद्यमानता का क्या कारण है? इसका कोई संतोषजनक उत्तर नहीं दिया जा सकता। भारतीय दर्शनों में इस कठिनाई को सुलझाते हुए सामान्यतः जीवधारियों के पूर्व-कर्मों

का उल्लेख कर दिया जाता है, परन्तु इसके विरोध में मीमांसक कहते हैं कि यदि ईश्वर को स्वीकार करने के पश्चात् भी दुःखों की समस्या को संतोषजनक रूप से समझाने के लिए कर्म को ले आना आवश्यक हो तब तो यही मान लेना अच्छा होगा कि कि कर्म ही इस सम्पूर्ण समस्या का हल प्रस्तुत करता है। किसी एक स्रष्टा को स्वीकार न करने के परिणाम स्वरूप ही इस तन्त्र में संसार को अनादि और अन्तहीन माना गया है। इस प्रकार यह दूसरे कितने ही सम्प्रदायों द्वारा प्रस्तुत किये जाने वाले सृष्टि चक्र के सिद्धान्त का निराकरण करता है। कहने का तात्पर्य यह है कि संसार स्वयं-भू है। उत्पत्ति, वृद्धि और क्षय संसार की प्रत्येक व्यक्तिभूत वस्तु के विशिष्ट लक्षण हैं, परन्तु सम्पूर्ण भौतिक जगत् को एक में लेने पर "वह कभी भी जैसा कि अब है उससे भिन्न" नहीं था। यहां स्पष्ट रूप से स्वभाववाद (Naturalism) की झलक है। मीमांसक कहते हैं कि "जगत् स्वयं अपने में ही पर्याप्त है तो फिर ईश्वर क्यों आ टपकता है?" परन्तु यहां इतना और कह देना होगा कि जैसा हमने सांख्य सम्प्रदाय के सम्बन्ध में कहा था कि ईश्वर के अस्तित्व का खण्डन करना उत्कृष्ट पुरुषार्थों का त्याग कर देना नहीं है, क्योंकि यह तन्त्र देहात्मवादियों की भांति नहीं है और इसमें शरीर नष्ट होने के पश्चात् आत्माओं के अस्तित्व और कर्म के सिद्धान्त में विश्वास किया जाता है। वस्तुतः कर्म के सिद्धान्त के प्रति इसका जो विश्वास है उससे यह बात स्पष्टरूपेण झलकती है कि मुक्ति के लिए साधनरूप में ईश्वर की अनुकम्पा पर आश्रित रहने वाले अधिकांश आस्तिक दर्शनों की अपेक्षा इसमें विश्व की नैतिक-व्यवस्था पर कहीं अधिक जोर डाला गया है।

न्याय वैशेषिक की भांति ही इस सम्प्रदाय में भी २४ गुणों की कल्पना की गयी है। हाँ, उनमें कुछ परिवर्तन कर दिया गया है।

इस प्रकार गुणों की सूची में से शब्द को उड़ा दिया गया है। उसे द्रव्य के अन्तर्गत रखा गया है। साथ ही, जैसा कहा ही जा चुका है, धर्म और अधर्म को भी नहीं रखा गया है। उनके स्थान पर जिन नवीन गुणों का समावेश किया गया है उनमें से केवल एक अर्थात् शक्ति के विषय में ही कुछ शब्द कह देना हमारे उद्देश्य की पूर्ति के लिए पर्याप्त होगा। शक्ति का अर्थ है वस्तुओं को विशिष्ट करने वाली कारणभूत वह सामर्थ्य जिससे सम्पन्न होकर ही वस्तु कार्य को उत्पन्न करती है जैसे अग्नि की दाहक शक्ति। उसका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है, परन्तु उससे जो कार्य उत्पन्न होते हैं उनसे उसके अस्तित्व का अनुमान लगाया जा सकता है। न्याय-वैशेषिक जैसे तन्त्रों में इस शक्ति का स्वयं उस वस्तु से तादात्म्य माना जाता है जो उसके कारण रूप में रहती है। परन्तु मीमांसक इसके विरोध में कुछ आपत्तियां प्रस्तुत करता है। उदाहरणतया इस प्रकार के तादाम्य का अर्थ यह होगा कि जहां भी और जब भी वह वस्तु विद्यमान् होगी वहां उसके कार्य (शक्ति) की भी अभिव्यक्ति अथवा उद्भूति अनिवार्यतः होगी। परन्तु अनुभव से यह बात प्रमाणित नहीं ठहरती। उदाहरण स्वरूप यह तय पाया गया हो कि किसी जीवित अङ्गी के द्वारा कोई विशेष द्रव्य आत्मसात कर लिये जाने पर उसका जीवन नष्ट हो जाता है किन्तु यदि अपेक्षित समय के भीतर ही उसे कोई उपयुक्त प्रतिविष दे दिया जाता है तो ऐसा कहा जाता है कि शरीर में विष के विद्यमान रहने पर भी उसकी मृत्यु रुक सकती है। इससे यह प्रकट होता है कि विचाराधीन द्रव्य और उसकी नाशक शक्ति में तादात्म्य नहीं है। इस मत के विरोधी इस प्रकार की आपत्तियों का निराकरण निम्न प्रकार से करते हैं। वे कहते हैं कि कारणभूत-तत्वक (द्रव्य) के जरा से भी व्यापार के सम्भव होने के लिए प्रतिबन्ध (बाधक) शक्तियों, जैसे उपर्युक्त उदाहरण में प्रतिविष, के अभाव का होना एक अनिवार्य शर्त है। अतएव उनके अनुसार यह कहना कि कारण स्वयं व्यापार शील होता है अथवा यह

कि भावात्मक और अभावात्मक दोनों ही प्रकार की समस्त शर्तों की पूर्ति के पूर्व ही उसमें व्यापार होता है, ठीक नहीं है।

शेष तीन पदार्थों के सम्बन्ध में न्यायवैशेषिक के परिच्छेद में जो कुछ कहा जा चुका है उसमें कुछ अधिक जोड़ने को नहीं है। केवल हम यह कह सकते हैं कि कुमारिल ने सामान्य की जो भावना की है वह दो प्रकार की है। या तो सामान्य दो या अधिक वस्तुओं में पायी जाने वाली समानता को कहते हैं; अथवा किसी परिवर्तित होती हुई वस्तु की दो या अधिक अवस्थाओं में स्थिर रूप से रहने वाले तत्व को। इन दोनों प्रकार के सामान्यों में यह अन्तर है कि एक में तो विशिष्ट-वाचक-तत्व, उदाहरण के लिए "गोत्व" ही को ले लीजिए, यद्यपि द्रव्य अर्थात् गयों की व्यक्तियां भिन्न भिन्न हैं। और दूसरे में यद्यपि स्थिर रहने वाला सत् तत्व वही है तथापि विशिष्टताएँ (गुण) भिन्न-भिन्न हैं, जैसे वृक्ष के उदारहण में जो कि बढ़ने के समय कितनी ही अवस्थाओं से होकर गुजरता है। यहां हमें मूर्त और अमूर्त सामान्यों का द्विविध मत देखने को मिलता है। जैन मत पर विचार करते समय हमने इस ओर ध्यान आकर्षित किया था। न्याय वैशेषिक प्रस्तुत तन्त्र की भांति नहीं है और वह वस्तुओं के क्रियात्मक मत को ग्रहण करने को तैयार नहीं है। अतएव उसमें स्वभावतः केवल पहले प्रकार के सामान्य को ही अङ्गीकार किया गया है न कि दूसरे (बाद वाले) प्रकार के सामान्य को।

सारांश में इस तन्त्र में वस्तु की जो भावना की गई है वह एकानेक की है। अर्थात् वस्तु एक ही रहती है यद्यपि उसके अनेक स्वरूप होते हैं जो भिन्न भिन्न हो सकते हैं। न्याय-वैशेषिक की भांति वस्तुओं के गुणों अथवा स्वरूपों को और स्वयं वस्तुओं को एक दूसरे से नितान्त भिन्न और पृथक कहना एक विशुद्ध अमूर्त कल्पना की उड़ान मात्र होगी। ये गुण अथवा स्वरूप एक दूसरे के सहवर्ती

हो सकते हैं अथवा काल-क्रम से एक दूसरे के बाद आ सकते हैं। वृक्ष में उसका वर्ण, आकार, आदि सब एक ही काल में होते हैं, परन्तु वृद्धि क्रम में वह कितनी ही अवस्थाओं से गुजर भी चुका होता है और किसी समय एक अंकुर और नन्हा सा पौदा भी रहा होता है। चाहे गुण पहले प्रकार के हों अथवा दूसरे, द्रव्य से उनका जो सम्बन्ध होता है वह भेदाभेद है। फिर, जब एक ही वस्तु दो या अधिक गुणों से विशिष्ट रहती है, उदाहरण के लिये गाय की श्वेतता और गोत्व को ही ले लीजिये, तो उनमें इस दृष्टि से तो तादात्म्य है कि वे गाय से अभिन्न है, परन्तु गुण और सामान्य के रूप में वे एक दूसरे से भिन्न हैं अर्थात् उनमें तत्वतः एकत्व है और गुणों के रूप में बहुत्व। वे एक और भिन्न भिन्न दोनों ही हैं किन्तु यह विभिन्न दृष्टिकोणों के कारण है। इस प्रकार किसी वस्तु को एकानेक स्वरूप वाला कहना उसकी विशिष्टता का केवल भावात्मक रूप से वर्णन करना है। प्रत्येक वस्तु का एक निषेधात्मक रूप भी होता है। जिससे कि हम दूसरी वस्तुओं से उसका अन्तर स्पष्ट कर सकते हैं। भावात्मक विशिष्टताओं के रूप में गुलाब में उसका वर्ण, सुगन्धि आदि हो सकते हैं परन्तु उसी समय वह कमल से भिन्न भी होता है। प्रस्तुत तन्त्र का मत है कि जब तक हम इन दोनों प्रकारों से किसी वस्तु को ग्रहण नहीं करते तब तक यह नहीं कहा जा सकता कि हमें उसका पूर्ण ज्ञान है। वस्तु होने के लिये उसका एक निश्चित स्वरूप होना चाहिये और भावात्मक वर्णन ही उसकी व्याख्या करने में पर्याप्त नहीं है, क्योंकि कोई वस्तु ठीक उसी रूप में वस्तुतः उसी प्रकार जानी जा सकती है जो वह नहीं है। कुमारिल की इस उक्ति का कि "समस्त वस्तुएँ स्वरूप से सत हैं, किन्तु पर रूप से असत् (सदसदात्मक)" यही अर्थ है।

न्याय-वैशेषिक की भांति मीमांसा प्रतिनिध्यात्मक प्रत्यक्ष के सिद्धान्त (Theory of representative perception) का

निराकरण करती है। प्रत्यक्ष अनुमान और शब्द को लेकर इसमें कुल छः प्रमाणों को स्वीकार किया गया है। जिस प्रकार से कि प्रस्तुत मत में माना गया है, उसे दृष्टि में रखकर हम पहले सामान्य रूप से तो शब्द प्रमाण के और विशेष रूप से 'शास्त्र वेद) प्रमाण' के कुछ प्रमुख लक्षणों पर विचार करेंगे। इसके बाद में जिन नवीन प्रमाणों को इसमें स्वीकार किया गया है उनके स्वरूप की विवेचना की जायगी। यह तो हम कह ही चुके हैं कि न्याय-वैशेषिक में जिस प्रत्यक्ष को अलौकिक प्रत्यक्ष की संज्ञा दी गई है उसे मीमांसक स्वीकार नहीं करते हैं।

एक पिछले परिच्छेद में हमने ज्ञान के स्वरूप के सम्बन्ध में एक विवाद का उल्लेख किया था। भारतीय दर्शन शास्त्र के समस्त विवाद ग्रस्त ग्रन्थों में इसने बहुत अधिक स्थान ले रखा है। संक्षेप में यह विवाद इस प्रश्न पर है कि ज्ञान का प्रामाण्य अथवा अप्रामाण्य स्वतः होता है अथवा नहीं। भारतीय विचारकों में इन दोनों ही मतों के अवलम्बी मिलते हैं। इस प्रकार न्याय-वैशेषिक मतानुयायी यह प्रतिपादित करते हैं कि ज्ञान के प्रामाण्य अथवा अप्रामाण्य का निर्णय केवल परतः ही हो सकता है और स्वतः वह उन दोनों में से किसी को प्रतिष्ठापित नहीं करता। यहाँ हम पुनः उसी उदाहरण को दे रहे हैं जिसको पहले भी उपस्थित किया जा चुका है। उसके अनुसार जब हमारे ध्यान में यह आता है कि हम अपने सम्मुख जल का प्रत्यक्ष कर रहे हैं तो वहाँ वस्तुतः जल है या नहीं यह मालूम करने का एकमात्र उपाय किसी अन्य अनुभव का आश्रय लेना है। उदाहरण स्वरूप यदि उससे हमारी प्यास बुझ जाती है तो हम इस निर्णय पर पहुँच सकते हैं कि हमारा ज्ञान यथार्थ है। सामान्य शब्दों में ज्ञान के परिणाम स्वरूप प्राप्त होने वाली प्रवृत्ति की चरितार्थता ही उसके प्रामाण्य (यथार्थता) को निश्चित करती है। यहाँ स्वभावतः एक महत्वपूर्ण आपत्ति उठाई जा सकती है।

वह यह है कि यदि ज्ञान के प्रामाण्य को सिद्ध करने का तरीका ऐसा है तो उसकी प्रामाणिकता अन्ततः कभी स्थापित ही नहीं की जा सकती क्योंकि जिस ज्ञान से उसकी प्रामाणिकता सिद्ध की जायगी उसको स्वयं प्रमाणीकरण की आवश्यकता होगी। न्यायवैशेषिक में इस आक्षेप का यह उत्तर दिया गया है कि यद्यपि ठीक ठीक कहा जाय तो संवादि प्रवृत्ति (सफल प्रयत्न) के द्वारा ज्ञान के प्रमाणीकरण का यह तरीका एक अनन्त व्यापार हो जायगा, तथापि व्यवहार में अधिक से अधिक इस प्रकार के एक या दो परीक्षण पर्याप्त होंगे और नित्य प्रति के अनुभव के विषय में तो प्रायः किसी भी परीक्षण की आवश्यकता न होगी। यह उत्तर केवल शुद्ध व्यावहारिक दृष्टिकोण पर आश्रित है, इस कारण तर्क की दृष्टि से इसे शायद ही संतोषजनक कहा जा सके। इस मत के अनुयायी इस परीक्षण से जिस आसानी से संतुष्ट हो जाते हैं उससे यही प्रतीत होता है कि वे ज्ञान के स्वतः प्रामाण्य के मत को मौनरूप से अङ्गीकार कर लेते हैं।

बौद्धों का यह विचार है कि ज्ञान के सम्बन्ध में यही सम्भावना है कि वह मिथ्या है और जब तक उसकी प्रामाणिकता का कोई संतोष जनक प्रमाण नहीं मिलता तब तक हम उसे यथार्थ नहीं मान सकते। इस अतिसशयवादी मत से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनमें से जो वस्तुवादी हैं वे भी सामान्य अनुभव में आने वाले और इतने दार्शनिकों द्वारा स्वीकृत तत्वों को भी सत् मानने से क्यों इन्कार करते हैं। मीमांसकों का मत इसके ठीक विपरीत है; अर्थात् यह कि ज्ञान अपने स्वभाव के कारण ही यथार्थ होता है। उसके अस्तित्व में आने का एकमात्र उद्देश्य यह है कि हम विषयों से परिचित हो सकें अतएव उसके प्रामाण्य को सन्देह की दृष्टि से देखना उसके अस्तित्व के उद्देश्य पर ही सन्देह करना होगा। निस्सन्देह ज्ञान प्रायः सत्य से च्युत हो जाता है परन्तु इसका कारण सदा ही किसी बाहर से होने वाले

विक्षेप में पाया जाता है न कि स्वयं ज्ञान में ही। यह विक्षेप ज्ञान के साधनों अथवा ज्ञान की प्राप्ति के लिए आवश्यक शर्तों के (जैसे कि इन्द्रियां, पर्याप्त प्रकाश की विद्यमानता आदि) किसी दोष के कारण हो सकता है। जब हमें इस प्रकार के किसी विक्षेप की आशंका होती है तभी हम ज्ञान विशेष की प्रामाणिकता के विषय में सन्देह करने लगते हैं तथा उसका प्रमाणीकरण करते हैं। इस विषय में जिस दूसरी परिस्थिति में सन्देह का उदय होता है वह तब देखने को मिलती है जब यह पता चलता है कि अब तक यथार्थ रूप में स्वीकृत ज्ञान का किसी दूसरे ज्ञान से संघर्ष है। तब हम यह मालूम करने का प्रयत्न करते हैं कि उनमें वस्तुतः यथार्थ कौन-सा है। ये दोनों अर्थात् (१) ज्ञान के साधनों अथवा शर्तों के प्रति अथवा (उसी को अधिक सामान्य शब्दों में इस प्रकार कहेंगे) उसके (ज्ञान के) उगद्म के प्रति दोष की आशंका और (२) अन्य ज्ञान के द्वारा उसका निषेध संशय उत्पन्न करते हैं और परीक्षण की आवश्यकता का संकेत करते हैं। इन दोनों में से किसी एक कारण के अभाव में भी ज्ञान को सत्य माना जाता है। यहाँ हमारे देखने में यह आता है कि मीमांसक न्याय-वैशेषिक मतावलम्बियों की अपेक्षा वस्तुवादी पक्ष का समर्थन अधिक स्पष्ट रूप से करते हैं क्योंकि उनका मत यह है कि समस्त ज्ञान का समान रूप से प्रमाणीकरण आवश्यक है और इस प्रकार वे अपने वस्तुवादी मत से बहुत हद तक समझौता कर लेते हैं।

इस विवाद का प्रमुख सम्बन्ध वेद-प्रामाण्य से है और न्याय तथा मीमांसा में इसकी जो भावनाएँ कीं गयी हैं उनमें मौलिक मतभेद है। नैयायिक वेद के द्वारा प्राप्त ज्ञान को स्वतः न तो यथार्थ मानते हैं और न अयथार्थ और यदि वे उसे तब भी नितान्त प्रामाणिक मानते हैं तो वह इस कारण कि सर्वज्ञ और कृपा-सिन्धु ईश्वर वेदों का रचयिता है।

यह ज्ञान के परतः प्रामाण्यवाद के सिद्धान्त के अनुरूप ही है। दूसरे शब्दों में स्वयं वेद में ऐसी कोई बात नहीं है जो हमें उसकी शिक्षा की यथार्थता के विषय में सन्देह करने से रोक सके। समस्त शब्द प्रमाण वस्तुतः सभी प्रमाणों, के लिए यह आवश्यक है कि स्वीकार करने के पूर्व उनको उचित रूप से प्रमाणित कर लिया जाय, भले ही हम व्यवहार में सदा ही ऐसे प्रमाणों का आश्रय न लें। ईश्वर पूर्ण रूपेण ज्ञानवान और कल्याणकारी दोनों ही है और वेद उससे निकला है, इस कारण वह अनिवार्य रूप से प्रामाणिक है। कुमारिल ईश्वर को स्वीकार नहीं करते हैं, किन्तु उनके अनुसार भी वेद प्रामाणिक हैं, केवल इस कारण कि ज्ञान-स्वरूप होने से उसमें प्रामाणिकता स्वभावतः ही निहित है। निस्सन्देह भ्रम जैसी वस्तु का अस्तित्व भी है, परन्तु प्रस्तुत उदाहरण में उसकी आशंका करने के जो दो कारण होते हैं वे दोनों ही यहाँ नहीं पाये जाते। पहले तो उसके मूल में विकृति की कोई सम्भावना ही नहीं है क्योंकि मीमांसा के अनुसार वेद लौकिक अथवा अलौकिक किसी भी व्यक्ति की कृति नहीं है और इसलिए उसका कोई मूल ही नहीं है। न इस बात की कोई सम्भावना है कि उसकी शिक्षा से हमारा अनुभव मेल न खाये क्योंकि यह माना ही जा चुका है कि वह एकान्ततः अतीन्द्रिय विषयों का ही उल्लेख करता है। अर्थात् वेद को इस रूप में कि वह केवल सत्य का प्रतिपादन करता है इस कारण ग्रहण किया जाता है कि वह स्वतः सत् है और उसकी शिक्षा का क्षेत्र बस केवल उन्हीं विषयों तक सीमित है जो सामान्य मानवी अनुभवों के परे हैं। इस बाद वाली दृष्टि से उन्होंने (कुमारिल ने) 'प्रमा' (यथार्थ ज्ञान) की जो परिभाषा की है वह उसके अनुकूल है। इस परिभाषा में, जैसा कि हम शीघ्र ही देखेगें, 'प्रमा' के लिए इस शर्त का और समावेश कर दिया गया है कि उसे नवीन (अज्ञात तत्व विषयक) होना चाहिए।

इस मत का परिणाम यह हुआ कि वेद दो भागों में विभाजित हो गया। उनमें से एक अर्थात 'विधि' में पारलौकिक विषयों का उल्लेख

किया जाता है और हमें उसके शाब्दिक अर्थ को ग्रहण करना चाहिये। दूसरा अर्थात् अर्थवाद स्थूल रूप से साधारण अनुभव के विषयों से सम्बन्धित होता है। यथार्थ में अर्थवाद के साथ कोई तर्क सम्मत महत्त्व नहीं संयुक्त है, क्योंकि उसका कार्य केवल ऐसी बातों की पुनरुक्ति करना है जिन्हें किसी दूसरे रूप में हम पहले ही से जानते हों; जैसे कि उदाहरण के लिए यह कहा जा सकता है कि गरमी ठण्डक को नष्ट कर देती है।' जब सामान्य मानवीय अनुभव से वेद के इस भाग की उक्तियों का विरोध उपस्थित होता है तो, यहाँ यह ठीक ही कहा गया है कि, अनुभव को अधिक महत्त्व दिया जाना चाहिए। वेद असत्य और असङ्गत बातों को प्रकाशित नहीं करता है इस कारण ऐसी उक्तियों को त्याग नहीं दिया जाता है, बल्कि उदारता पूर्वक उनकी व्याख्या की जाती है। इसके अतिरिक्त विचाराधीन प्रकरण के प्रसङ्ग में वर्णित किसी अतीन्द्रिय विषय से उनका सम्बन्ध स्थापित कर दिया जाता है। सामान्यता उनका प्रयोजन पुण्य कर्मों के गुणों का गान करके मनुष्य को उन्हें करने के लिए प्रेरित करना और पाप कर्मों को करने से डराना है। उदाहरणतया यूप (यज्ञ स्तम्भ) ही सूर्य है" यह वेद की एक ऋचा है। स्पष्ट विरोध होने के कारण यूप और सूर्य में जो तादात्म्य यहाँ स्थापित किया गया है, उसको स्पष्ट करते हुए कहा जाता है कि वह केवल यूप की प्रशंसा करने के लिए कहा गया है और इसका उद्देश्य यह है जिस यज्ञ में (यूप का) उपयोग होता है उसकी प्रशंसा के द्वारा मनुष्य को उसको करने के लिए प्रेरित किया जाय। दूसरे शब्दों में वेद में जो परस्पर विरोधी वाक्य मिलते हैं उनमें केवल ऊपरी विरोध है और जिस क्षण हम उनकी यथार्थ व्याख्या करते हैं उनका विरोधी प्रतीत होना समाप्त हो जाता है।

वेद के किस अंश का अन्तर्भाव इन दोनों (विधि और अर्थवाद) भागों में होता है प्रमुख रूप से इसी बात को निश्चित करने के लिए

मीमांसा में व्याख्या करने के नियमों का विधान किया गया है। इन नियमों का महत्व केवल उन्हीं लोगों के लिए अत्यधिक नहीं है जो वेद को ठीक-ठीक समझना चाहते हैं, वरन उन सबों के लिए भी है जो कि स्मृत्यादि धर्म संहिताओं जैसे नियत स्वरूप मूल ग्रन्थों के यथार्थ तात्पर्य का पता लगाने के कार्य में रत हैं। मीमांसा का यह व्याख्यात्मक स्वरूप अथवा, जैसा कि हम उसे कह सकते हैं, भाषा के तर्क शास्त्र को वर्णन करने का ढङ्ग उतना ही महत्वपूर्ण है जितना कि उसके कर्म काण्ड सम्बन्धी और दार्शनिक स्वरूप का जिसका उल्लेख किया ही जा चुका है। इन नियमों के अनुसार श्रुति का जो प्रयोजन बताया जाता है वह वही है जो बहुत समय से भारतीय दार्शनिकों द्वारा स्वीकृत चला आया है। यह प्रयोजन जीवन के दो परम पुरुषार्थों धर्म और मोक्ष का ज्ञान प्राप्त कराना है। इस समय हम जिस तन्त्र पर विचार कर रहे हैं उसका सम्बन्ध प्रमुखरूप से धर्म से है।

इस प्रकार वेदविषयक मीमांसा मत के प्रमुख लक्षण ये हैं कि (१) वह स्वतः सत् अथवा नित्य है, (२) उसका सम्बन्ध तत्त्वतः अतीन्द्रिय विषयों से है और (३) उसमें ऐसे अंशों का समावेश है जिनकी व्याख्या शाब्दिक न की जाकर उदारतापूर्वक की जानी आवश्यक है। इस चातुर्य पूर्ण मत का मण्डन करने के लिए युक्तियों की एक लम्बी तालिका उपस्थिति की गयी है। यहाँ उनका वर्णन करना आवश्यक नहीं है। यहां तो इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि उनमें शास्त्रार्थ पूर्ण सूक्ष्मताओं का काफी विस्तृत रूप से समावेश है और सम्पूर्ण रूप में वे हमें जिस निर्णय पर पहुँचाते हैं वे आधुनिक मस्तिष्क में विश्वास उत्पन्न करने से कही दूर हैं।

अब हम उन तीन नवीन प्रमाणों के स्वरूप की विवेचना करेंगे जिन्हें कुमारिल ने स्वीकार किया है :—

(१) उपमान :— यह तो स्मरण ही होगा कि न्याय में भी इस प्रमाण को स्वीकार किया गया है, किन्तु उस मत पर विचार करते समय

हमने इसको नहीं समझाया था क्योंकि वहां इसकी जो भावना की गई थी तर्कशास्त्र की दृष्टि से उसका कोई अधिक महत्त्व नहीं है। यहाँ इसकी जो भावना की गई है वह उससे भिन्न है। जिस वस्तु का सन्निकर्ष इन्द्रियों से न हुआ हो ऐसी वस्तु में उस वस्तु का सादृश्य-ज्ञान होना जो कि वस्तुतः प्रत्यक्षभूत हो, उपमान कहलाता है। इस प्रकार जब कोई व्यक्ति किसी गवय को देखता है और गो से (जिससे कि वह भलीभाँति परिचित रहता है) उसके सादृश्य का विचार उसके मस्तिष्क में उठता है तो वह इससे इस निर्णय पर पहुँचने में समर्थ होता है कि गो भी गवय के सदृश होती है। इस मत में यह माना जाता है कि इन दोनों उदाहरणों में जो सादृश्य है वह संख्यातः भिन्न भिन्न है। अर्थात् इसमें यह मान लिया गया है कि यदि अ, ब के सदृश है तो अ और ब का सादृश्य तादात्म्य रूपेण वही नहीं है जो कि ब और अ का सादृश्य। यह प्रमाण प्रत्यक्ष नहीं है क्योंकि गो जिसमें कि गवय से सादृश्य पाया जाता है के निर्णय पर पहुँचने के समय गवय प्रत्यक्ष भूत नहीं रहती है। यह अनुमान भी नहीं है क्योंकि यदि यह अनुमान होता तो इसका अर्थ यह होता कि जिन दो सादृश्यों का उल्लेख किया गया है उनमें से एक दूसरे का लिङ्ग होता। परन्तु उन दोनों में से एक भी इस प्रयोजन की सिद्धि नहीं कर सकता है क्योंकि गवय का गो से जो सादृश्य है वह, जैसा कि लिङ्ग को होना चाहिये, गो में, जो कि पक्ष (अर्थात् प्रतिज्ञा अथवा निगमन वाक्य का कर्ता) है, नहीं है; और उस समय तक गो का गवय से जो सादृश्य है उसका ज्ञान प्राप्त करने को शेष रहता है। न वह स्मृति-मात्र ही है। इसका सीधा-सादा कारण यह है कि विचाराधीन सादृश्य को पहले से ही नहीं ग्रहण किया गया है क्योंकि उसे तो हम आधार रूप में मानकर ही चले थे। इतना हम कह सकते हैं कि यद्यपि यह प्रमाण न्याययुक्त (अवयवयुक्त) अनुमान नहीं है तब भी यह बहुत कुछ उस अनुमान

के समान हो जाता है जिसे आधुनिक तर्कशास्त्र में "परस्पर सम्बन्ध के द्वारा होने वाला साक्षात् अनुमान" कहते हैं।

(२) अर्थापत्ति :—इसका तात्पर्य है दो सम्यक-सिद्ध सत्यों के पारस्परिक विरोध के फलस्वरूप किसी नवीन तथ्य का अनुसन्धान अथवा किसी नवीन सत्य की कल्पना करना। एक तुच्छ किन्तु विशिष्ट उदाहरण ही ले लीजिये। यदि हमें यह निश्चित् रूप से पता है कि 'अ' जीवित है किन्तु अपने घर में नहीं है तो हम इस निर्णय पर पहुँचते है कि वह और कहीं है। दो सम्यक्-परीक्षित तथ्यों में प्रकट रूप से दिखाई देने वाली असंगति का कारण बतलाने के लिये उपर्युक्त पूर्वानुमान (Hypothesis) का निर्माण करना ही इसका वास्तविक अर्थ है। यह तो नितान्त स्पष्ट है कि हम इस प्रकार जिस निर्णय पर पहुँचते हैं वह यथार्थ होता है। उदाहरणतया मीमांसकों का यह विश्वास कि मृत्यु के बाद भी आत्मा का अस्तित्व रहता है इसी प्रमाण पर आश्रित है। वेद में इस बात का विश्वास दिलाया गया है कि विभिन्न यज्ञों को करने से अभीष्ट फलों की प्राप्ति होती है, किन्तु प्रायः यह कहा जाता है कि उन फलों की उपलब्धि यज्ञों की समाप्ति के बाद एकदम नहीं बल्कि भविष्य में होने वाले किसी जन्म में होती है। कर्म-सिद्धान्त के अनुसार सत् अथवा असत् कर्मों के फलों का उपभोक्ता उनको करने वाले व्यक्ति के अतिरिक्त कोई अन्य नहीं होता है, इसीलिये मीमांसक इस निर्णय पर पहुँचते है कि शरीर के नष्ट होने पर भी आत्मा का अस्तित्व रहता है। कतिपय भारतीय तर्कशास्त्री, जैसे कि नैयायिक, इस प्रमाण को आधुनिक शब्दावली में "वैकल्पिक तर्क" के नाम से प्रख्यात प्रमाण के अन्तर्गत रखते हैं। उनके अनुसार "एक जीवित व्यक्ति या तो घर में होगा अथवा उसके बाहर"—इस वैकल्पिक प्रतिज्ञा से हम उसका निगमन कर सकते हैं क्योंकि उसमें किसी तीसरे विकल्प की सम्भावना ही नहीं है।

(३) अनुपलब्धि :—अब तक हमने जिन पाँच प्रमाणों का उल्लेख किया है वे भाव-पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करने के साधन है। कहा जाता है कि किसी वस्तु अथवा उसके किसी स्वरूप के सम्बन्ध में उनमें से किसी एक प्रमाण का अभाव इस निर्णय को नितान्त औचित्य पूर्ण ठहराता है कि उस वस्तु अथवा उसके उस स्वरूप का कोई अस्तित्व नहीं है। हाँ, इसके लिए एक आवश्यक शर्त यह है कि वह केवल विचारार्धन प्रमाण के द्वारा ही ग्राह्य हो और उसको ग्रहण करने के लिये जिन शर्तों का होना आवश्यक है, यथा चाक्षुष प्रत्यक्ष के लिये पर्याप्त प्रकाश, उनकी संतोषजनक रूप से पूर्ति हो गई हो। किसी दृश्य वस्तु, की, जैसे कि एक छाते को ही ले लीजिये, किसी विशेष कमरे में पाये जाने की प्रत्येक सम्भावना है। उसको देखने के लिये अपेक्षित सभी शर्तों की पूर्ति भी हो गई है, किन्तु वह तब भी यदि वहाँ दिखाई नहीं देता, तो हम, जैसा कि वस्तुतः होता ही है इस निर्णय पर पहुँच सकते हैं कि छाता वहाँ नहीं है। अतएव जब पाँचों प्रमाण किसी वस्तु का ज्ञान प्राप्त कराने में असफल रहते हैं (यद्यपि यह पता लगाना कि ऐसा कब होता है सरलता से कोसों दूर है) तो कुमारिल के मत से इस बात का अनुमान किया जा सकता है कि उसका अत्यन्ताभाव है। अभाव कहलाने वाले पदार्थ का ज्ञान प्राप्त करने के लिये एक पृथक् प्रमाण के रूप में अनुपलब्धि का यही महत्व है।

स्मरण होगा कि न्याय-वैशेषिक का अभिप्रेत मत यह है कि जिस वस्तु का प्रत्यक्ष सम्भव है उसके अभाव का ज्ञान प्रत्यक्ष के द्वारा होता है और अन्य दूसरी वस्तुओं का अनुमान के द्वारा। सम्मुख उपस्थित होने पर जिस नेत्रेन्द्रिय से छाते के स्वरूप का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है उसी के द्वारा वस्तु के अविद्यमान होने पर हमें उसके अभाव का ज्ञान प्राप्त होता है। हाँ यह मान लिया गया होना चाहिये कि वस्तु की विद्यमानता के अतिरिक्त समस्त अपेक्षित शर्तों की पूर्ति हो गई है।

कुमारिल के अनुसार यह मत ठीक नहीं है क्योंकि यह सोचना कि किसी ज्ञानेन्द्रिय का वस्तु के अभाव से सन्निकर्ष हो सकता है असम्भव है और यह सन्निकर्ष प्रत्यक्ष के लिये एक अनिवार्य शर्त मानी गई है। अभाव का प्रत्यक्ष ही कल्पनातीत है। अतएव हम अनिवार्य रूपेण इसी परिणाम पर पहुँचते हैं कि उसके (अभाव के) अनुमेय होने की कोई सम्भावना ही नहीं है। इसका कारण यह है कि अन्ततः अनुमान प्रत्यक्ष पर ही तो आश्रित रहता है। अस्तु, यह युक्ति प्रस्तुत की जाती है कि एक छठे प्रमाण (अनुपलब्धि) को मानने की आवश्यकता है।

यहां हम मीमांसा के दोनों सम्प्रदायों के एक महत्वपूर्ण मतभेद की ओर संकेत करेंगे। इस प्रमाण को स्वीकार करने का अर्थ है 'अभाव' को एक पृथक पदार्थ के रूप में स्वीकार करना। परन्तु प्रभाकर प्रत्येक अभाव की विवेचना भावात्मक रूप में करते हैं। इस प्रकार वे मेज को इस प्रकार निरूपित करते हैं कि उसका (उदाहरणार्थ) कुर्सी से "अन्योन्याभाव है और जिस काठ से वह निर्मित हुआ है उसमें उसका "प्रागभाव" है। इसी से वे अनुपलब्धि का निराकरण करते हैं और केवल शेष पांच प्रमाणों को स्वीकार करते हैं। परिणाम स्वरूप कुमारिल द्वारा ग्रहण किये हुये पांच पदार्थों में से वे केवल चार को ही स्वीकार करते हैं। उन्होंने उनमें चार पदार्थों को और जोड़ दिया है और इस प्रकार कुल आठ पदार्थ हो गये हैं। उनमें से एक है समवाय का एक पदीय सम्बन्ध और यहां उसकी कल्पना बहुत कुछ न्याय वैशेषिक की कल्पना के समान ही की गई है। इतना कहने के अतिरिक्त उनमें अन्य किसी का उल्लेख करना आवश्यक नहीं है। समवाय को स्वीकार करने का तात्पर्य यह है कि प्रभाकर द्रव्य और गुण तथा अवयव और अवयवी को नितान्त भिन्न मानते हैं और कुमारिल की भांति उनमें भेदाभेद सम्बन्ध का प्रतिपादन नहीं करते हैं। फलस्वरूप उनका मत न्याय-वैशेषिक की भांति तत्त्वतः बहुत्ववादी हो गया है।

अब तक हमने प्रमा (यथार्थ ज्ञान) का वर्णन किया है। परन्तु समस्त ज्ञान यथार्थ नहीं होता है, इस कारण अब हम इस बात का निर्देश करेंगे कि मीमांसक भ्रम को किस प्रकार समझाते हैं। परन्तु इसके पूर्व संक्षेपतः यह कह देना वांछनीय है कि कुमारिल ने सत्य की क्या परिभाषा दी है। उनके अनुसार ज्ञान को यथार्थ होने के लिये न केवल, जैसा कि न्याय वैशेषिक में है, दी हुई (सत्) वस्तु के अनुरूप होना चाहिये अपितु उसमें नवीनता के तत्व का भी समावेश होना चाहिये। अर्थात् उसे अनुसन्धानात्मक होना चाहिये और उसका तात्पर्य यह होना चाहिये हमें किसी अज्ञात पूर्व विषय का ज्ञान हो और इस प्रकार हमारे ज्ञान में एक नवीन अभिवृद्धि हो। यह एक ऐसा विषय है कि वेद की शिक्षा से उसका क्या सम्बन्ध है इस बात का उल्लेख हम एक से अधिक बार कर चुके हैं। सत्य की इस प्रकार व्याख्या करने का परिणाम यह हुआ कि ज्ञात-पूर्व विषयों का संकेत करने वाले समस्त ज्ञान का व्यवच्छेद प्रमा की श्रेणी से कर दिया गया। ज्ञात पूर्व ज्ञान में स्मृति का भी समावेश है क्योंकि उसमें भी पूर्व अनुभव को स्वीकार किया जाता है। हाँ, इसका अर्थ यह नहीं है कि इस प्रकार का ज्ञान किसी काम का नहीं है अथवा उसका विषय ही मिथ्या है, बल्कि यह है कि इस तन्त्र में प्रमाण शास्त्र की दृष्टि से उसे कोई विशेष महत्व नहीं दिया जाता।

कुमारिल ने भ्रम की जो व्याख्या की है वह वही है जो न्याय-वैशेषिक के परिच्छेद में वर्णित है। वे यह मानते हैं कि भ्रम में ज्ञान सत् से अंशतः भ्रष्ट हो जाता है और उस अंश तक वह उसका अन्यथा निरूपण करता है (अन्यथा ख्याति)। यहाँ जो यह स्वीकार किया गया है कि ज्ञान का उदय बिना किसी अधिष्ठानभूत सत् वस्तु के भी हो सकता है (जब कि वह वस्तु एक स्वरूप-गुण अथवा सम्बन्ध के अतिरिक्त और कुछ नहीं है) वह वस्तुवादी दृष्टिकोण से बहुत संतोष-

जनक नहीं है। इसका कारण यह है कि वह सम्पूर्ण रूप ज्ञान की प्रामाणिकता के विषय में सन्देह उत्पन्न कर देता है। उस दशा में मनुष्य को यह कभी नहीं पता चलता कि वह कब सत् वस्तु का निर्देश करता है और कब नहीं। इस अशोभन स्थिति से बचने के लिये प्रभाकर ने भ्रम की एक अपूर्व रूप से व्याख्या की है। इसका अन्तिम मूल्य क्या है इस विषय में चाहे जो कहा जाय, परन्तु वह ज्ञान को इस प्रकार के सन्देह से तो बचा ही लेती है। उन्होंने कुमारिल के भ्रम-विषयक भावात्मक मत के स्थान में एक अभावात्मक मत को प्रतिष्ठापित कर दिया है अर्थात् भ्रम की व्याख्या करते हुये उन्होंने उसे अख्याति कहा है न कि अन्यथाख्याति।

प्रभाकर सम्प्रदाय का पक्ष संक्षेपतः निम्नलिखित है :—इसमें यह प्रतिपादित किया जाता है कि हमें ज्ञान के द्वारा उन वस्तुओं की प्रतीति कभी भी नहीं होती जो वस्तुतः इस प्रकार हमारे सम्मुख उपस्थित रहती हैं कि उनका सम्बन्ध हमारी इन्द्रियों से न हो सके। इस पक्ष को समझाने के लिये प्रस्तुत किये जाने वाले उदाहरणों में एक यह है कि पाण्डुरोग से ग्रस्त व्यक्ति को शुक्ति पीत वर्ण की दिखाई देती है। सरलता के लिये हम इसमें जरा सा परिवर्तन कर देते हैं और यह मान लेते हैं कि पाण्डुरोग के रोगी के द्वारा न देखी जाकर पीतवर्ण शीशे की एक चादर में से देखा जा रहा है और किसी न किसी कारण से इस बात का पता नहीं चल रहा है बीच में शीशा भी है। इस मत के अनुसार यहां हमें अपने वास्तविक वर्ण श्वेतवर्ण-से रहित शुक्ति का प्रत्यक्ष और काँच की पीतता मात्र का संवेदन होता है। ये ज्ञान प्राप्त करने के दो व्यापार हैं, परन्तु वे एक दूसरे के बाद बहुत शीघ्रता से होते हैं और इसीलिये हम इस बात को भूल जाते हैं कि वे दो हैं। जहाँ तक उनका सम्बन्ध है अपने में वे दोनों ही यथार्थ हैं क्योंकि बाद में जब हमें अपने भ्रम का पता चलता है तो न तो अपने में पीतता

ही का और न शुक्ति ही का निषेध होता है। परन्तु पहले हम यह न देख सके थे कि वे एक दूसरे से पृथक हैं और बाद में जब हमें अपने भ्रम का पता लगता है तो हम केवल अपने ज्ञान में रहने वाली इस कमी की पूर्ति कर लेते है। इस प्रकार तथाकथित भ्रम का पता चल जाने का अर्थ केवल ज्ञान की अभिवृद्धि में एक पग आगे बढ़ जाना है। यह हमारे पूर्व ज्ञान को पुष्ट ही कर देता है और उसके किसी भाग को मिथ्या कह कर निराकृत नहीं कर देता। अतएव यहाँ भ्रम-संशोधन की बात कहना उसे एक मिथ्या संज्ञा देना होगा। वास्तव में इस मत के अनुसार भ्रम तो होता ही नहीं है क्योंकि उसमें ज्ञान को प्रायः इकाई के अर्थ में लिया जाता है। दूसरे शब्दों में इस मत के अनुसार मन उपस्थित वस्तु के एक अथवा अधिक स्वरूपों का ग्रहण करने मे असमर्थ हो सकता है, परन्तु वह उसे अन्यथा रूप में कभी ग्रहण नहीं करता और इसलिये जितने भी भ्रम होते हैं वे अख्याति (अग्रहण) के भ्रम होते हैं।

भ्रमवश रज्जु रजत सर्प अथवा शुक्ति को रजत समझ लेने का जो उदाहरण है उसको भी इसी प्रकार समझाया गया है, अन्तर केवल इतना है कि उसमें जो दो ज्ञान (रज्जु का और सर्प का अथवा शुक्ति का और रजत का) हैं, वे दोनों प्रत्यक्षभूत नहीं हैं। उनमें से एक तो उपस्थित वस्तु का—उदाहरणार्थ शुक्ति को ले लीजिये—प्रत्यक्ष (ज्ञान) है, किन्तु वह केवल उन लक्षणों से विशिष्ट है जो उसमें (शुक्ति में) और रजत में समान हैं। दूसरा है उन लक्षणों को देखने के फल-स्वरूप उदय होने वाला स्मृति-ज्ञान। परन्तु उस समय यहाँ यह बात ध्यान ही में नहीं आती कि वह स्मृति है। अस्तु, यहां भी इस बात को ध्यान में रखने में हम असमर्थ रहे कि वे दोनों ज्ञान प्रत्यक्ष और स्मृति हैं। पूर्व उदाहरण की भांति ही यहां भी हमारे ज्ञान में रहने वाली इसी कमी की पूर्ति बाद में होती है।

इस मत में किसी भी ज्ञान के प्रमाणीकरण की आवश्यकता नहीं है। समस्त ज्ञान सत्य होता है। वह इस अर्थ में कि उसके द्वारा जो कुछ भी उद्भासित होता है बाद में उसके किसी अंश का भी निषेध नहीं होता है। अतएव यह प्रश्न उठाना कि वह किसी उदाहरण विशेष में सद्रूप वस्तु के अनुरूप है अथवा नहीं उसके स्वरूप के विषय में ही संदेह करना होगा। परन्तु साधारणतः सत्य को भ्रम से भिन्न माना जाता है। अतएव इस भेद का क्या कारण है इसको किसी न किसी प्रकार समझाना आवश्यक है। यह तथा-कथित भ्रम आंशिक ज्ञान हो सकता है, किन्तु हम उसके विषय में इस प्रकार नहीं कह सकते क्योंकि मानव-ज्ञान किसी न किसी अर्थ में सदा ही आंशिक होता है। इसीलिये इसको अन्य प्रकार से समझाया गया है और यह परोक्ष रूप से किया गया है। इस अर्थ में कि ज्ञान उपस्थित वस्तु के सम्पूर्ण लक्षणों को ग्रहण करने में असमर्थ रहता है, यद्यपि वैसे तो समस्त ज्ञान समान रूप से अपूर्ण है, भ्रम को जो अपूर्ण ज्ञान कहा गया है यह व्यावहारिक दृष्टिकोण है। यह अपेक्षतया अपूर्ण है और इसकी सापेक्ष अपूर्णता जिस प्रमाणभूत आदर्श के द्वारा नियत होती है वह मूलगत न होकर ऊपरी होता है क्योंकि वह आदर्श उस ज्ञान से प्रेरित होकर जो प्रवृति होती है उसमें सफलता की प्राप्ति होना ही है। दूसरे शब्दों में जो ज्ञान काम में आता है वह यथार्थ है और जो नहीं वह भ्रम है। जैसा कि न्याय वैशेषिक में है यहाँ ज्ञान की सफलता अथवा असफलता को उसके प्रामाण्य की कसौटी मात्र नहीं माना गया है, बल्कि उसकी सत्यता अथवा मिथ्यात्व को ही उसमें निहित माना जाता है। तब भी यह ध्यान में रखना चाहिये कि इस व्याख्या के आधार पर हम यह नहीं कह सकते कि यह तन्त्र 'आधुनिक व्यावहारिकतावाद' के समान ही है। इसका कारण यह है कि इसमें प्रमाण शास्त्र की दृष्टि से ज्ञान के पूर्ण प्रामाण्य को जहां तक सम्भव हो सका है स्वीकार

किया गया है, किन्तु उसमें ऐसा नहीं है। वास्तव में प्रभाकर का मत एक ऐसे पक्ष का निरूपण करता है जो आधुनिक व्यावहारिकतावाद के बिलकुल विपरीत है क्योंकि उसमें तर्क शास्त्र की दृष्टि से भ्रम पूर्णतया अमाननीय माना गया है। व्यावहारिकतवादी कसौटी को यहां केवल इस प्रयोजन से ग्रहण किया गया है बताया जा सके कि सत्य और मिथ्या में सामान्यतः मान्य अन्तर का कारण है।

तर्क शास्त्र की दृष्टि से ज्ञान का क्या स्वरूप है यह समझाने में इस सिद्धान्त में पूर्ण संगति गयी है। इसके लिये तथा अपनी सरलता के लिये यह सिद्धान्त सर्वथा प्रशंसनीय है। परन्तु जहाँ तक उसके निश्चयात्मक होने का सम्बन्ध है वह उससे कहीं दूर है। उदाहरणार्थ जिस परोक्ष रीति से वह सत्य और मिथ्या इन सुपरिचित शब्दों के अर्थ को स्पष्ट करता है उसे जरा भी सन्तोषजनक नहीं कहा जा सकता। फिर, एक शुद्ध निषेधात्मक व्याख्या इस बात का कोई कारण नहीं प्रस्तुत कर सकती कि भ्रम का क्या कारण है, क्योंकि वह हमारे सामने दो तत्वों को समन्वित रूप में उपस्थित करता है यद्यपि वे दोनों वस्तुतः एक दूसरे से सम्बन्धित नहीं होते। उसमें केवल एक ही मानसिक व्यापार निहित रहता है और फलस्वरूप जिस ज्ञान का उदय होता है वह एक भावात्मक तत्व की ओर संकेत करता है। यह तत्व है उन दोनों का सम्बन्ध जो वस्तुतः दिया नहीं गया होता। अतएव भ्रम केवल वस्तुओं को ग्रहण न कर सकने को ही नहीं कहते हैं वरन् अन्यथा ग्रहण करने को कहते हैं।

(२)

इस मत की शिक्षा के व्यावहारिक पक्ष की जिस सब से महत्वपूर्ण बात पर हमें विचार करना चाहिए वह यह है कि इन दोनों सम्प्रदायों में धर्म की क्या भावना की गयी है। इसमें ईश्वर के अस्तित्व को तो

स्वीकार किया नहीं गया है इसलिए जब यह प्रश्न उठता है कि संसार में अनवरत रूप से होने वाले इतने सारे परिवर्तनों का क्या कारण है इसे समझाने के लिए यदि स्वभाववादी आधार (अर्थात् यह कि जगत् के स्वभाव के कारण ही ये परिवर्तन होते रहते हैं) को नहीं लिया जाता अथवा उन परिवर्तनों को पूर्णतया आकस्मिक नहीं कहा जाता तो हमें कहना ही पड़ेगा कि यह केवल धर्म और उसके विरोधी अधर्म के व्यापार के कारण ही है। इसी कारण धर्म का महत्व यहां अत्यधिक बढ़ गया है। सामान्यतः जिस अर्थ में धर्म को यहां लिया जाता हैं उसके अनुसार धर्म शब्द का प्रयोग याज्ञिक वैदिक कर्म काण्ड या धार्मिक कृत्यों के लिए होता है। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि यहां धर्म से नैतिक आचार का व्यवच्छेद नहीं कर दिया गया है क्योंकि यज्ञों के सम्पादन के सफल होने के लिए नैतिक पवित्रता एक आवश्यक शर्त मानी गयी है। जैसा कि हम पहले ही कह चुके हैं वेद दुराचारियों को पवित्र नहीं करते हैं। इस प्रकार धर्म सदाचार से अधिक हो सकता है कम नहीं। न हमें यह सोचना चाहिए कि ये याज्ञिक कृत्य असामाजिक अथवा बिलकुल व्यक्तिवादी हैं, यद्यपि उनमें से बहुतों का उद्देश्य मूलतः यह है कि कर्ता को इहलोक में अथवा परलोक में किसी इष्ट की उपलब्धि हो सके। इसका कारण यह है कि उनमें, जैसा कि पूर्व परिच्छेद में पञ्च महायज्ञों का उदाहरण देकर निर्दिष्ट किया जा चुका है, ऐसे अन्य यज्ञों का समावेश है जिनका उद्देश्य अतिथियों के सत्कार करने के समान महत्वपूर्ण सदाचरणों का पालन करना है। परन्तु धर्म के फल के विषय में यह मत है कि वह साक्षात् रूप से न मिलकर परोक्ष रूप से मिलता है। इसका कारण यह है कि धर्म जिन याज्ञिक क्रियाओं की ओर संकेत करता है वे स्पष्टतः क्षणिक हैं और इसलिए तत्काल ही उत्पन्न न होने वाले अपने फलों से उनका कोई कार्य-कारण सम्बन्ध नहीं होता है। अस्तु, यह मान लिया गया है कि इन कर्मों से किसी अदृष्ट कार्य अथवा अपूर्व शक्ति का उदय होता है और जब तक

फल का उपभोग नहीं कर लिया जाता तब तक वह विद्यमान् रहती है। हिंसादिक जैसे अधर्म अथवा प्रतिषिद्ध कर्मों के सम्बन्ध में भी ऐसे ही किन्तु अवांछनीय प्रकार के कार्य की कल्पना की गयी है। सत् एवं असत् कर्मों के बीच सम्बन्ध स्थापित करने वाले इन अदृष्ट कार्यों और क्रम से सुख और दुःख रूप उनके फलों के विषय में यह माना जाता है कि वे आत्मा में तब तक निवास करते हैं जब तक उनके फलों का उदय नहीं होता है।

कुमारिल और प्रभाकर दोनों ही दार्शनिकों में इस विषय में मतैक्य है कि वेद और केवल वेद ही यह निश्चित करता है कि धर्म क्या है। हाँ, उसके यथार्थ स्वरूप के विषय में उनके जो मत हैं वे परस्पर भिन्न हैं और नैतिक दृष्टि से यह मतभेद अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसको समझाने के पूर्व वेद-विहित कर्मों में पाये जाने वाले एक महत्व-पूर्ण मतभेद की ओर ध्यान आकृष्ट करना आवश्यक है। जिस धर्म की विवेचना शास्त्रों में की गयी है स्थूल रूप से उसमें दो प्रकार के कर्मों का अन्तर्भाव है। उनमें से एक प्रकार के—अर्थात् "साधारण धर्म" और "वर्णाश्रम धर्म", जैसा कि उन्हें कहा जाता है—कर्मों के विषय में हम कुछ विस्तार के साथ पहले ही कह चुके हैं। ये दोनों ही नित्य-कर्म होते है। दूसरे प्रकार का कर्म, जिसका उल्लेख हमने सरसरी दृष्टि से कर दिया था, काम्य कर्म हैं। इनको मनुष्य चाहे करे चाहे न करे। कुमारिल के अनुसार यद्यपि धर्म का क्या स्वरूप है इस बात को वेद ही निश्चित करता है तब भी इस उद्देश्य से कि मनुष्य के हृदय में उसका अनुसरण करने के लिए प्रेरणा उत्पन्न हो, धर्म मनुष्य की आत्महित की स्वाभाविक आकांक्षा का आश्रय लेकर उससे उत्पन्न होने वाले किसी प्रिय फल, जैसे उदाहरणार्थ स्वर्ग की प्राप्ति, की ओर संकेत करते हुए उसे तदर्थ प्रेरित करता है। इसका अर्थ यह है कि वेद न तो कामना को जन्म देता है और न दे ही सकता है। किन्हीं विशिष्ट

लक्ष्यों के लिए कुछ विशिष्ट साधनों के अन्यथा-अनुपलभ्य-ज्ञान को मनुष्यों तक पहुँचाना मात्र ही उनका प्रयोजन है, और वह (धर्म) इस प्रश्न को पूर्णतया मनुष्य पर ही छोड़ देता है कि उनमें से किस को चुना जाय। अन्धकार में चलते समय हम हाथ में जिस दीपक को लिये रहते हैं वह उस भूमि को तो अवश्य प्रकाशित करता है जिस पर हमें चलना है, परन्तु जिस पथ का अनुसरण हम करना चाहते हैं उसे वह हमारी रुचि पर छोड़ देता है। केवल काम्य कर्मों के लिए ही फलों का विधान किया गया है। नित्य कर्मों के सम्बन्ध में वेद ने ऐसा कोई विधान नहीं किया है। कुमारिल तो यह मानते हैं कि नित्य कर्मों में यद्यपि निषेधात्मक तथापि प्रियफल निहित रहते हैं और उनका सम्बन्ध भी कर्ता से रहता है। वह फल है भावी पापों का निवारण अथवा पूर्व पापों का क्षय। दूसरे शब्दों में उनका यह अभिमत है कि उचित प्रयोजन के बिना काम्य प्रवृत्ति की कल्पना ही नहीं की जा सकती।

इसके विपरीत प्रभाकर यह प्रतिपादित करते हैं कि अभीष्ट फलों की प्राप्ति के कारण ही धर्म ग्राह्य है, ऐसा कहना उसे उन समस्त उच्च आदर्शों से च्युत कर देना होगा जिसका प्रतिष्ठापन ही उसका प्रयोजन है। इसीलिए वे इस बात पर जोर देते है कि धर्म रूप आदर्श का अनुसरण उसके अपने ही उद्देश्य के कारण करना चाहिए। वेद हमारे सामने किसी लक्ष्य को नहीं रखता है। वह तो केवल इसी बात का विधान करता है कि हमें क्या करना चाहिए। बिना कर्म का विधान किये ही वह कर्म करने के लिए आज्ञा देने का अधिकारी है। यही नियोग का वास्तविक आदेशात्मक स्वरूप है; और यहाँ धर्म का तात्पर्य इसी "चाहिए" से है न कि यज्ञ सम्बन्धी क्रियाओं और विधियों से। अर्थात् इस सम्प्रदाय में धर्म अपने में ही एक मूलगत मूल्य है न कि साधक मात्र के रूप में। वह स्वयं अपने में ही 'शिव' है न कि जैसा कुमारिल का मत है वह 'शिव' की ओर ले जाने वाला है। जैसा

अभी ही कहा गया है वेद नित्य-कर्मों के लिए किसी विशिष्ट फल का विधान नहीं करता, अतएव यह समझना अत्यन्त सरल है कि यह सिद्धान्त उनके लिए भी लागू होता है। परन्तु यह सम्प्रदाय काम्य-कर्मों के सम्बन्ध में भी उसी दृष्टिकोण को स्वीकार करता है। परन्तु कर्मों का विधान करते समय वेद में स्वर्ग-प्राप्ति जैसे फलों का उल्लेख भी पाया जाता है। इसका क्या कारण है, यह समझाते हुए कहा गया है कि उनका एक मात्र उद्देश्य उन मनुष्यों के वर्ग अथवा जाति की व्याख्या करना है जिनका लक्ष्य करके उन आदेशों का विधान किया गया है, और उनका तात्पर्य फलों को काई महत्व देना नहीं है। इस प्रकार के कर्मों के फलस्वरूप जिस लाभ की भी प्राप्ति होती है उसे उनका परिणाम-मात्र माना जाता है न कि उनके सम्पादन का प्रयोजन। इसी को आधुनिक नीतिशास्त्र के शब्दों में इस प्रकार कहेंगे कि 'सत्य' की भावना करते समय इसकी जरा भी आवश्यकता नहीं है कि उसे 'शिव' से बिल्कुल पृथक् कर दिया जाय। दोनों को परस्पर संयुक्त अथवा सम्बद्ध किया जा सकता है और तब भी सत्य स्वयं अपने में सत्य ही रहेगा।

यह स्पष्ट है कि यहां धर्म की जो भावना की गयी है वह पाश्चात्य दर्शन में कान्ट द्वारा उपस्थित की गयी "शुद्ध-प्रेरणा" (Categorical Imperative) की भावना से मिलती जुलती है, यद्यपि उनमें बहुत कुछ महत्वपूर्ण विषयों में मतभेद है। दोनों में ही कहा गया है कि कर्म को कर्तव्य की भावना से न कि रुचि और प्रवृति के कारण करना चाहिये। यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि प्रभाकर की शिक्षा गीता की शिक्षा के समान ही नहीं है। इसका कारण यह है कि गीता में एक लक्ष्य के साधन रूप में कर्तव्य करने का आदेश दिया गया है यद्यपि वह लक्ष्य अर्थात् स्वाभाविक प्रवृत्तियों की परिशुद्धि स्वार्थ पूर्ण कामनाओं और मनोवृत्तिओं के प्रवाह के सामने आत्म-समर्पण कर देने से बहुत भिन्न है।

ऊपर इसकी शिक्षा का जो स्वरूप प्रस्तुत किया गया है उस पर विचार करने पर हमें इस निर्णय पर पहुँचना चाहिए कि मीमांसकों के अनुसार जीवन का अन्तिम लक्ष्य स्वर्ग-प्राप्ति अथवा आगामी जीवन में किसी उतने ही अपेक्षणीय लक्ष्य की उपलब्धि ही होना चाहिए। यह लक्ष्य उपनिषद् प्रतिपादित मोक्ष से भिन्न है। ऐसा प्रतीत होता है कि इसमें इस प्रकार के आदर्श का प्रतिपादन बहुत समय तक हुआ। एक अपेक्षतया बाद के किन्तु अत्यन्त प्रामाणिक लेखक ने इस बात को विस्तार पूर्वक कहा है कि मीमांसा का मोक्ष से कोई सम्बन्ध नहीं है। मीमांसा के कतिपय प्राचीन ग्रन्थों में उपनिषदों को जो गौण स्थान दिया गया है उससे भी यही तात्पर्य निकलता है। उनको यह गौण स्थान क्यों दिया गया है इसे विभिन्न प्रकार से समझाया जाता है। उदाहरणतया कतिपय मीमांसकों के अनुसार उपनिषदों में आत्मा के विषय में इतना अधिक इसलिए नहीं कहा गया है कि वह स्वयं अपने में इतना अधिक महत्वपूर्ण है बल्कि इसलिए कि यज्ञादि कर्मों का सम्पादन करने में कर्ता होने के कारण वह धर्म से इतने घनिष्ट रूप से सम्बन्ध रखता है। इसी से वे इस बात का विरोध करते है कि आत्म-ज्ञान को कर्म से ऊँचा स्थान दिया जाय जैसा कि वेदान्ती सामान्यतया करते हैं। परन्तु उपनिषदों के प्रभाव ने शनैः शनैः अपना सिक्का जमा लिया और प्राचीन आदर्श को परम रूप मानना समाप्त हो गया तथा उसका स्थान मोक्ष ने ले लिया। यह कहना सम्भव नहीं है कि यह परिवर्तन यथार्थतः कब से आया परन्तु वह केवल कुमारिल के ही नहीं वरन् प्रभाकर सम्प्रदाय के प्रामाणिक ग्रन्थों में भी मिलता है। कर्मकाण्ड का मोक्ष विषयक औपनिषद मत से जो समन्वय है उसका उल्लेख कल्पसूत्रों पर विचार करते समय किया गया था। यहाँ हमें उसी का समानान्तर मत देखने को मिलता है। इससे हम जिस सम्भावित निर्णय पर पहुँच सकते हैं वह यह है कि उस समय तक वैदिक मतावलम्बियों का एक ऐसा सम्प्रदाय चला आया था जो केवल

यज्ञों के महत्त्व अथवा दूसरे शब्दों में धर्म के आदर्श की चरम परम रूपता पर ही पूरा जोर डालता था। परन्तु अन्त में वह मोक्ष को ही प्रधान मानने वालों के मत के द्वारा अभिभूत हो गया।

मोक्ष की जो भावना यहाँ की गई है वह न्याय में की गई भावना से बहुत मिलती है। वह भावना जीवन के सम्पूर्ण दुखों से अत्यन्त विमोक्ष ही है। दोनों मतों में जो मतभेद यहाँ देखने को मिलता है वह यह है कि कुमारिल के अनुयायियों में से कुछ का मत तो यह प्रतीत होता है कि वह केवल दुख के अभाव की ही नहीं वरन् भावरूप आनन्द की भी स्थिति है। यह मत उनकी शिक्षा की सामान्य भावना के भी अधिक अनुरुप है। आत्म-निग्रह के साधनों के सम्बन्ध में इसमें और न्याय वैशेषिक में एक महत्वपूर्ण अन्तर है। इसका कारण यह है कि इसमें ज्ञान की अपेक्षा, जैसा कि न्याय-वैशेषिक में है, कर्म पर ही जोर दिया जाता है। इसका एक परिणाम यह हुआ है कि जिस संन्यास को अन्य दर्शन शास्त्रों में और उनमें हम अवैदिक सम्प्रदायों को भी ले लेते हैं—अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है, उसी को यहाँ स्वीकार तक नहीं किया गया है। संक्षेपतः भावी जन्मों के साक्षात् कारण काम्य कर्मों के त्याग तथा नित्य कर्मों के अनुष्ठान तक अपने को सीमित रखना ही आत्मनिग्रह है। इन कर्मों का करना आवश्यक इसलिए है कि उनका उद्देश्य दुरितक्षय (पाप-क्षय) है और उनके सम्पादन में अपवाद करने का अर्थ यह है कि वे (पाप) किसी न किसी रूप में बने रहेंगे। इस प्रकार जब समस्त भावी जन्मों का मूल उच्छिन्न हो जाता है तो फलस्वरूप प्रस्तुत जन्म के अन्त में आत्मा अपने आप ही अपने स्वाभाविक स्वरूप को प्राप्त हो जाती है। इसी अवस्था का नाम मोक्ष है। जहाँ तक कि इस लक्ष्य की उपलब्धि इसी जीवन में सम्भव है, यह इस बात का निर्देश करता है कि सामाजिक और धार्मिक कृत्यों के अनुष्ठान में पूर्णतया प्रवृत्त होकर स्वार्थहीन जीवन व्यतीत किया जाय और उनका अनुष्ठान उसी प्रकार किया जाय जैसा वेद में प्रत्यक्षतः आदेश दिया गया हो अथवा जैसा उससे ध्वनित होता हो।

सातवाँ परिच्छेद

निर्विशेष वेदान्त

प्रथम परिच्छेद में हमने अपना ध्यान इस ओर आकृष्ट किया था कि उपनिषदों की शिक्षा का कोई निश्चित स्वरूप नहीं है और शिक्षा के इस अनिश्चयात्मक स्वरूप से यह बात भली-भांति समझ में आ जाती है कि उसको विधिवत रूप से संग्रहीत करने की आवश्यकता क्यों उत्पन्न हुई। तत्कालीन उपनिषदों में इस प्रकार के प्रयत्न का संकेत ढूँढ़ने पर मिल सकता है, किन्तु बाद में यह अधिकाधिक ऐच्छिक होता गया है। इस शिक्षा को अंतिम रूप से यथाक्रम सग्रहीत कर देने का जो परिणाम हुआ उसे ही वेदान्त कहा जाता है। वेदान्त शब्द उपनिषदों में पाया जाता है। वहाँ उसका अर्थ केवल 'वेदों के अंतिम भाग' से है, परन्तु कालान्तर में वह संपूर्ण वेद के निश्चित मत का निर्देश करने लगा। इसी से अपने बाद के स्वरूपों में वेदान्त केवल वेद के प्रारम्भिक भागों सहित उपनिषदों की शिक्षा का ही निरूपण नहीं करता वरन् धार्मिक साहित्य के अन्य अंशों का भी, जैसे भगवद्गीता और विष्णु-पुराण। इनको औपनिषद मत का प्रतिपादन और व्याख्या करने वाला कहा जाता है। इस प्रकार वेदान्त उन समस्त निर्णयों को एक अत्यन्त अविरोधी समष्टि में अनुस्यूत कर देता है जिन पर कि उससे पूर्व के समस्त आस्तिक विचार पहुँचे थे इसीलिए उसको भारतीय विचार की पूर्णतम अभिव्यक्ति माना जाता है। हम कह ही चुके हैं कि वैदिक काल के अन्त तक वेद के दोनों प्रमुख विभागों की शिक्षाओं का समन्वय व्यावहारिक पक्ष में स्थापित किया जा चुका था। यहाँ हम यह कह सकते हैं कि प्रस्तुत समन्वय और आगे बढ़ गया है

और उसमें उसकी शिक्षाओं के सैद्धान्तिक पक्ष का भी समावेश कर दिया गया है।

बहुत सम्भवतः एक से अधिक प्रकार से इसको यथा-क्रम समन्वित किया गया था। परन्तु उसमें से केवल एक ही प्रयत्न जो बच पाया है अब हमें मिलता है। वह है बादरायण-सूत्र। सामान्यतः उसे वेदान्त-सूत्र कहा जाता है। इसमें चार अध्याय हैं और प्रत्येक अध्याय चार पादों अथवा खण्डों में विभाजित है। वर्तमान मत यह है कि उपनिषद, भगवद्गीता और सूत्र ये तीनों (वेदान्त त्रयी) वेदान्त के आधार हैं। यह एक अत्यन्त दुःख का विषय है कि वेदान्त-सूत्र अपनी शिक्षा में स्पष्ट नहीं है। वास्तव में यह अपने गूढ़ स्वरूप के कारण उपनिषदों अथवा गीता से अधिक संदिग्ध है। फलस्वरूप इस पर कितने ही भाष्य लिखे गये। इसका परिणाम यह हुआ कि मूलतः इसमें जो मतभेद बहुलता से पाये जाते थे उन्होंने पुनः अपना स्थान बना लिया और सूत्रों की रचना के बाद तक वे बहुत कुछ उसी रूप में बने रहे। परन्तु इससे हमें इस निर्णय पर नहीं पहुँच जाना चाहिए कि वेदान्त के विभिन्न सम्प्रदाय एक दूसरे से नितान्त भिन्न हैं। जहाँ तक उनकी व्यावहारिक शिक्षा का सम्बन्ध है उनका मैतक्य बिलकुल स्पष्ट है। सिद्धान्तों के विषय में ऐसी बात नहीं है, किन्तु वहाँ भी विभिन्न सम्प्रदाय कितनी ही बातों में सम्मत हैं जैसे कि उदाहरणतया, आत्मा की नित्यता और मोक्ष प्राप्ति के लिए यथार्थ ज्ञान की उपलब्धि।

स्थूल रूप से वेदान्त का वर्गीकरण अद्वैतवाद अथवा ईश्वरवाद के रूप में किया जा सकता है। पहले वाले सम्प्रदाय में परम सत् ब्रह्म का निरूपण निर्विशेष तत्त्व के रूप में किया जाता है और बाद वाले में सविशेष (सगुण) ईश्वर के रूप में। यह और कह देना चाहिए कि इनमें से प्रत्येक में विभिन्न प्रकार की शिक्षाओं का समावेश है। उनमें से मुख्य इन दोनों सम्प्रदायों को लेते हुए तीन हैं। उन्हें अद्वैत

विशिष्टाद्वैत और द्वैत कहा जाता है। ये प्रमुख रूप से क्रमशः शंकर, रामानुज और मध्व से सम्बद्ध हैं। हम अपने ध्यान को मुख्यतया इन्हीं तीनों मतों तक, जो कि आज भी जीवित हैं, सीमित रक्खेंगे। प्रस्तुत परिच्छेद में हम उपनिषदों की निर्विशेष व्याख्या करेंगे।

(१)

एक ओर तो ब्रह्म का जीवात्मा से क्या सम्बन्ध है और दूसरी ओर भौतिक जगत से उसका क्या सम्बन्ध है, उपनिषदों की अस्पष्टता विशेषतया इन दो बातों से ही सम्बन्धित है। यद्यपि उनके अभेद का प्रतिपादन करने वाले बहुत से प्रमुख वाक्य हैं तथापि उनके भेद को स्थापित करने वाले वाक्यों का भी अभाव नहीं है। इसी से जो कोई भी उपनिषदों की शिक्षा का एक व्यवस्थित और निश्चित स्वरूप निर्धारित करने का प्रयत्न करेगा उसको सब से पहले जिस समस्या का हल करना होगा वह है इन दो प्रकार के वाक्यों में साम्य स्थापित करना। ऐसा करने का जो सबसे अधिक स्पष्ट मार्ग है वह यह है कि इन दोनों ही प्रकार के वाक्यों को समान महत्व दिया जाय और यह माना जाय कि आत्मा और जगत दोनों का ब्रह्म से अभेद भी है और भेद भी। दृष्टान्ततः भर्तृप्रपञ्च का यही मत था। ये शंकर के पूर्ववर्ती थे और उन्हीं के समान इन्होंने भी उपनिषदों और वेदान्त सूत्रों की व्याख्या की थी। उनके अनुसार ब्रह्म एक है, परन्तु उसका ऐक्य ऐसा है कि उसमें विविधता भी है। इस प्रकार उसकी जो भावना की गई है वह एकानेक (one-many) की है। यह नानात्व इस कारण है कि उसमें अनन्त संख्यक आत्मा और साथ ही भौतिक जगत के अनेकानेक विभेद अन्तर्व्याप्त हैं। परन्तु यह नानात्व उसमें अव्यक्त रूप से निहित है और केवल सृष्टिकाल में ही उसकी अभिव्यक्ति होती है इसलिए सृष्टि का अर्थ नवीन वस्तुओं

की सम्भूति नहीं है बल्कि ब्रह्म में पहले से ही रहने वाले भेदों का अभिव्यक्त हो जाना मात्र है। दूसरे शब्दों में इस सम्प्रदाय का सांख्य से सादृश्य है। उनमें अन्तर केवल इस दृष्टि से है कि इसमें अचेतन प्रकृति के स्थान पर चेतन और सर्वव्यापक ब्रह्म को ही सृष्टि करने वाला विकास शील तत्व माना गया है (ब्रह्म-परिणामवाद)। फलस्वरूप मोक्ष-प्राप्ति के समय जीवात्मा ब्रह्म में विलुप्त नहीं हो जाती, वह अपने व्यक्तित्व को बनाये रखती है, यद्यपि उसके उस व्यक्तित्व में अनिवार्य रूपेण अत्यधिक रूपान्तर हो जाता है।

इस मत में मोक्ष का साधन न तो केवल नैतिक और धार्मिक कर्तव्यों का दृढ़तापूर्वक पालन करना ही है और न केवल यथार्थ ज्ञान ही बल्कि वह दोनों का समुच्चय है। पहला अहं भावनाओं और स्वार्थनिष्ट मनोवृत्तियों को मनुष्य के हृदय से निकाल फेंकता है और उसकी परिशुद्धि कर के असंग की भावना को अंकुरित करने में सहायता देता है और दूसरा सत्व के पारमार्थिक एकत्व के सम्बन्ध में रहने वाली अविद्या का निवारण कर के मोक्षसिद्धि की ओर ले जाता है। मोक्ष प्राप्ति के लिये द्विविध साधना का विधान करने वाला यह मत कर्म को मोक्षोपलब्धि के एक प्रत्यक्ष उपाय के पद पर ला बैठाता है और इस प्रकार वह उसे तत्व-ज्ञान के साथ सहकारित्व का आदेश देता है। हम कह सकते हैं कि अपने मुख्य स्वरूप में यह मत आत्मपूर्णता की प्राप्ति के लिए सत्य और शिवं का समन्वित रूप में अनुसरण करने का आदेश देता है (ज्ञान कर्म-समुच्चय)। वेदान्त के दूसरे सम्प्रदायों में भी कर्म का उपयोग मोक्ष के साधन के रूप में किया गया है परन्तु जैसा हम देखेंगे कि साधना के क्रम में उसे अपेक्षतया गौण स्थान दिया गया है। परिणामस्वरूप हम इस निर्णय पर पहुँच सकते हैं कि जहां तक कर्म के विषय में उनके मत का सम्बन्ध है भर्तृप्रपञ्च के दर्शन के समान ही वेदान्त दर्शन भी मीमांसा के निकटतम है।

इस प्रकार के मत के फलस्वरूप जिस तंत्र का उदय होता है वह जहाँ तक कि उसकी सैद्धान्तिक शिक्षाओं का सम्बन्ध है, मानवीय विचारों के इतिहास में किसी प्रकार भी अज्ञात नहीं है। स्थूल रूप से उसे स्वभावतः हेगेलीय (Hegelian) कहा जा सकता है और ऐसा प्रतीत होता है कि एक समय वह भारतवर्ष में बहुलता से प्रचलित था। परन्तु शंकर के उदय होने से यह मत पृष्ठभूमि में चला गया और बाद में फिर कभी जीवित नहीं हो सका, यद्यपि भास्कर (८५० ईसवी पूर्व) और यादव प्रकाश (११०० ईसवी पूर्व, जैसे विचारकों ने ऐसा करने के कितने ही प्रयत्न किये। इसके प्रति शंकर का आदेश यह है कि ब्रह्म तथा जीव अथवा जगत परस्पर भिन्न और अभिन्न दोनों ही हैं। उनके सम्बन्ध के विषय में यह हल उपस्थित करके इस तंत्र ने जिस समस्या का समाधान करना था उसकी पुनरुक्ति मात्र कर दी है। वेदान्त के मतानुसार सृष्टि का अर्थ केवल सम्भवनीय (अव्यक्त) का यथार्थ (व्यक्त) हो जाना ही है; परन्तु सम्भवनीय और यथार्थ के बीच रहने वाले इस अन्तर से वस्तुतः उससे कार्य-कारण के सम्बन्ध की समस्या का कोई हल नहीं निकलता है। इस सम्प्रदाय का मत तो यह है कि भेद और अभेद पारस्परिक असंगति से इतने दूर हैं कि दोनों केवल एक साथ लेने पर ही ग्राह्य हो सकते हैं। इसके विपरीत शंकर की धारणा यह है कि परस्पर विरोधी होने के कारण वे एक और उसी वस्तु के वाचक नहीं हो सकते हैं। इससे यह प्रतीत होता है कि वस्तुओं का स्वभाव आत्म-विरोधी है और उनके अनुसार यह आत्म विरोध मिथ्यात्व का संकेत करता है। दूसरे शब्दों में यदि एक सम्प्रदाय के अनुसार एकता और विविधता प्रत्येक अलग-अलग लेने पर प्रत्यय मात्र ही हैं तो दूसरे सम्प्रदाय के अनुसार उनका समन्वय भी ऐसा ही होगा। जो इन दोनों के परे होता है और साथ ही दोनों की व्याख्या करता है वही सत है। उपनिषदों जैसा ही प्राचीन एक दृष्टान्त ले लीजिए। इसके अनुसार सत् सूर्य के समान है क्योंकि सूर्य ही इस बात को स्पष्ट करता

है कि रात्रि और दिवस के क्रम का क्या कारण है, किन्तु साथ ही जिस अर्थ में हम दिन और रात को लेते हैं, उस अर्थ में सूर्य रात्रि को तो जानता ही नहीं है, दिन को भी नहीं जानता है और इस दृष्टि से वह उनसे परे है।

जैसा कि उपनिषदों पर विचार करते समय हमने कहा था, शंकर यह अङ्गीकार करते हैं कि उपनिषदों में दो विचार धाराएं हैं; परन्तु उनका विचार यह है कि उनमें से एक जो वैषम्य के सत्य को प्रतिपादित करती है वह व्यावहारिक दृष्टि से विचार करने वालों की सहूलियत के लिए ही स्वीकार कर ली गई है। इस प्रकार समस्त वैषम्य के औपाधिक रूप से ही सत्य होने के कारण शंकर के अनुसार उपनिषदों में एकमात्र शिक्षा एकत्व की है। हां, विविधता से पृथक कोई एकत्व नहीं हो सकता है। इस कारण उन्होंने अपनी शिक्षा को एकत्ववाद (monism) न कहकर केवल अद्वैतवाद (non-dualism) कहा है। यदि ठीक-ठीक कहा जाय तो यह कहना कि शंकर एकत्व मात्र का उपदेश देते हैं, जो कि आजकल बहुत साधारण हो गया है, गलत होगा। यदि उन्होंने ऐसा ही किया होता तो उनका ब्रह्म "शून्यमात्र" होता। परन्तु जैसा कि वाचस्पति कहते हैं कि वे केवल अनेकत्व को स्वीकार करते हैं किन्तु एकत्व को प्रतिष्ठापित नहीं करते हैं।

कहा जाता है कि महान पुरुष दो वर्गों में रखे जा सकते हैं। कुछ तो सैद्धान्तिक समस्याओं को सुलझाने में ही इतनी तीव्रता से संलग्न हो जाते हैं कि उनका बाह्य जीवन बिलकुल महत्वहीन हो जाता है, परन्तु दूसरे ऐसे होते हैं जो अपने युग के व्यावहारिक संघर्षों में पूर्णतया प्रविष्ट हो जाते हैं, किन्तु वे तब भी मानव-संस्कृति के इतिहास में कोई ऐसी देन में सफल होते हैं जो कि स्थायी महत्व की होती है। इन दोनों वर्गों में से शंकर दूसरे वर्ग में आते हैं। वे एक महान सुधारक थे। धार्मिक और सामाजिक विषयों में उन्होंने अपनी पीढ़ी को जो निर्देश

दिया वह अनेक शताब्दियों के बीत जाने पर आज भी करोड़ों मनुष्यों के जीवन का पथप्रदर्शक और अनेक आचार विचारों का नियामक बना हुआ है। साथ ही वे एक महान विचारक भी थे। यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता कि उन्होंने वेदों और वैदिक परम्परा में पहले से ही निहित सिद्धान्तों की व्याख्या करने के अतिरिक्त और कुछ भी किया तथापि वे यथार्थतः दर्शन में एक नवीन आन्दोलन के प्रवर्तक थे।

यह एक अत्यन्य दुःख का विषय है कि हमें निश्चित रूप से इस बात का कोई पता नहीं है कि ऐसा महान विचारक वस्तुतः किस काल में हुआ। प्रायः उनका समय अष्टम शतक के अन्त और नवम शतक के प्रारम्भ के लगभग (७८८—८२०) बताया जाता है और लगभग सौ वर्षों की सीमा के भीतर उनकी तिथि को ठीक माना जा सकता है। अपने समस्य ग्रन्थों में उन्होंने अपने को गोविन्द का शिष्य स्वीकार किया है। परम्परानुसार स्वयं ये गोविन्द गौड़पाद के शिष्य थे। गोविन्द अपना कोई ग्रन्थ नहीं छोड़ गये, परन्तु इसके विपिरीत गौड़पाद का एक ग्रन्थ मिलता है। वह 'गौड़पाद कारिका' नाम से प्रख्यात है। सम्भवतः शंकर सम्प्रदाय में अद्वैत का जो स्वरूप ग्रहण किया जाता है उसके अनुसार यह अद्वैत-वेदान्त पर प्रथम प्रबन्ध है जिसमें उसके सिद्धान्तों की विधिवत विवेचना की गई है। कहा जाता है कि यह माण्डूक्य उपनिषद पर लिखी गई एक व्याख्या-मात्र है। परन्तु वस्तुतः वह उससे कहीं अधिक है और उसमें इस तंत्र के (जिस प्रकार कि बाद में शंकर ने उसकी व्याख्या की है) आधार-भूत सिद्धान्त निहित है। कहा जाता है कि शंकर ने ३२ वर्ष की आयु में शरीर छोड़ा। इस थोड़े से काल में जो कार्य उन्होंने सम्पन्न किया उसकी विशालता इस बात को प्रकट करती है कि किसी मनुष्य ने कितना काम किया यह उसके जीवन काल की अवधि पर इतना निर्भर नहीं करता जितना कि उसको प्रेरित करने वाले विश्वास की दृढ़ता और गहराई पर। पद्यमय और गद्यमय दोनों ही

प्रकार के अनेक ग्रन्थ उनके द्वारा रचित कहे जाते हैं; परन्तु यह लगभग निश्चित सा ही है कि उनमें से कई उनके द्वारा नहीं लिखे गये हैं। निश्चित रूप से तो हम यही कह सकते हैं कि वेदान्त-सूत्र और लगभग सभी प्राचीन उपनिषदों, के भाष्यों का कर्ता उन्हें कहा जाता है, वे उनके ही द्वारा रचित हैं। उपदेश सहस्री जो कि अद्वैतमत की एक स्वतन्त्र विवेचना है और सम्भवतः उसी प्रकार के अन्य ग्रन्थ भी उनकी ही रचनाएं हैं।

जैसा कि उनके द्वारा की गई भर्तृप्रपंच की आलोचना से प्रकट होता है शंकर समस्त भेद को मिथ्या मानते हैं। परन्तु उसे इस प्रकार मिथ्या कहने का क्या महत्व है उसे ठीक-ठीक समझना बहुत आवश्यक है। शंकर ने सत् की जो भावना की है वह एक नित्य सत्व की है और ब्रह्म ही उस प्रकार का एक मात्र सत है। इसी प्रकार उन्होंने असत् की जो भावना की है वह भी अत्यन्ताभाव की है। अपने समस्त भेदों में जगत न तो एक प्रकार का है और न दूसरे का। वह इस अर्थ में सत नहीं है, क्योंकि वह चाहे कुछ भी हो नित्य नहीं है। न वह इस अर्थ में असत है, क्योंकि जिस रूप में स्पष्टतया प्रतिभासित होता है उस रूप में कोई असत तत्व प्रतिभासित नहीं हो सकता है। जैसा कि अद्वैतवादी ग्रन्थों में कहा जाता है कि न तो किसी ने खग-विषाण अथवा वन्ध्या पुत्र को देखा है और न उनको देखे जाने की भविष्य में कोई सम्भावना ही है। वे अत्यन्त असत् हैं। फिर जीवन में उपयोगी होने के कारण वह (जगत) व्यावहारिक कर्म-क्षमत्व से सम्पन्न अथवा अर्थ-पूर्ण है, किन्तु असत् तत्व इस प्रकार का नहीं होता है। यही कारण है कि अद्वैत वेदान्त से जगत् को सदसद्विलक्षण अथवा मायिक स्वरूप वाला कहा गया है। जहां केवल रज्जु ही है वहां प्रतिभासित होने वाला सर्प न तो सत् है और न असत्। मनोवैज्ञानिक कारणों से वह उपस्थित (प्रसिद्ध) रहता है परन्तु तर्क द्वारा उसे सिद्ध नहीं किया जा

सकता है। दूसरे शब्दों में यद्यपि संसार की वस्तुयें परमार्थतः सत् नहीं है तथापि वे सत्य की किसी श्रेणी की होती है। वे इस अर्थ में आभासमात्र हैं कि अपने अस्तित्व के लिये किसी उत्कृष्टतर सत्य पर आश्रित रहती हैं। उदाहरणस्वरूप सर्प रज्जु के अस्तित्व का निर्देश करता है और यह आश्रयत्व एक-पक्षीय है क्योंकि जब रज्जु अदृश्य हो जाता है तब भी इसका प्रतिपक्ष (विपर्यय) सत्य नहीं होता। यह तो सभी स्वीकार करते हैं कि हम वस्तुओं को जो नाम देते हैं वह औपचारिक होते हैं। शंकर के अनुसार उनका रूप भी वैसा ही होता है। सामान्य वस्तुओं की औपचारिक विशिष्टता जिसमें आधारभूत रूप से रहती है वही एकमात्र यथार्थ सत्य है।

अद्वैत वेदान्त में भौतिक जगत की सामान्य भावना तो यह है, किन्तु जीवात्मा की जो भावना की गई है वह अत्यन्त भिन्न है। इस मतभेद को समझाने के पूर्व साधारण अनुभव में आने वाले दो प्रकार के भ्रमों में जो एक महत्वपूर्ण अन्तर पाया जाता है उसकी ओर ध्यान आकृष्ट करना आवश्यक है। एक मनुष्य भ्रमवश यह कल्पना कर सकता है कि वह दूर पर एक सर्प देख रहा है। किन्तु समीप आकर निरीक्षण करने पर यह प्रकट हो जाता है कि वह केवल रज्जु है। बाद वाला अथवा परिशोधक ज्ञान उस प्रकार के लगभग सभी ज्ञान की भांति किसी वस्तु के अस्तित्व का प्रतिपादन तो करता है परन्तु वह उस वस्तु का निषेध भी करता है जिसके (अर्थात सर्प) रूप में वह वस्तु पहले प्रतीत हुई थी। जब उसे अपने भ्रम का पता लगता है तो वह अपने से कहता है अथवा स्वयं अनुभव करता है कि यह 'रज्जु है न कि सर्प'। पुनः पीतवर्ण के कांच की ऐसी चादर में से जिसकी विद्यमानता का उसे कोई बोध ही नहीं, श्वेत शंख को देख कर वह उसे पीला ही समझने लगता है। परन्तु जिस स्थान से वह देख रहा था यदि उसमें वह यथोचित परिवर्तन कर देता है तो यह प्रकट हो जाता है कि पीतता कांच की है न

न कि शंख की। पूर्व दृष्टान्त की भांति यहां भी बाद वाला ज्ञान किसी सत पदार्थ के अस्तित्व का प्रतिपादन करता है। हां यह अंतर अवश्य है कि वह जिस वस्तु अर्थात शंख के रूप में प्रतिभासित होता था उसका प्रत्याख्यान न करके केवल उसके एक स्वरूप उसकी पीतता का ही प्रत्याख्यान करता है। वह उसे अब भी शंख के रूप में देखता है, परन्तु केवल इतना और कह देता है कि वह श्वेत है पीला नहीं। पहले दृष्टान्त में भ्रम उपस्थित वस्तु को भ्रमवश एक ऐसी अन्य वस्तु के रूप में ग्रहण कर लेना है जो उपस्थित नहीं है और दूसरे में उपस्थित वस्तु में ऐसे लक्षण का आरोपण करना है जो वस्तुतः उसमें नहीं है यद्यपि उस समय वह वस्तु उपस्थित होती है। किन्तु यदि उपाधि के रूप में बीच में कांच की चादर, जिसमें कि पीतवर्ण वस्तुतः रहता है, न आ जाती तो बाद वाले दृष्टान्त में कोई भ्रम ही न होता।

ये भिन्न प्रकार के भ्रम इस बात को निरूपित करने के उपयोग में आते हैं कि शंकर के अनुसार जिसमें एक और वही ब्रह्म जगत और जीव इन दो रूपों में प्रतिभासित होता है उसमें क्या अन्तर है। जिस प्रकार हमारे प्रथम दृष्टान्त में रज्जु ने सर्प की भ्रान्ति को जन्म दिया था उसी प्रकार वह (ब्रह्म) जगत विषयक भ्रान्ति को उत्पन्न करता है। जीवनमुक्त जिस पारमार्थिक सत्य का दर्शन करता है वह जगत का निषेध करता है। किन्तु अधिष्ठान-भूत ब्रह्म-रूप सत्य को प्रतिष्ठपित करता है। यह ब्रह्म समस्त प्रतीतियों में सत रूप से उपस्थित रहता है और इसलिए यह कहा जा सकता है कि हम निरन्तर उसके सम्पर्क संस्पश में रहते हैं, यद्यपि हमें उसका ज्ञान नहीं रहता है। दूसरी ओर जीवात्मा इस अर्थ में मिथ्या भ्रान्तिमय नहीं है। स्वयं ब्रह्म ही अन्तःकरण जैसी उपाधियों के कारण इस प्रकार प्रतिभासित होता है। प्रसङ्गवश यह कहा जा सकता है कि ये समस्त उपाधियां भौतिक जगत से सम्बन्ध रखने वाले पदार्थ हैं और इसलिए मिथ्या अथवा उसी को

दूसरे रूप में देखना ही भ्रम होता है। जब किसी को स्वयं अपनी प्रतीति में इस तथ्य का दर्शन हो जाता है तो आत्म तत्व के रूप में जीव का निषेध नहीं किया जाता है बल्कि केवल मूर्तत्व तथा अन्य आत्माओं से उसके पार्थक्य जैसे कतिपय स्वरूपों का ही निषेध किया जाता है। इससे इसकी (जीव की) जो भावना की गई है उसमें अत्यधिक परिवर्तन आ सकता है, परन्तु महत्वपूर्ण विषय तो यह है कि वह उसी प्रकार बाधित नहीं है जिस प्रकार कि भौतिक जगत। इसके विपरीत वह तो उसे प्रमाणभूत रूप से प्रतिष्ठापित करता है यद्यपि केवल ब्रह्म के रूप में ही। अतएव, जिस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि जगत मिथ्या है उसी प्रकार हम यह नहीं कह सकते हैं कि जीव अथवा जीवात्मा भी मिथ्या है। हम केवल यह कह सकते हैं कि वह यथार्थतः कर्ता, भोक्ता आदि नहीं है।

ब्रह्म किस प्रकार जगत और जीव के रूप में प्रतिभासित होता है इसकी विवेचना में जो अन्तर है वह वेदान्तमत के लिए अत्यधिक महत्वपूर्ण है। परिणामस्वरूप शंकर उस पर विशेष जोर डालते हैं। यह इस बात को स्पष्ट कर देता है कि जीव और ब्रह्म के तादात्म्य का इस मत के लिए जो मौलिक महत्व है क्या अर्थ है। जीव जगत की भांति मिथ्या अथवा भ्रान्ति मात्र नहीं है क्योंकि यदि वह भी मिथ्या होता तो ऐसा कोई होता ही नहीं जिसे कि भव-सागर से बचाया जाता और उस दशा में उपनिषदों की संपूर्ण शिक्षा व्यर्थ हो जाती। मोक्ष से यह विवक्षित होता है कि मृत्योपरान्त भी आत्मा का अस्तित्व रहता है। इस प्रकार मुक्त-जीव ब्रह्म में विलीन हो जाता है। परन्तु साथ ही यह भी स्मरण रखना चाहिए कि यह कहना कि वह अपने उसी स्वरूप में सुरक्षित रहता है नितान्त उचित न होगा, क्योंकि वह अपनी मिथ्या परिच्छिन्नताओं को त्याग कर केवल ब्रह्म के रूप में ही स्थित रहता है। ये परिच्छिन्नतायें वस्तुतः जीव की अहं प्रत्यय मूलक

उपाधि सम्बन्धी हैं और ये ही उस पर, ब्रह्म पर, आरोपित प्रतीत होती है। यह ठीक उसी प्रकार होता है जिस प्रकार भ्रम-विषयक हमारे दूसरे दृष्टान्त में कांच की पीतता शंख पर आरोपित प्रतीत होती है। इस प्रकार हम ब्रह्म के रूप में अहंकार को दूसरी श्रेणी में रख सकते हैं न कि भौतिक जगत के समान पहली में। इसी से अहंकार का जो प्रत्यय है वह विशिष्ट है और केवल एक ऐसे तत्व का ही निर्देश नहीं करता जिसका ब्रह्म से साम्य हो वरन् अंतःकरण जैसी परिच्छेदक उपाधियों का भी करता है।

अब हम सामान्य रूप से अद्वैतवाद के जगत विषयक विचारों को जान गये हैं। ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है और वह विषय-भूत जगत और विषयी जीव दोनों के रूप में प्रतिभासित होता है। जगत ब्रह्म का प्रतिभासित होने वाला विवर्त है और जीव उस भ्रान्तिमय जगत की अङ्गभूत उपाधियों से विशिष्ट होकर प्रतिभासित होने वाला स्वयं ब्रह्म ही है। अद्वैतमत में कुछ महत्वपूर्ण भावनायें की गई हैं। इसके बाद हम उनके स्वरूप पर विचार करेंगे परन्तु ऐसा करने के पूर्व उसमें कार्य-कारण-सम्बन्ध की जो विवेचना की गई है उसका संक्षेपरूप में उल्लेख करना वांछनीय है।

अब तक हम कार्य-कारण-सम्बन्ध के विषय में दो भिन्न मतों से अवगत हो चुके हैं। वे न्याय वैशेषिक और सांख्य-योग द्वारा प्रतिपादित क्रमशः आरम्भवाद और परिणामवाद के सिद्धान्त हैं। जैसी कि सम्भावना ही की जा सकती है अद्वैतवाद का मत तो यह है कि कार्य-कारण-सम्बन्ध की भावना पूर्णतया अनुभवमूलक है और परमार्थतः उसका कोई महत्व नहीं है। इसको समझाने के लिए सर्व प्रथम इस बात का निर्देश कर देना अधिक अच्छा होगा कि अद्वैतवादी कार्य-कारण-सम्बन्ध विषयक इन दोनों मतों में से दूसरे (परिणामवाद) को अपेक्षतया ठीक समझते हैं अर्थात् वे इसके नितान्त विरुद्ध

हैं कि कोई वस्तु बिल्कुल नवीन रूप से अस्तित्व में आ सकती है। यदि घट किसी समय असत होता और इस कारण जिस मिट्टी से वह बनाया जाता है उससे उसका कोई सम्बन्ध ही नहीं होता तब तो वह किसी भी वस्तु से उत्पन्न किया जा सकता और ऐसी दशा में तो विशिष्ट कार्यों की उत्पत्ति के लिए किन्हीं विशिष्ट उपादान कारणों को ढूँढने की आवश्यकता ही न होती कि वस्तुतः अनिवार्य है। अस्तु उपादान-कारण तथा कार्य दो पृथक वस्तुएँ नहीं हो सकतीं वरन् भेद में उनका अभेद रहता है। अद्वैत के अनुसार यह मत केवल आपातिक रूप से स्वीकार किया गया है अर्थात् तभी तक जब तक कि हम केवल उन्हीं विषयों तक अपने ध्यान को सीमित रखते हैं जो व्यावहारिक क्षेत्र के अंतर्गत होते हैं। अन्ततः तो ब्रह्म सब का मूल है, और न तो घट और न उसका उपादान-कारण, जो व्यावहारिक जगत के अङ्ग होने के कारण मिथ्या हैं, यथार्थतः उससे सम्बद्ध हो सकते हैं। मिट्टी और घट दोनों ही समान रूप से प्रतिभास-मात्र हैं। उन दोनों का सम्बन्ध तो यथार्थ हो भी सकता है, परन्तु ब्रह्म और घट अथवा मिट्टी का सम्बन्ध तो अनिवार्यतः ही मिथ्या होना चाहिए। कार्य-कारण-सम्बन्ध दो प्रतिभासित होने वाली घटनाओं अथवा वस्तुओं में होता है सत्-तत्व में नहीं। अद्वैत के अनुसार कार्य-कारण-सम्बन्ध की भावना व्यावहारिक है और परमार्थतः उसका कोई महत्त्व नहीं है—इस उक्ति का यही अर्थ है। निःसन्देह इसमें विश्वास रखना हमारे संपूर्ण व्यवहारिक जीवन में एक महत्त्वपूर्ण अर्थ रखता है, परन्तु तर्क-शास्त्र की दृष्टि से यह सराहनीय नहीं है। ऐसा प्रतीत हो सकता है कि यद्यपि कार्य-विषयक प्रत्यय का मिथ्या होना तो सम्भव है परन्तु कारण-विषयक प्रत्यय कम से कम जहाँ तक प्रत्येक वस्तु के परम कारण ब्रह्म का सम्बन्ध है सत्य ही होगा। हाँ, यदि ठीक ठीक कहा जाय तो इसको इस प्रकार रखने का यह ढंग ही ग़लत है। इसका कारण यह है कि

कार्य का प्रत्यय (concept) सापेक्ष होता है और यदि कारण के प्रत्यय को विचार में न लिया जाय तो उसका कोई स्थान ही न रहेगा। इसलिए इस मत में यद्यपि ब्रह्म कार्य-कारण के संपूर्ण क्षेत्र की आधार-भूमि है तथापि वह उस क्षेत्र के परे भी पहुँचता है और परिणाम-स्वरूप कार्य-कारण-सम्बन्ध का सिद्धान्त उसके सम्बन्ध में लागू नहीं होता।

कार्य-कारण-सम्बन्ध का उपर्युक्त मत विवर्तवाद अथवा मिथ्या-परिणामवाद या केवल प्रतिभासित होने वाले परिवर्तन का मत कहलाता है। जिस प्रकार कि भ्रम-वश दिखाई देने वाला सर्प रज्जु का प्रतिभास-मात्र होता है उसी प्रकार हमारे दृष्टान्त का घट अपने परम कारण ब्रह्म का प्रतिभास अथवा स्वरूपान्तर-मात्र ही है। इसके अतिरिक्त परिणाम (यथार्थ परिवर्तन और विवर्त (मिथ्या परिवर्तन) के अन्तर को स्पष्ट करना भी वाञ्छनीय है। परिणाम का अर्थ यह है कि जब कोई विशेष वस्तु नष्ट की जाती है तो वह पूर्णतया असत् (विलीन) नहीं हो जाती किसी रज्जु के जब हम टुकड़े-टुकड़े कर देते हैं तो वह छोटे-छोटे रेशों के रूप में स्थित ही रहती है। जब कोई घट टूटता है तो टक में उसका अस्तित्व रहता ही है। दूसरी ओर विवर्त में पूर्ण विलुप्ति हो जाती है। जब सर्प का भ्रम दूर हो जाता है तो उसकी गन्ध तक नहीं रहती। हाँ, इतना कहना शेष रह जाता है कि जीव इन दोनों में से किसी अर्थ में भी 'कार्य' नहीं है। वह न तो ब्रह्म का सत् परिणाम है और न मिथ्या विवर्त। इस कारण यहाँ कार्य-कारण-सम्बन्धी कोई सिद्धान्त भी लागू नहीं होता है। यदि हम तब भी जीव को जन्य कहते हैं तो उससे हमारा तात्पर्य केवल यह होता है कि भौतिक शरीर जैसी उसकी भौतिक उपाधियाँ है। अस्तित्व में आती हैं न कि उसका आत्म-तत्व। अस्तु, जीव को अनादि कहा गया है। जैसे कि पहले ही निर्दिष्ट किया जा चुका है वह आत्म-प्रत्यय के रूप

में प्रतिभासित होने वाला ब्रह्म ही है।

अद्वैत मत में जिन प्रमुख दार्शनिक तत्वों को ग्रहण किया गया है अब हम उन पर विचार करेंगे। उनकी संख्या चार है। इनमें से एक को प्रकृति तत्व और शेष को आत्म-तत्व कहा जा सकता है।

(१) माया :—हम यह कह चुके हैं कि बाह्य-जगत् असत् है, परन्तु इसी से इसको उच्छृंखल न मान बैठना चाहिए। व्यावहारिक दृष्टि से वह व्यवस्था पूर्ण संसार है और शंकर ने एक से अधिक स्थानों पर कहा है कि उसमें देश, काल और कारण की दृष्टि से व्यवस्था पाई जाती है। यह तो स्पष्ट ही है कि उसमें अनवरत रूप से परिवर्तन होते रहते हैं। हाँ, वे परिवर्तन पूर्ण रूप से नहीं हो सकते और उनमें एक स्थायी तत्व निहित रहता है जिसका अस्तित्व अन्त तक रहता है। ये दोनों बातें यह संकेत करती हैं कि संसार अनैक्य में ऐक्य है और यदि ऐसा ही है तो दो अवस्थाओं में उसका विचार किया जा सकता है। एक अवस्था तो वह है जिसमें अनैक्य (विविधता) अव्यक्त रूप में निहित रहता है और दूसरी वह जिसमें वह अभिव्यक्त रूप में होता है। सांख्य-योग की शब्दावली को प्रयोग में लाते हुए हम उसकी पहली अवस्था को, जिसमें कि एकता का तत्व प्रमुख है न कि अनेकता का, प्रकृति की संज्ञा देते हैं। बाद वाली अवस्था जिसमें कि वह तत्व अनेकता के द्वारा अंतर्हित हो जाता है, हमारे नित्य-प्रति के जीवन का व्यावहारिक जगत ही है। परन्तु विश्व इस भौतिक जगत में ही परिसमाप्त नहीं हो जाता है। उसमें एक आत्म-तत्व भी है। उसे आत्मा कहते हैं। यहाँ तक तो यह विवेचन वैसा ही है जैसा कि सांख्य योग में मिलता है। हाँ, इस अवस्था में दोनों मतों में एक मतभेद दिखाई देने लगता है। हम विश्व को जिस रूप में जानते हैं उसके उस स्वरूप के अवयव-भूत आत्म-तत्व और भूत-तत्व के सम्बन्ध में ही इस मतभेद के यथार्थ-स्वरूप और उसके परिणामों को समझाएँगे।

यह तो स्मरण ही होगा कि सांख्य-योग इस सम्बन्ध को संतोषजनक रूप से नहीं समझा सका। अद्वैत तो निश्चित रूप से इस बात का खण्डन करता है कि आत्म-तत्व और भूत-तत्व जैसे विरोधी तत्वों के बीच भी कोई सम्बन्ध हो सकता है। परन्तु साथ ही यह भी नहीं भूला जा सकता कि प्रतीति का निरीक्षण करने पर हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि वे एक दूसरे के सहवर्ती ही नहीं हैं वरन प्रायः लाक्षणिक रूप से उन दोनों में तादात्म्य भी रहता है, जैसे उदाहरणतया जब कोई व्यक्ति यह कहता है, "मैं चल रहा हूँ", तो उससे व्यक्ति और चलने का तादात्म्य विवक्षित होता है। यहां चलने की क्रिया स्पष्टतः भौतिक शरीर को विशिष्ट करने वाला लक्षण होते हुये भी उसकी आत्मा का ही वाचक है। इसका कारण क्या है यह समझाने के लिए केवल एक ही कल्पना की जा सकती है, वह यह है कि उनका संयोग अवश्य ही आभास मात्र होना चाहिए अथवा दूसरे शब्दों में यह कि उनका पारस्परिक सम्बन्ध परमार्थतः मिथ्या है। शंकर ने वेदान्त-सूत्र के भाष्य की अपनी सुविख्यात प्रस्तावना में इस विषय को लिया है। उनकी यह प्रस्तावना बहुत संक्षिप्त है और वह ऐसी शैली में लिखी गई है जिसे हम उनकी 'सांकेतिक शैली' कह सकते हैं। उसमें वे कहते हैं कि "आत्मा (विषयी) अथवा अस्मत्प्रत्ययगोचर तत्व और अनात्मा (विषय) अथवा युष्मत्प्रत्ययगोचर तत्व इतने विरुद्ध स्वभाव वाले हैं कि उनमें एक दूसरे के धर्मों की उपपत्ति नहीं हो सकती।" इस सिद्धान्त को स्वीकार करने से यह तो अनिवार्य रूपेण अपने-आप ही सिद्ध हो जाता है कि उन दोनों में से (जिनके पारस्परिक संयोग के विषय में कहा गया है) एक तो असत् है ही। हाँ, दोनों ही को असत् नहीं माना जा सकता, क्योंकि उस दशा में वे दोनों और उनके सम्बन्ध ये तीनों ही तत्वों के मिथ्या हो जाने के कारण तथा इस कारण कि मिथ्यात्व का विचार अनिवार्यतः सत्य के एक आदर्श (स्तर) का संकेत

करता है, हमें एक अन्य सत्य-तत्व की कल्पना करनी पड़ेगी जिससे हम उस सत् तत्व की दृष्टि से उनको मिथ्या कह सकें। इसीलिए अद्वैत वाद में यह निश्चित रूप से मान लिया जाता है कि भूत-तत्व ही मिथ्या है। दूसरे सम्भव पक्ष को स्वीकार करने का परिणाम होगा भौतिकवाद (materialism)। यह तो हम देख ही चुके हैं कि यह भौतिक वाद मण्डनीय नहीं है।

यही वह युक्ति है जिसके द्वारा अद्वैत उस परिणाम पर पहुँचता है जिसका उल्लेख पहले ही किया जा चुका है। वह परिणाम यह है कि भौतिक जगत केवल एक प्रतिभास-मात्र है और सांख्य-योग से अद्वैत का जो मौलिक मत-भेद है वह इसी में निहित है। इससे यही मतलब निकलता है कि इसका कारण-स्वरूप अर्थात् प्रकृति भी मिथ्या है अथवा अद्वैतवादियों की शब्दावली में सदसद्विलक्षण है। अद्वैतमत में इसे माया कहते हैं, परन्तु जब तक हम यह नहीं भूलते हैं कि सांख्य-योग की भांति न तो वह यहां सत् ही है और न पुरुष (आत्मा) से स्वतंत्र ही, तब तक उसके लिए हम प्रकृति शब्द का प्रयोग कर सकते हैं। अर्थात् कहने का तात्पर्य यह है कि यदि माया को स्वीकार करने से यह समझ में आ सकता है कि जगत् क्या है तो जगत् के परे स्वयं माया क्या है उसका हमें पता लगाना पड़ेगा। माया इस दृष्टि से अपूर्व है कि वह न तो सत् है और न असत्, परन्तु वह पारमार्थिक नहीं है। जिस सत्ता को स्वीकार करने से यह समझ में आ सकता है कि माया क्या है, वह है आत्मा। अद्वैत के आधुनिक ग्रन्थों में कभी-कभी माया को अनिर्वचनीय कहा गया है और इसलिए यह कहा जाता है कि इस दर्शन में जगत् के स्वरूप को समझाने की असमर्थता स्वीकार की गई है। परन्तु, ऊपर जो कहा गया है उससे यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि माया इस अर्थ में "अनिर्वचनीय" नहीं है बल्कि उसका स्वरूप स्वतः स्पष्ट

नहीं है। इस प्रकरण को समाप्त करने के पूर्व यह और कहा जा सकता है कि यहाँ माया के विकार बहुत कुछ वही हैं जो सांख्य-योग में प्रकृति के हैं।

(२) ब्रह्म :—आरम्भ में हमने प्रकृति को भौतिक जगत के मूल-कारण के रूप में निरूपित किया था और बाद में हम इस निर्णय पर भी पहुँच चुके थे कि वह मूल कारण वस्तुतः असत् है और इस कारण उससे यह अनिवार्य रूपेण विवक्षित होता है कि उसका एक अधिष्ठान-आत्मतत्व होना चाहिए। अद्वैतवादियों का परमतत्व ब्रह्म इसी आत्म-तत्त्व का, जो प्रत्येक वस्तु का परम आधार है, निर्देश करता है। जगत में जो कुछ भी सत्य अभिव्यक्त होता है उसी (ब्रह्म) से ही उसकी उपलब्धि होती है। अस्तु, जगत का निषेध करने का अर्थ यह है कि हम ब्रह्म से स्वतंत्र अथवा पृथक रूप में अनेक जगत्) के अस्तित्व का निषेध करते हैं। इसी को दूसरे शब्दों में इस प्रकार कहा जायगा कि जगत ब्रह्म का स्वरूप अथवा भाग नहीं है बल्कि उसका आभास-मात्र है। इसी से हम यह कह सकते हैं कि जगत माया का यथार्थ रूपान्तर हैं अथवा वह एक ऐसा रूपान्तर है मानो वह ब्रह्म का रूपान्तर हो। इस अन्तर के सम्बन्ध में एक बात ध्यान देने योग्य है। वह यह है कि जब माया की भावना इस प्रकार की जाती है कि जगत को अभिव्यक्त करने की क्रिया में उसमें भी वस्तुतः परिवर्तन हो जाते हैं तो ब्रह्म को उसी में परिवर्तन-हीन माना जाने वाला माना जाता है। इस कारण हम ब्रह्म को भी विश्व के कारण के रूप में ग्रहण कर सकते हैं जिस अर्थ में कि भ्रम की प्रतीति के उदाहरण में रज्जु सर्प का कारण है। जिस प्रकार रज्जु के बिना सर्प का नाम भी न होता ठीक उसी प्रकार आत्मा अथवा ब्रह्म ही एकमात्र सत् है क्योंकि शेष सब या तो माया है अथवा उसका विवर्त। यद्यपि, विश्व क्या है इसे उसके (ब्रह्म) बिना नहीं समझाया जा सकता है तथापि ब्रह्म स्वयं अपने में

ऐक्य और साथ ही अनैक्य से, जो व्यावहारिक जगत को विशिष्ट करने वाले लक्षण हैं, विमुक्त हैं। वह समस्त अनुभव मूलक गुणों के परे है जैसा कि 'नेति नेति' (यह नहीं, यह नहीं) इस सुप्रसिद्ध उपनिषद्वाक्य में बताया गया है। अस्तु, ब्रह्म को गुणों से रहित अथवा निर्गुण माना जाता है।

यहाँ स्वभावतः एक यह प्रश्न उठता है कि क्या इस प्रकार का तत्व विकल्पमात्र नहीं है। शंकर ने इस आक्षेप के जोर को स्वीकार किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने ठीक यही आक्षेप उपनिषदों के किसी अन्य अद्वैतवादी मत (सत्ताद्वैत) के विरुद्ध भी उठाया था और उपर्युक्त मत कि ब्रह्म ही विश्व-व्याप्त सत्व है उनके समय में प्रचलित था। शंकर के अद्वैतवाद का उससे यह मतभेद है कि उसमें परम· को विषयात्मक रूप में ग्रहण नहीं किया जाता है बल्कि आत्मा से उसका आन्तरिक तादात्म्य माना जाता है (आत्माद्वैत)। इस परिवर्तन भावना के फलस्वरूप यह यथासम्भव पूरा-पूरा निश्चित हो जाता है कि ब्रह्म सत् है क्योंकि सम्भवतः अपने अस्तित्व में जितनी दृढ़ता के साथ विश्वास हो सकता है उतना निश्चय किसी अन्य वस्तु का नहीं हो सकता। कहा गया है कि मनुष्य बहुत सी बातों के प्रति और किसी भी वस्तु के प्रति सन्देह कर सकता है, परन्तु वह स्वयं अपने अस्तित्व के प्रति कोई संशय नहीं प्रकट कर सकता क्योंकि सन्देह करने की वह क्रिया विशेष ही उसके अस्तित्व को स्थापित करती है। इस प्रकार शंकर के अनुसार सत और असत का परीक्षण करने में हम अन्ततः किसी अपने ही में रहने वाले तत्व के द्वारा समार्थत होते हैं। इस प्रकार के मत का यह अर्थ नहीं है कि हमें आत्मा पूर्णतया ज्ञात रहती है। वस्तुस्थिति इससे कहीं दूर है। परन्तु साथ ही वह पूर्णतया अज्ञात भी नहीं रहती। इस बात पर विचार करने से अद्वैतवादियों के परमतत्व का अन्तर उपर्युक्त विश्वव्याप्त सत्व से ही नहीं

वरन् (पाश्चात्य दर्शन के एक समानान्तर मत) कान्ट के वस्तुस्वरूप (Thing-in-itself) से भी स्पष्ट हो जाता है। इस सम्बन्ध में हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि ब्रह्म को निर्गुण कहने का यह तात्पर्य है कि वह द्रव्य और अन्तर के परे है, न कि यह कि वह गुणों से रहित द्रव्य है।

(३) सगुण ब्रह्म:—इस प्रकार हम देखते हैं कि ब्रह्म और माया दोनों ही जगत के कारण रूप में निरूपित किये जा सकते हैं यद्यपि यह भिन्न-भिन्न अर्थ में ही हो सकता है। यदि अब हम दोनों को सम्मिलित रूप से एक साथ जगत के कारण के रूप में ग्रहण करना चाहें तो उनका सांकर्य अथवा समन्वय ही सगुण ब्रह्म के नाम से प्रसिद्ध तत्त्व बन जाता है। इसी ब्रह्म में ज्ञान प्राप्त करने वाली आत्माओं के सहित प्रतीतिभूत समस्त भेद का अन्तर्भाव है। इस अर्थ में माया की भांति ही ब्रह्म की भावना भी कार्य रूप और कारण रूप इन दो अवस्थाओं में की जा सकती है। पहली अवस्था में भेद अव्यक्त रूप से निहित रहता है किन्तु बाद वाली में वह अभिव्यक्त हो जाता है। परन्तु इस प्रकार ब्रह्म का सांकर्य माया के मिथ्यात्व के साथ हो जाता है इस कारण वह प्रतीयमान जगत के स्तर पर उतर आता है और परिणामस्वरूप पर-ब्रह्म से उसका भेद करने के लिए उसे अपर-ब्रह्म की संज्ञा दी जाती है। उस समय वह समष्टिरूप में जीवात्मा अथवा अहं तत्व का समानान्तर हो जाता है। दोनों में से प्रत्येक ही मिथ्या उपाधि विशिष्ट ब्रह्म है, अन्तर केवल यह है कि एक (सगुण ब्रह्म) के पक्ष में उपाधि सर्व-व्याप्त है और दूसरे (प्रत्यगात्मा) के पक्ष में अविच्छिन्न है। समष्टिरूप में सगुण ब्रह्म की उपाधिभूत को माया से भिन्नता स्पष्ट करने के लिए ही कभी-कभी जीव की सीमित उपाधि अविद्या की संज्ञा दी जाती है। इस मत में माया एक समष्टि है और जीवों से सम्बद्ध जो अनेक अविद्याएँ हैं वे उसकी व्यष्टियाँ अथवा स्वरूप हैं। जिस प्रकार संपूर्ण जगत् के वे भाग जो

भौतिक शरीर अथवा अंतःकरण की भांति जीव के कोश हैं, उस जीव विशेष की अविधा से उत्पन्न हुए माने जाते हैं। सगुण ब्रह्म का जीव से अथवा जीव का दूसरे जीव से जो अन्तर दिखाई देता है वह पूर्णतया किन्हीं भिन्न-भिन्न उपाधियों के कारण होता है। अपने में जीव एक दूसरे से अथवा सगुण ब्रह्म से भिन्न नहीं है। जीव और ब्रह्म इन दो शब्दों के अर्थों के भिन्न-भिन्न होने पर भी जिन वस्तुओं का वे संकेत करते हैं उनमें तादात्म्य होना अद्वैतवादियों के अनुसार "तत्त्वमसि" (वह तू ही है) वाक्य की व्याख्या ही है। जैसा कि प्रायः निरूपित किया जाता है इसका अर्थ यह नहीं है कि मनुष्य और सगुण ब्रह्म अथवा ईश्वर (ईश्वर शब्द का तात्पर्य हम शीघ्र ही समझाएँगे) स्वरूपतः एक ही है। अद्वैत के अनुसार इस प्रकार का मत उतना ही निन्दनीय है जितना कि वह किसी धर्म अथवा शुद्ध आस्तिक तन्त्रों के अनुसार हो सकता है।

यदि सगुण ब्रह्म पर व्यक्तित्व का आरोपण कर दिया जाता है तो वह अद्वैतवादियों का ईश्वर हो जाता है। इसी प्रकार ईश्वर को भी जीवात्मा की समष्टि के रूप में निरूपित किया जा सकता है, क्योंकि उनके बीच जो अन्तर है वह पूर्णतया उपाधियों का ही है। इस भेद के परिणामस्वरूप ईश्वर अविच्छिन्न उपाधि के संपर्क में आने के फल-स्वरूप होने वाले अनुराग और घृणा जैसे संकीर्ण दुष्परिणामों में अस्पृष्ट रहता है। आसक्ति होने पर ही प्रिय और अप्रिय का प्रश्न उठता है, परन्तु सब से समान रूप में आसक्त रहने के कारण ईश्वर वस्तुतः निःसंग है। एक संस्कृत श्लोक में यह कहा गया है कि—"ममत्व का त्याग कर देना चाहिये, परन्तु यदि ऐसा करना सम्भव न हो तो हमें अपने में ममत्व को उत्पन्न करना चाहिए परन्तु यह ममत्व (आसक्ति) सबों में समान होना चाहिए।" प्रचलित धर्म की भाषा में ईश्वर को जगत के सृष्टा के रूप में और माया को जगत् की सृष्टि में सहायता प्रदान

करने वाली शक्ति के रूप में निरूपित किया गया है। इस रूप में वह जगत् का उपादान और साथ ही निमित्त कारण हो जाता है और कभी-कभी उसे जगत् की सम्पूर्ण लीला को अपने में से ही उद्भूत करने वाला महा-मायावी भी कहा जाता है। जिस बात से उसको मायावी उपमा दी जाती है वह यह है कि वह दूसरों की भांति उस लीला से भ्रमित नहीं होता है, क्योंकि उसको अपने वास्तविक रूप की अव्यभिचारी प्रतीति होती है। जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं यही कारण है कि दोष उसका स्पर्श तक नहीं करता है। हमें यह भूल न जाना चाहिए कि न तो सगुण ब्रह्म और न ईश्वर, बल्कि परब्रह्म ही वस्तुतः परमतत्व है। ईश्वरादि की जो भावनाएँ की गई हैं वे मन्द साधकों को परमसत्व की यथार्थ भावना तक पहुँचाने के लिए सोपान के समान हैं।

(४) जीव :—जीव का ब्रह्म और जगत से क्या सम्बन्ध है इस विषय में हम कह ही चुके और अब उस सम्बन्ध में कुछ कहने को नहीं है। आत्मा तथा अनात्म तत्वों का समन्वय होने के कारण जीव का स्वरूप भी ब्रह्म के समान ही विषम है। जिस अनात्म-तत्व का उल्लेख किया गया है और जिस प्रकार सगुण ब्रह्म के पक्ष में माया है उसी प्रकार जीव के पक्ष में अविद्या है और इस प्रकार अविद्या तथा माया में अनुरूपता है। हम यह कह सकते हैं कि माया में जीव का जो भाग है वही अविद्या है अथवा उसको माया का ही लघु-स्वरूप कहा जा सकता है। परन्तु यह विवरण शाब्दिक रूप में केवल घोर अथवा स्वप्न रहित सुषुप्ति की अवस्था में ही लागू होता है। स्वप्न की अवस्था में जीव अविद्या से नहीं बल्कि मुख्यतः अन्तःकरण की उपशाखाओं से ही संयुक्त रहता है। जाग्रत अवस्था में वह भौतिक शरीर से भी संयुक्त रहता है और यह भौतिक शरीर भी उसी भांति अविद्या से उत्पन्न होता है। यद्यपि जीव और ईश्वर दोनों ही का स्वरूप समान रूप से अविच्छिन्न है

तथापि जैसा कि हम देख ही चुके हैं उनमें महान अन्तर है। एक (जीव) पक्ष में आत्म और अनात्म इन दोनों तत्वों में प्रगट रूप से नहीं तो गूढ़ रूप से मिथ्या तादात्म्य स्थापित किया जाता है परन्तु दूसरे में ऐसा नहीं होता। इसी मिथ्या तादात्म्य से जीवन के समस्त उद्वेग, भ्रान्तियाँ और विपत्तियों का उदय होता है। इसी अविच्छिन्न (लिप्त) स्वरूप में आत्मा विषयी के रूप में व्यापारशील होती है और इसी कारण भ्रम अथवा आत्मा और अनात्मा का मिथ्या तादात्म्य सब प्रकार की प्रतीति के पूर्व होता है। वास्तव में वह उसके लिये अनिवार्य रूप से नियत-पूर्ववर्ती है। पुनः, यह अविच्छिन्न तत्व ही, जो अविद्या के पूर्ववर्तित्व को स्वीकार करता है, आवागमन के चक्र में पड़ा रहता है। इस बात से यह विवक्षित होता है कि अविद्या के विनाश पर निर्भरने वाला मोक्ष अहं प्रत्यय के परे जाता है। इस प्रकार यद्यपि यह एक विरोधाभास का प्रतीत होता है तथापि मनुष्य को वस्तुतः अपने से परे जाना ही होगा।

उपर्युक्त विवेचन से हम यह समझने में समर्थ हो सकेंगे कि अद्वैतवादियों के अनुसार साक्षी की क्या भावना की गई है। यह भावना सांख्य-योग के पुरुष की भावना से बहुत मिलती है। यहाँ जीव ही अपने यथार्थ स्वरूप में, न कि अपनी किसी उपाधि के साथ अथवा उससे सम्बद्ध होकर, वरन् सबों से पृथक रूप में साक्षी माना जाता है। इस प्रकार वह शुद्ध चैतन्य "देखने वाला प्रकाश" है और वस्तुतः ब्रह्म से अभिन्न है। जीव अथवा अनुभवमूलक अहंकार से उसका अन्तर स्पष्ट करने के लिये हम उसे अनुभवातीत अहंकार कह सकते हैं। जब हम यह कहते हैं कि वह चैतन्य है तो जिस प्रकार के ज्ञान से हम परिचित हैं उसके साथ साक्षी का सांकर्य नहीं कर देना चाहिये। जीव अथवा विषयी की अवस्था एक होने के कारण वृत्तिज्ञान अनिवार्यतः विक्षिप्त अन्तःकरण से अविच्छिन्न होकर प्रकट होता है और इसीलिये उसके साथ

ही परिवर्तित होता रहता है, परन्तु जीव अपने में चैतन्य होने के कारण (स्वरूप ज्ञान) कभी परिवर्तित नहीं होता क्योंकि यहाँ प्रत्येक परिवर्तन चैतन्य के लिये न कि चैतन्य में माना जाता है। इसलिये जब हम यह कहते हैं कि ज्ञान उदित और विलीन होता रहता है तो उससे हमारा तात्पर्य केवल अन्तःकरण में होने वाले परिवर्तनों से होता है और भ्रमवश इस अन्तःकरण का ही मिथ्या तादात्म्य साक्षी के साथ स्थापित कर दिया जाता है। इस प्रकार साक्षी प्रतीतिमूलक ज्ञान में निहित रहता है। ऐसे सभी विचारों में उसका अन्तर्भाव रहता है, परन्तु उससे उसकी एक-रूपता नहीं होती। उसके अस्तित्व का अनुमान हम इस सिद्धान्त से लगाते हैं कि ज्ञाता ज्ञेय से अन्य होना चाहिये। इस सिद्धान्त से यह प्रकट होता है कि आत्म-बोध, जिस प्रकार कुमारिल जैसे दार्शनिकों के द्वारा उसकी विवेचना की गई है, विरोधोक्ति मात्र है। कहा जाता है कि कोई भी वस्तु एक और उसी क्रिया का कर्ता और कर्म दोनों नहीं हो सकती है। नेत्र दूसरी वस्तुओं को देख सकता है किन्तु स्वयं अपने को नहीं। निःसन्देह यह सत्य है कि हम यह कहते हैं कि हमें अपना ज्ञान है, परन्तु उस समय हमारा तात्पर्य केवल जीव से रहता है जिसमें शरीर और अन्तःकरण जैसे अनात्मिक अथवा ज्ञेय तत्वों का समावेश भी रहता है। वास्तव में हमें जिसका ज्ञान प्राप्त होता है वह अहं (मैं) नहीं है वरन् मम (मेरा है। वास्तविक आत्मा का ज्ञान नहीं प्राप्त हो सकता, परन्तु यह नहीं है कि इसी कारण उसका कभी साक्षात ही न हो, क्योंकि वह स्वतः प्रकाशित होने वाली है। वस्तुतः पूर्णतया अन्तर्निहित तो वह कभी हो ही नहीं सकती।

अद्वैतवादी इस सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं कि प्रत्यक्ष किसी माध्यम के द्वारा होता है और प्रत्यक्ष व्यापार की जो व्याख्या उन्होंने की है वह बहुत कुछ वैसी ही है जैसी कि सांख्ययोग में पायी जाती है। मीमांसकों के नेतृत्व का अनुसरण करके वे भी, अन्य वेदान्तियों की

भांति ज्ञान के स्वतः-प्रामाण्य में विश्वास करते हैं, परन्तु भ्रम के विषय में उनका जो मत है वह सब मतों से भिन्न है वे यह मानते हैं कि समस्त ज्ञान का कोई अधिष्ठान होता है जो ज्ञान के विषय के पूर्णतया अनुरूप होता है और भ्रम इस नियम का कोई अपवाद नहीं है। अर्थात्, कहने का तात्पर्य यह है कि समस्त ज्ञान अपने से अतीत किसी अर्थ अथवा विषय का निर्देश करता है। परन्तु उनके मतानुसार भ्रम का विषय यथार्थ ज्ञान के विषय से भिन्न श्रेणी का है क्योंकि भ्रम-ज्ञान के विषय का तो बाद में प्रतिषेध कर दिया जाता है किन्तु यथार्थ ज्ञान के विषय का प्रतिषेध उस प्रकार नहीं हो सकता। कभी न कभी तो यह पता ही लग जाता है कि भ्रान्तिवश प्रतिभासित होने वाला मिथ्या सर्प रज्जु मात्र है। परन्तु मेजों और कुर्सियों अथवा पर्वतों और सरिताओं जैसे प्रतीयमान पदार्थों का उसी प्रकार से निषेध नहीं किया जा सकता। साधारण अर्थ में उनका अस्तित्व उनका ज्ञान होने के पहले तो रहता ही है, वरन् बाद में भी बना रहता है। दूसरी ओर भ्रम का विषय तभी तक स्थिर रहता है जब तक कि उसका ज्ञान रहता है। वह अपने ज्ञान के साथ ही अस्तित्व में आता है और उसी के साथ अन्तर्निहित हो जाता है। इस प्रकार वे दोनों साथ साथ विलीन होने वाले हैं। परन्तु यद्यपि इस प्रकार निषेध हो जाने के कारण भ्रान्तिवश प्रतीत होने वाला अर्थ सत नहीं माना जा सकता तब भी वह असत नहीं है क्योंकि हमें यह स्पष्ट रूप से प्रतीत होता है कि वह वहाँ पर है, और यह सुस्पष्ट है कि अत्यन्त अभाव कभी भी अपने को ज्ञेय रूप में प्रतिभासित नहीं कर सकता है अर्थात् वह न तो सत् माना जा सकता है और न असत् (सदसद्विलक्षण)। अस्तु, अद्वैतवादियों का भ्रम का सिद्धान्त "अनिर्वचनीय-ख्याति" (अनिर्वचनीय का ग्रहण करना) कहा जाता है। यहाँ अनिर्वचनीय शब्द उसके लिये आया है जिसका सत् और असत् दोनों ही तरह से विवेचन नहीं हो सकता। इस प्रकार

दो श्रेणियाँ अथवा सत्ताएँ हैं। यथार्थ सर्प तथा मिथ्या सर्प को इनके उदाहरण के रूप में लिया जा सकता है। यदि हम ब्रह्म को भी, जो समान रूप से उन दोनों का आधार बना हुआ है, इसमें संयुक्त कर देते हैं तो हमें अद्वैत ग्रन्थों में उल्लिखित सत्य की तीन श्रेणियाँ प्राप्त हो जाती हैं। उनमें से पारमार्थिक दृष्टि से रज्जु जैसे अर्थ सत्य होते हैं क्योंकि नित्य न होने पर भी वे किसी न किसी रूप (जैसे यदि रज्जु रूप में नहीं तो रेशों के ही रूप में) तब तक स्थित रहते हैं जब तक कि हम उन्हें सामान्य प्रतीति की दृष्टि से देखते हैं। जहाँ केवल रज्जु है वहाँ सर्प के अस्तित्व का दर्शन करना "प्रतिभासिक" कहा जाता है। इसका विशिष्ट लक्षण यह है कि जब भ्रम दूर हो जाता है तो वह पूर्णतया विलुप्त हो जाता है। बाद के दो प्रकार के (व्यावहारिक और प्रातिभासिक) सत्यों में जो अन्तर है उसे एक अन्य रीति से भी समझाया जा सकता है। प्रतिभासिक पदार्थ केवल व्यक्तिगत प्रतीति में ही रहता है। जब कोई रज्जु को भ्रमवश सर्प समझ रहा हो तो दूसरे उसे उसी समय रज्जु रूप में ही देख सकते हैं। अस्तु, ऐसे पदार्थों को व्यक्तिगत कहा जा सकता है। दूसरी ओर यह देखते हुये कि इसके अस्तित्व का दूसरे भी समर्थन करते हैं, व्यावहारिक पदार्थ "सार्वजनीन" होते हैं। प्रातिभासिक पदार्थों को "व्यक्तिगत" कहने का यह अर्थ नहीं है कि वे विषयी सम्बन्धी (ज्ञानमात्र) हैं, जैसा कि योगाचार सम्प्रदाय में है, वरन् जैसा हमने अभी कहा है, वे ज्ञान से अन्य हैं।

भ्रमविषयक इस मत से हम यह पता लगा सकते हैं कि अद्वैतवादियों ने सत्य की क्या भावना की है। अभी जो कहा गया है उसके अनुसार ज्ञान तभी सत्य होता है जब ज्ञान के विषय का कोई भी अंश असत्य समझ कर तिरस्कृत नहीं कर दिया जाता अथवा दूसरे

शब्दों में, जब उसका निषेध हमारी शेष प्रतीति द्वारा नहीं होता प्रत्युत उसमे उसका पूर्ण साम्य रहता है। इससे यह निर्दिष्ट होता है कि ज्ञान की यथार्थता सत्य से उसकी (ज्ञान की) अनुरूपता पर नहीं वरन् दूसरे ज्ञान से उसके अप्रतिषेध अथवा संगति पर निर्भर है। इस प्रकार ज्ञान की यथार्थता सत्य से उसकी अनुरूपता पर निर्भर है। इस सिद्धान्त के निराकरण का अर्थ यह नहीं है कि इस मत को अस्वीकार किया गया हो कि ज्ञान अपने से बाहर किसी अपने अनुरूप अर्थ का संकेत करता है। इसका अर्थ तो केवल इतना है जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, कि समग्र ज्ञान समान रूप से अपने किसी अधिष्ठान से अनुरूपता रहने की शर्त की पूर्ति करता है। इस कारण अनुरूपता को सत्य का परिच्छेदक लक्षण नहीं माना जा सकता। परन्तु संगति अथवा अविरोध, यद्यपि साधारणतः सत्य का लक्षण हो सकता है परन्तु अन्ततः उसे पर्याप्त नहीं माना जा सकता। इसका कारण यह है कि ऐसे सत्य एक से अधिक प्रकार के हो सकते हैं। उदाहरणतः विज्ञान जगत सत्य का एक प्रकार का प्रदेश है और कला जगत जैसे शेक्सपियर का "ओथेलो" या स्काट का "आइवन हो" दूसरे प्रकार का। वे सापेक्ष होते हैं और एक में जो सत्य है वह दूसरे में सत्य नहीं भी हो सकता। पारमार्थिक सत्य में इस प्रकार के समस्त सत्यों का अन्तर्भाव रहता है और वह उनके स्वरूप और कारण को साक्षात रूप से समझता है (उदाहरणतः विज्ञान-जगत के पक्ष में) अथवा कम से कम परोक्षरूप से अन्तिम अधिष्ठान होकर (उदाहरणतः कला जगत के पक्ष में), जैसे रज्जु मिथ्या सर्प के स्वरूप और कारणों को समझता है। अतएव, उसे अविरोध की कसौटी पर ही खरा नहीं उतरना चाहिये प्रत्युत उसे व्यापक भी होना चाहिये। समस्त अस्तित्व का ऐक्य ही सत्य है—"सर्वंखल्विद' ब्रह्म" (यह सब कुछ ब्रह्म ही है)।

परन्तु यह बता देना चाहिये कि यह परम सत्य के स्वरूप को व्यावहारिक दृष्टि से प्रकट करने के लिए ही कहा गया है क्योंकि अविरोध के प्रत्यय से भेद की सत्यता परिलक्षित होती है, जब कि अद्वैत के अनुसार परमार्थतः समस्त भेद मिथ्या है। इस प्रकार पारमार्थिक दृष्टि से सत्य ही वह अधिष्ठान है समस्त भेद जिसका कि आभास है और वह अधिष्ठान ब्रह्म ही है। सत्य और सत्-तत्व में जो भेद रहता है वह यहां अन्य भेदों की भांति ही लुप्त हो जाता है और हम अपनी इच्छानुसार ही उसको सत्-तत्व अथवा सत्य इन दोनों में से किसी भी रूप में ग्रहण कर सकते हैं। उपनिषदों की शब्दावली में वह सत्य है और साथ ही ज्ञान भी है। नाम में जो भिन्नता है वह इस कारण है कि हम उसको भिन्न-भिन्न प्रकार से ग्रहण करते हैं। ब्रह्म अपने में सत्य और ज्ञान, जिस रूप में हमें उनका परिचय होता है, दोनों से ही अतीत है। यद्यपि उसको ग्रहण करने से उन दोनों का स्वरूप और कारण समझ में आ जाता है। ऊपर जिस समस्त अस्तित्व के ऐक्य की सर्वोत्कृष्ट व्यावहारिक सत्य के रूप में कल्पना की गई है वह इस प्रकार अन्त में अपने को आत्मा की एकमात्र सत्यता तक ही सीमित कर देता है। यह निष्कर्ष—'तत्वमसि' (वह तू ही है) और "सर्वंखल्विदं ब्रह्म" की शिक्षा के समान ही है। उनमें केवल यह अन्तर है कि जहां एक पक्ष में तो परम सत-तत्व को विषय रूप में ग्रहण किया गया है वहीं दूसरे पक्ष में उसको विषयी रूप में ग्रहण किया गया है। इसलिए यद्यपि पारमार्थिक दृष्टि से सत्य में असंगति हो सकती है तब भी उसे अबाध कहा जा सकता है। इसका कारण यह है कि आत्मा को अस्वीकृत करना अथवा उसका निषेध करना असम्भव है, क्योंकि इस प्रकार का निषेध स्वयं ही आत्मा का विचार अथवा प्रकटीकरण होता है।

हमने अब तक जिन छः प्रमाणों का उल्लेख किया है अद्वैतवादी उन सभी को स्वीकार करते हैं। उनके तद्विषयक मत के बहुत कुछ

कुमारिल के मत के समान होने के कारण उनके विषय में कुछ अधिक कहना आवश्यक नहीं है। यह तो हमें पता ही है कि वेद एक प्रकार का शब्द प्रमाण है। वेद-सम्बन्धी दोनों के मतों की दृष्टि से दोनों में एक महत्वपूर्ण अन्तर है। उसका उल्लेख कर देना ही यहां पर्याप्त होगा। इसका सम्बन्ध उन उक्तियों से है जिनके आधार पर वेद के प्रामाण्य का प्रतिपादन किया जाता है। मीमांसकों के विपरीत अद्वैत-वादियों का यह मत है कि वेदों का एक कर्ता है और वह कर्ता ईश्वर है। परन्तु कर्ता शब्द के सर्व-स्वीकृत अर्थ में वेद ईश्वर की कृति नहीं है। अन्य सभी वस्तुओं के समान ही वेद भी प्रत्येक सर्ग के अन्त में लुप्त हो जाता है और दूसरे सर्ग के प्रारम्भ में ईश्वर उसे पहले की भांति ही पुनः सुना देता है। इस कारण जिस अर्थ में हम सदृश वस्तुओं के अनादि संतान को नित्य कह सकते हैं उसी प्रकार हम वेद को नित्य मान सकते हैं। अतएव, जहां तक इसके भाव और शाब्दिक स्वरूप का सम्बन्ध है वहां तक यह वस्तुतः ईश्वर से स्वतत्र (अपौरुषेय) होता है, यद्यपि प्रत्येक सर्ग के प्रारम्भ में उसका सृजन उसी (ईश्वर) के कारण होता है। इस प्रकार मीमांसा के प्रत्यक्षतः अविश्वसनीय सिद्धान्त से, कि वह स्वयंभू तथा नित्य है, सम्मत हुये बिना ही वेद का स्वतः प्रामाण्य निश्चित हो जाता है। हम इतना और कह सकते हैं कि अद्वैतवादी इस मत में न्याय से भी मतभेद रखते हैं क्योंकि न्याय में ईश्वर पर साधारण अर्थ में ही वेद का कर्तृत्व आरोपित किया जाता है। वेद का अद्वैतवादी मत, जो कि तद्विषयक न्याय और मीमांसा के मतों के बीच का है, वेदान्त के सभी सम्प्रदायों में समान है।

(२)

अद्वैत में जीव के स्वरूप की जो विवेचना की गई है उससे इस बात का अपरोक्ष रूप से अनुमान लगाया जा सकता है कि अद्वैत के

अनुसार मानव-जीवन का उद्देश्य क्या है। जीव स्वयं ब्रह्म ही है और उसका ब्रह्म से साधारणतः जो अंतर माना जाता है वह पूर्णतया इस कारण होता है कि भ्रम के कारण प्रतिभासित होने वाली उपाधियों से उसका तदाकार हो जाता है। इसी से इस सत्य का दर्शन करना और ज्ञान प्राप्त करना ही मनुष्य जीवन का परम लक्ष्य है। आत्मा के जो भी विभिन्न कोश हैं सभी मिथ्या हैं और आत्मा का उनसे जो तदाकार होता है वह भी भ्रान्ति-पूर्ण होता है। इस कारण ज्ञान-तत्व ही उनसे मुक्त होने का उपाय है। दूसरे दर्शनों की भांति यहां भी लक्ष्य प्राप्ति का अर्थ एक परिवर्तन ले आना है, अन्तर केवल यह है कि प्रस्तुत दर्शन में परिवर्तन (गति) जीव के स्वरूप में नहीं माना जाता है बल्कि उसके ज्ञान (अवगति) में। कहने का तात्पर्य यह है कि मुक्त होने के लिए मनुष्य को अपने प्रति और जगत के प्रति अपने दृष्टिकोण को पूर्णतया परिवर्तित करना पड़ता है, इसलिए परम मोक्ष का अर्थ यह नहीं है कि आत्मा के स्वरूप में कोई यथार्थ परिवर्तन हो जाता है। एक सुपरिचित उदाहरण लीजिये—चन्द्रग्रहण में चन्द्रमा वस्तुतः पृथ्वी की छाया के कारण दुर्लक्ष्य हो जाता है और जब तक कि सम्बन्धित ग्रहों की सापेक्ष स्थिति में परिवर्तन नहीं हो जाता और उसके द्वारा यह दुर्लक्ष्यता दूर नहीं हो जाती और सूर्य का प्रकाश उस पर पुनः पूरी तौर से नहीं पड़ने लगता तब तक उसमें ग्रहण लगा ही रहता है। यहाँ परिवर्तन वास्तविक है। दूसरी ओर सूर्य-ग्रहण में कुछ भी नहीं होता और ग्रहण के समय भी वह वैसा ही रहता है जैसा कि वह पहले था। सूर्य और चन्द्रमा के प्रति केवल प्रेषक की स्थिति से ग्रहण के मिथ्या प्रत्यय का उदय होता है। जब उस स्थिति में यथोचित परिवर्तन हो जाता है तो ग्रहण का प्रतीयमान होना स्वतः ही समाप्त हो जाता है। इसी प्रकार प्रस्तुत दृष्टान्त में ब्रह्म से आत्मा का नया तादात्म्य नहीं होता, वह तो रहता ही है। केवल उसका अपने अनुभव में साक्षात करना ही शेष रहता है।

इसका यह अर्थ नहीं है कि अद्वैत के अनुसार उसका साक्षात करने के लिए किसी व्यावहारिक संयम के नियमपूर्वक पालन करने की कोई आवश्यकता ही नहीं, परन्तु यह एक ऐसा विषय है जिस पर हम तत्काल ही लौट आएँगे।

दूसरे सम्प्रदायों के समान ही इसमें भी संयम के दो अङ्ग माने जाते हैं। पहला वैराग्य उत्पन्न करने के लिए है और दूसरा परमतत्व के ज्ञानार्जन और उस ज्ञान को साक्षात प्रतीति में परिवर्तित कर देने के लिए है। संयम का पूर्वांङ्ग, यह निर्देश करता है कि जिस प्रकार से गीता में शिक्षा दी गई है उसी रीति से कर्मों का पालन किया जाय, अर्थात् किसी सांसारिक फल की कामना से नहीं बल्कि चारित्र्य-पूर्णता की प्राप्ति की दृष्टि से (कर्म योग)। लक्ष्य की प्राप्ति के लिए साधना की यह प्रारम्भिक अवस्था इस मत में उतनी ही आवश्यक है जितनी किसी अन्य में। इसमें सन्देह नहीं हम जैसा कह चुके हैं यहाँ लक्ष्य (मोक्ष) प्राप्ति का तात्पर्य केवल यह है कि मनुष्य के जीव दृष्टिकोण में केवल परिवर्तन हो जाय, न कि यह कि उसका स्वरूप ही बदल जाय। तब भी यह सोचना तो गलत ही होगा कि इसी कारण अद्वैत हाथ पर हाथ रख कर बैठे रहने की शिक्षा देता है अथवा उसे ठीक समझता है। जीवन के सम्बन्ध में हमारे द्वैतवादी विश्वासों और उनके परिणाम स्वरूप उत्पन्न होने वाली अहंवादी प्रवृत्तियों की जड़ें हमारे अन्दर इतनी दृढ़ता से जमी हुई हैं कि जब तक उनको मूलतः बदल नहीं दिया जाता तब तक एकत्व के परम सत्व का ज्ञान प्राप्त करने की कोई चेष्टा सम्भव नहीं है। अनवरत रूप से कर्तव्य को दीर्घकाल तक पूर्ण अनासक्ति की भावना से करते रहने से उन प्रवृतियों को बदला जा सकता है। इस सम्बन्ध में अद्वैत विषयक सत्य की बौद्धिक उपलब्धि मात्र किसी लाभ की नहीं। जहाँ कुछ अन्य दर्शनशास्त्रों में नैतिक कर्मों के विषय में यह माना गया है कि वे अंतिम मोक्ष के लिए साक्षात रूप से

सहायक होते हैं, वहीं वेदान्त के अनुसार वे अप्रत्यक्ष रूप से ही सहायक हो सकते हैं। राग की परिशुद्धि में सहायता प्रदान करके नैतिक कर्म मनुष्य को इस योग्य बना देते हैं कि वह अपनी अहंकारात्मक प्रवृत्तियों के ऊपर उठ जाय। साथ ही वह उसे परम सत्य का गम्भीरतापूर्वक पालन करने के उपयुक्त भी बना देते हैं। परम्परागत शब्दावली में इसी को इस प्रकार कहा जायगा कि यहाँ कर्म को मोक्ष अथवा उसके साधन ज्ञान के कारण के रूप में नहीं प्रत्युत जानने की वास्तविक कामना (विविदिषा) के रूप में माना जाता है। इसी से आचार-विचार को यहाँ मोक्ष का परोक्ष-कारण अथवा आरादुपकारक कहा जाता है। इस प्रकार जिस उद्देश्य के लिए इस दर्शन शास्त्र में नैतिक कर्मों का विधान किया गया है, वह दूसरे दर्शन शास्त्रों में उनका (नैतिक कर्मों का) जो उद्देश्य है उससे भिन्न है। इसके अतिरिक्त, जैसा कि हम शीघ्र ही देखेंगे, इसमें मनुष्य की आध्यात्मिक उन्नति में एक ऐसी अवस्था को भी स्वीकार किया गया है जब कि उसके लिए कर्म का कर्म के रूप में कोई महत्व रहना समाप्त हो जाता है। परन्तु जीवन के संयम की प्रारम्भिक अवस्था में पूर्ण मनोयोग के साथ उसके दृढ़तापूर्वक पालन करने के विषय में कोई प्रश्न ही नहीं उठ सकता। मैक्समिलर कहते हैं,—"यद्यपि अन्त में केवल ज्ञान ही मोक्ष तक ले जा सकता है तब भी सदाचार का पूर्ववर्तित्व तो निश्चित रूप से ही स्वीकार कर लिया गया है।"

साधना के इस अङ्ग की सफलता इस बात से लक्षित होती है कि साधक में निम्नलिखित लक्षण पाये जाते हैं अथवा नहीं। इनको वेदान्त का ज्ञान प्राप्त करने के लिये "साधन-चतुष्टय" कहा जाता है। ये निम्नलिखित हैं—(१) नित्यानित्य-वस्तु-विवेक, (२) इस लोक में अथवा अन्य लोक में सुख प्राप्ति अथवा दुःख निवृत्ति की कामना का अभाव, (३) शम, दम, उपरति (विषयों से वैराग्य) तितिक्षा (दुःखों को शान्ति

चित्त से सहना), समाधान (मन की एकाग्रता), श्रद्धा (गुरु और वेद में विश्वास) (४) मोक्ष की इच्छा। इसी को एक शब्द में इस प्रकार कहा जा सकता है कि साधना का यह अङ्ग मनुष्य को सन्यास का अधिकारी बना देता है। साधना की दूसरी अवस्था (ज्ञान योग) में प्रवेश करने के पहले ही मनुष्य को सन्यासी बन जाना चाहिये अथवा नहीं, इस विषय पर वेदान्तियों में मतभेद है और कुछ का मत तो यह है कि इसकी कोई आवश्यकता ही नहीं है। उपर्युक्त साधन अधिकांशतः निषेधात्मक है, किन्तु हमको यह स्मरण रखना चाहिये कि अन्तिम लक्ष्य, आत्म-दर्शन, पूर्णतः भावात्मक है। हम अपने संकीर्ण अहं (आत्मा) को दबा देते हैं किन्तु उसका उद्देश्य केवल यही है कि हम उससे अधिक व्याप्त अहं (आत्मा) को प्राप्त कर सकें।

जैसा कि उपनिषदों पर विचार करते समय हमने कहा है, संयम का दूसरा अङ्ग त्रिविध है—श्रवण, मनन तथा ध्यान। यहाँ तत्सम्बन्धी केवल उन महत्वपूर्ण बातों की ओर संकेत कर देना ही पर्याप्त होगा जिनका अभी तक उल्लेख ही नहीं किया गया है :—

(१) श्रवणः—इसका अर्थ है योग्य गुरु से यह शिक्षा प्राप्त करना कि अद्वैत की अंतिम शि ा ही एकमात्र ब्रह्म-स्वरूप सत्-तत्व है। इसमें सन्देह नहीं कि जिस एकत्व की शिक्षा यहाँ दी गई है उसमें मनुष्य और प्रकृति दोनों ही का समावेश है, परन्तु मनुष्य का प्रथम और सर्व-प्रमुख सम्बन्ध स्वयं मनुष्य से ही है न कि प्रकृति से और इसी कारण 'तत्वमसि' वह तुम ही हो, अथवा जीव और ब्रह्म के मौलिक मत-भेद में जिस प्रकार का सत्य निहित है उसे प्रधानता दी गई है। इसी के अनुसार साधक को अपना ध्यान वेदान्त दर्शन के इसी स्वरूप की ओर केन्द्रित करना पड़ता है और प्रकृति सम्बन्धी दूसरे स्वरूपों को बहुत कुछ गौण समझना पड़ता है।

(२) मननः—उपर्युक्त शिक्षा के परिणामस्वरूप शिष्य जीव

और ब्रह्म के एकत्व को समझने लगता है। परन्तु यह ज्ञान दूसरे ज्ञान के द्वारा उपलभ्य होने के कारण प्रत्ययोत्पादक नहीं है, विशेषतः इसलिए कि जनसाधारण के अनुभव से इसका अत्यधिक वैषम्य है (असम्भावना)। अस्तु, व्यक्तिगत मनन की प्रस्तुत अवस्था में आवश्यकता बतायी गयी है। इसका प्रयोजन साधारण जीवन से लिए गये दृष्टान्तों के द्वारा स्वयं शिष्य के हृदय में यह विश्वास उत्पन्न करने में सहायता प्रदान करना है कि अद्वैतवाद की शिक्षा सत्य है। परन्तु इन बातों का स्वरूप देखते हुए यही कहना चाहिए कि इस प्रकार के दृष्टान्तों पर आश्रित रहने वाली युक्तियाँ केवल सामान्यतोदृष्ट ही हैं। इसका कारण यह है कि उन्हें सामान्य अनुभव के क्षेत्र में से लिया गया है, किन्तु ब्रह्म, जैसी कि उसकी कल्पना की गई है, उसके परे है। इस प्रकार वे वेदान्त मत के सत्य का केवल समर्थन कर सकते हैं अथवा उसकी सम्भावना को सूचित कर सकते हैं, न कि श्रुति से स्वतंत्र होकर उसको सिद्ध करके दिखा सकते हैं। दूसरे शब्दों में यहाँ इस प्रकार के तर्क का प्रयोग प्रमाण के रूप में नहीं वरन् युक्ति (प्रमाण के सहायक) के रूप में किया गया है। इससे यह प्रतीत हो सकता है कि अन्त में अद्वैतवाद का सत्य विश्वासमात्र पर आश्रित है। किन्तु इस प्रकार का मत ठीक नहीं होगा। जैसा बाद में स्पष्ट हो जायगा जब कि हम इस विषय पर विचार करेंगे कि एक में लेने पर सम्पूर्ण अद्वैत में तर्क का क्या स्थान है।

(३) ध्यान:—उपनिषदों के अध्ययन और उनकी शिक्षा के मनन से परमतत्व का जो ज्ञान प्राप्त होता है वह परोक्ष होता है। जैसा कहा ही जा चुका है कि ध्यान का उद्देश्य इस ज्ञान को साक्षात प्रतीति के रूप में परिवर्तित करना है। इसी से इस अवस्था में दर्शन, न कि ज्ञानमात्र की प्राप्ति, के लिए सचेष्ट होना पड़ता है। बौद्धिक प्रत्यय की उपलब्धि होने पर भी विपरीत सम्भावनाएँ बार-बार सिर उठाने लगती

हं। प्रस्तुत साधन का प्रयोजन इनको अभिभूत करना है। इस साधन का अर्थ है अद्वैतवाद की शिक्षाओं के केन्द्रबिन्दु पर ध्यान लगाना। जब इस क्रिया में सफलता प्राप्त हो जाती है तो ध्यान करने वाले के मन में 'तत्वमसि' वाक्य की सत्यता स्वयमेव प्रतिभासित हो उठती है। उस समय ऐसा प्रतीत होता है जैसे आत्मा का मूलगत आनन्द अपनी पूर्णता के साथ उन्मुक्त हो गया हो।

अब हम संक्षेप में इस बात पर विचार कर सकते हैं कि अद्वैत में तर्क का क्या स्थान है। प्रारम्भ में अद्वैत तत्व का ज्ञान निस्संशय ही किसी ऐसे गुरु से प्राप्त करना चाहिए जो उसमें भली-भांति पारङ्गत हो। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि तर्क को ताक पर रख दिया जाय। उसकी आवश्यकता को पूर्णतया स्वीकार किया गया है जैसा कि साधना के क्रम में मनन को जो स्थान दिया गया है उससे प्रकट होता है। वास्तव में विश्वास तो यह है कि शास्त्रों का अतिम महत्व तब तक पूर्णतया ज्ञात नहीं हो सकता जब तक कि उपर्युक्त रीति से तर्क का प्रयोग करके पूरा-पूरा लाभ नहीं उठाया जाता। परन्तु यह विचार उठ सकता है कि इस मत में तर्क को चाहे जितना भी महत्वपूर्ण स्थान दिया गया हो वह तत्वतः है अपने ही सिद्धान्तों को प्रमाण मानने वाला ही, क्योंकि इसका सत्य तत्व प्राथमिक रूप से श्रुति के द्वारा ही जाना जा सकता है। जब हम श्रुति के ठीक-ठीक कार्य का स्मरण करते हैं तो हम देखेंगे कि हम उससे इस प्रकार के किसी निर्णय पर नहीं पहुँचते। जैसा कि दूसरे भारतीय दर्शनशास्त्रों में है वैसे ही यहां भी परम सत्य की बौद्धिक उपलब्धि मात्र ही लक्ष्य न होकर स्वयं अपनी प्रतीति में उसका साक्षात्कार करना ही लक्ष्य है। अतएव, आदर्श प्राप्ति का अर्थ शास्त्रों के सत्य का केवल ग्रहण करना ही नहीं वरन् उसके भी आगे बढ़ कर जाना है। इसी से शास्त्रीय ज्ञान पर्याप्त नहीं है, यद्यपि वह आवश्यक है। अतएव, तर्क की भांति वह भी लक्ष्य प्राप्ति के लिए केवल

एक सहायक साधन हो जाता है। स्वयं उपनिषदों का यह मत है कि जब कोई व्यक्ति स्वयं सत्य का दर्शन कर लेता है तो वह शास्त्रों की आवश्यकता के परे चला जाता है। "यहां पिता अपिता हो जाता है; माता अमाता, लोक अलोक देव अदेव और वेद अवेद।" इस प्रकार हम अंतिम रूप में तर्क और श्रुति दोनों ही के परे चले जाते हैं और साक्षात् अनुभव पर आश्रित रहते हैं। अस्तु, यदि अद्वैत श्रुति पर ही आश्रित है तो श्रुति के परे जाने के लिए ही उसको वहां स्वीकार किया गया है। फिर हमें यह भी भूलना नहीं चाहिए कि जैसा प्रारम्भिक परिच्छेद में कहा जा चुका है श्रुतियों का मूल प्राचीन ऋषियों के प्रातिभ अनुभव में पाया जाता है। शिष्य को स्वयं अपने व्यक्तिगत अनुभव के द्वारा इसी की प्रामाणिकता को सिद्ध करना होता है।

जब सत्य का साक्षात कर लिया जाता है तब मोक्ष प्राप्त हो जाता है। यह मोक्ष, जैसा कि हम देख चुके हैं, ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त कर लेना मात्र नहीं है प्रत्युत ब्रह्म ही हो जाना है। जो व्यक्ति इस अवस्था को पहुँच जाता है वह जीवन्मुक्त अथवा स्वतंत्र मनुष्य हो जाता है, चाहे वह अपने कितने ही भौतिक कोशों से युक्त रहे। वह रहता जीवन में ही है किन्तु तब भी उसके बाहर चला जाता है। वह अवश्य ही कर्म और दूसरों की सहायता करता ही रहेगा, परन्तु दूसरों की जो सेवा वह करता है वह उसके इस अनुभूत प्रत्यय की स्वाभाविक अनुभूति होगी कि समस्त चराचर जगत में एक ही एकता व्याप्त है। अथवा दूसरे प्रकार से उसे इस रूप में कहा जा सकता है कि उस अवस्था में कर्तव्य के अंकुश का स्थान प्रेम के कारण होने वाली स्वाभाविक प्रेरणा ले लेती है। इस उक्ति का अर्थ यह है कि ज्ञानी के लिए कर्म का कर्म के रूप में कोई महत्त्व नहीं रहता, न कि यह कि वह संसार के प्रति उदासीन हो जाता है। शंकराचार्य ने जिस प्रकार का जीवन व्यतीत किया वह इस प्रकार

के निषेधात्मक मत का खण्डन पर्याप्त रूप में कर देता है। मृत्यु के समय जीवन्मुक्त जब अपना भौतिक शरीर छोड़ता है तो वह परमार्थतः मुक्त हो जाता है (विदेह मुक्ति)। यही अद्वैत की न्याय संगत स्थिति है और उस मत में इसी का दृढ़ता पूर्वक पालन किया गया है। परन्तु उपनिषदों की शिक्षा के अनुसार ही इसमें उन लोगों के लिए क्रम-मुक्ति को भी स्वीकार किया गया है जो ठीक मार्ग के अनुयायी होने पर भी इसी जीवन में सीधे तत्व-ज्ञान की प्राप्ति को ही अपना लक्ष्य नहीं बना लेते हैं। मृत्यु के उपरान्त वे क्रम से उत्कृष्टतर योनियों को प्राप्त करते जाते हैं जब तक कि परमतत्व का साक्षात अनुभव नहीं प्राप्त कर लेते और अन्ततोगत्वा मुक्त नहीं हो जाते।

आठवाँ परिच्छेद

सविशेष वेदान्त

यद्यपि औपनिषद् मत में ऐसा नहीं है कि सविशेष ईश्वर को स्वीकार न किया गया हो तब भी वह प्रचलित रूप में आस्तिक नहीं है। भारतीय आस्तिकवाद का अपना एक अलग इतिहास है और हम यह देख ही चुके हैं कि खीष्टीय संवत् के प्रारम्भ होने के पूर्व यह शैव और वैष्णव इन दो मुख्य दिशाओं में प्रस्फुटित हो चुका था। बौद्ध और जैन धर्मों की सफलता का परिषेध करने के लिए गुप्त वंशीय राजाओं के शासन में (४०० ई० के लगभग) हिन्दुत्व का जो पुनरुद्धार हुआ उसका अर्थ वस्तुतः इन दोनों (शैव और वैष्णव) मतों का पुनरुत्थान ही है। जिस समय इन दोनों मतों का प्रभाव दक्षिण में विशेष रूप से तीव्र था उस समय शंकर ने उपनिषदों की पुनर्व्याख्या की। इस प्रकार उन्होंने भारत में प्राचीन दार्शनिक विचारों को फिर से जाग्रत कर दिया। इसके पश्चात् कुछ विचारकों में स्वभावतः यह इच्छा उत्पन्न हुई कि आस्तिक मतों का औपनिषद मत से समन्वय कर दिया जाय और इस उद्देश्य के लिए जो परिवर्तन आवश्यक हों उनका उपनिषदों की नवीन व्याख्या में समावेश कर दिया जाय। इस इच्छा के परिणाम पर ही हमें अब विचार करना है। परन्तु यहाँ हम उसके केवल एक ही स्वरूप तक अपने को सीमित रखेंगे। वह स्वरूप है वैष्णव दर्शन का वेदान्त से समन्वय अथवा दूसरे शब्दों में यह कहिए कि यहां हम रामानुज और मध्व के मतों पर विचार करेंगे। इसी प्रकार का प्रयत्न शैवमत का भी वेदान्त से समन्वय करने के लिए हुआ था, परन्तु इसके परिणामस्वरूप उसके भिन्न-भिन्न प्रकार के जो स्वरूप

प्रचलित हुए, जहाँ तक वे आस्तिकवादी हैं, वे तत्वतः या तो उन मतों के समान ही हैं जिनका वर्णन हम प्रस्तुत परिच्छेद में करेंगे अथवा जिनका वर्णन हम पूर्व परिच्छेद में कर चुके हैं। उदाहरण के लिए दक्षिण के शैव मत ही को ले लीजिए जो 'सिद्धान्त' नाम से प्रसिद्ध है। यह रामानुज और मध्व के वैष्णव मत के समान ही बहुत्व-वादी तथा वस्तुवादी है। परन्तु साथ ही काश्मीर का शैवमत एकत्ववादी है और यह बहुत कुछ उपर्युक्त भर्तृप्रपंच मत के अनुरूप है।

हम गीता के समय तक वैष्णव मत के विकास के इतिहास का चित्रण कर चुके हैं और उसके बाद के इतिहास के विषय में कहने को कुछ अधिक नहीं है। ध्यान देने की बात केवल यह है कि इस बीच के काल में ब्रह्मा सहित तीनों प्रमुख देवताओं के एकत्व की भावना का उदय हो गया। ऐसा प्रतीत होता है कि अपने इतिहास की किसी एक अवस्था में इन आस्तिक मतों में, जो प्रारम्भ से ही सम्प्रदायवादी थे, तीव्र विद्वेष उठ खड़ा हुआ। यह वह अवस्था थी जब कि उन्होंने जैनमत तथा बौद्धमत पर, जो कि समान रूप से तीनों ही मतों के विरोधी थे, विजय प्राप्त कर ली थी। इसकी प्रतिक्रिया स्वरूप इस विश्वास का उदय हुआ कि इन तीन देवताओं का अन्तर विभेद केवल विकल्पमात्र ही है और वे सभी एक ही ईश्वर अथवा परमेश्वर के स्वरूप मात्र हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस विश्वास का उदय एकत्ववादी दर्शन के प्रभाव में ही हुआ। इस व्यापक उदारता के ज्वलंत उदाहरण के रूप में हम कालिदास द्वारा किये गये ब्रह्मा और विष्णु के वर्णन का उल्लेख कर सकते हैं। अपने दो महाकाव्यों में से एक में तो उन्होंने ब्रह्मा का वर्णन किया है और दूसरे में विष्णु का। उन्होंने वहाँ पर उन दोनों के विषय में लगभग एक ही से शब्दों में कहा है और उनमें से प्रत्येक को त्रिदेव की संज्ञा दी है। इस विश्वास के परिणामस्वरूप यह एक बिलकुल अपनी इच्छा का विषय माना जाने लगा है कि उनमें से किसको पूजा

के लिए चुना जाय। इसका अर्थ केवल इतना ही है वह उस व्यक्ति का इष्ट देवता है और इससे इस बात का कोई संकेत नहीं मिलता कि दूसरे देवताओं का निषेध किया गया हो या उनकी उपेक्षा की गई हो। इससे यह प्रकट होता है कि भक्त उस देवता विशेष से अधिक प्रेम करता है और उनके प्रति अधिक श्रद्धा रखता है और दूसरों के प्रति कम नहीं। त्रिमूर्ति के इस सिद्धान्त ने इस विश्वास का उन्मूलन नहीं किया कि पृथक-पृथक रूप से लेने पर इन देवताओं में प्रत्येक अन्य से श्रेष्ठ है। वैष्णव सम्प्रदाय, जिसका प्रतिपादन हम अब करेंगे, इसी प्रकार का है।

(अ) विशिष्टाद्वैत

रामानुज ने वेदान्त के साथ वैष्णव धर्म का जिस रूप में समन्वय करने का प्रयास किया वह यही है। हाँ, हमें यह नहीं सोच लेना चाहिए कि उन्होंने ही सर्वप्रथम यह प्रयत्न किया। इस क्षेत्र में उनके पूर्ववर्ती भी प्रयत्नशील रह चुके हैं जैसे कि यामुन मुनि। परन्तु उनके प्रयत्नों के फलस्वरूप उनके सिद्धान्तों का कोई व्यवस्थित सम्प्रदाय न बन सका। रामानुज में इस कार्य के लिए अपेक्षित प्रतिभा थी और उन्होंने अपने उद्देश्य में अत्यधिक सफलता प्राप्त की। यह ११०० ई० की बात है। वे वेदान्त-सूत्र पर एक नवीन भाष्य लिख गये हैं। वह 'श्री भाष्य' नाम से सुविख्यात है। इसके अतिरिक्त इनके अन्य ग्रन्थ भी हैं जैसे कि गीता भाष्य और वेदार्थ संग्रह। वेदार्थ-संग्रह एक स्वतंत्र प्रबन्ध है। इसमें उन्होंने बड़े विद्वतापूर्ण ढंग से अपने दार्शनिक पक्ष की विवेचना की है और साथ ही इस बात का भी संकेत कर दिया है कि उनका आधार उपनिषदों में कहाँ है। जो विचारक उनके अनुयायी हुए उनमें केवल वेदान्तदेशिक (१३५० ई० पू०) का उल्लेख करना ही अपेक्षनीय है। वह मध्यकालीन भारत के सर्वश्रेष्ठ विद्वानों में से एक थे। वे एक सफल लेखक थे और विशिष्टाद्वैत के सिद्धान्त विद्वानों और साथ ही जन-साधारण में जो इतने प्रचलित हो गये हैं उसका बहुत कुछ श्रेय उनके

द्वारा उन सिद्धान्तों की की हुई विवेचना को ही है।

[१]

जैसा कि हम जानते ही हैं उपनिषदों की व्याख्या करने में मुख्य कठनाई यह पड़ती है कि ब्रह्म का जीव तथा जगत से तादात्म्य स्थापित करने वाले वाक्यों का साम्य उन वाक्यों से किस प्रकार स्थापित किया जाय जो कि उनके भेद का प्रतिपादन करते हैं। अब तक हमने इसके लिए दो रीतियों पर विचार किया है। इनमें एक भर्तृ-प्रपंच का ढंग है और दूसरा शंकर का। जिस प्रकार से रामानुज ने उनमें साम्य स्थापित किया है वह अपूर्व है। वे यह बताते हैं, जो सामान्यतः भाषा में होने वाले प्रयोगों से प्रकट होता है, हम प्रायः उन वस्तुओं में भी तादात्म्य स्थापित कर देते हैं जो कि भिन्न होती हैं। इस प्रकार हम यह कहते हैं कि गुलाब लाल है। "गुलाब" एक द्रव्य है और "लालिमा" एक गुण। ये दोनों एक ही नहीं हो सकते, परन्तु हम तब भी उनके विषय में इस प्रकार कहते हैं जैसे कि वे एक ही हों और इसका कारण यह है कि प्रयोग में यह स्वीकार्य है। इसी प्रकार यह भी कहा जा सकता है कि "मैं एक मनुष्य हूँ" और इस तरह नित्य आत्मा का उस अनित्य मर्त्य-स्वरूप से तादात्म्य स्थापित कर दिया जाता है जिसमें वह आत्मा अभिव्यक्त होती है। इस प्रकार का प्रयोग समस्त भिन्न वस्तुओं के विषय में नहीं पाया जा सकता। उदाहरणार्थ हम मनुष्य और उसके कोट अथवा उसके डण्डे के विषय में इस ढंग से नहीं कह सकते, बल्कि हमें अनिवार्यरूपेण यही कहना पड़ता है कि वह कोट पहने हुए है अथवा अपने हाथ में डण्डा लिए हुए है। इस प्रकार हमारे बोल-चाल के इस ढङ्ग से उनका भेद स्पष्टतया सूचित हो जायगा। इन दो प्रकार के प्रयोगों के विरोध को देखते हुए रामानुज इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि पहले दो दृष्टान्तों में जो सम्बन्ध है वह बाद

वाले दृष्टान्तों के सम्बन्ध से भिन्न और अधिक घनिष्ट होना चाहिए, क्योंकि बाद वाले दृष्टान्तों का सम्बन्ध संयोग मात्र है। वह केवल (१) द्रव्य और गुण में—यहाँ गुण को व्यापक अर्थ में लिया गया है जैसा रामानुज ने किया है और (२) शरीर और आत्मा में—अर्थात्, दो द्रव्यों में जिनमें एक अनिवार्यतः आत्म-तत्व होता है, पाया जाता है। उन्होंने इस घनिष्ट सम्बन्ध को अपृथक-सिद्धि की संज्ञा दी है। इसका शाब्दिक अर्थ है "अविभाज्यत्व"। इसका तात्पर्य यह है कि जिन दो तत्वों में यह सम्बन्ध है उनमें से एक दूसरे पर आश्रित रहता है। वह आश्रियत्व इस अर्थ में नहीं आ सकता और दूसरे के उसी समय ज्ञेय हुए बिना वह सम्यक् रूपेण ज्ञेय भी नहीं हो सकता है।

ब्रह्म और आत्मा अथवा जगत् का सम्बन्ध दूसरे प्रकार का है जिससे कि वे दोनों शरीर हैं और ईश्वर ही उनकी आत्मा है। अर्थात् ईश्वर, जीव और जगत् दोनों ही का केन्द्र-भूत तत्व है। उसके बिना न तो उसमें से किसी का अस्तित्व हो सकता है और न वे विचार के विषय हो सकते हैं। अस्तु, यद्यपि यह सत्य है कि तीनों ही तत्व सत्य हैं और एक दूसरे से भिन्न हैं तब भी यह एक ही स्तर पर नहीं हैं। इस प्रकार रामानुजाचार्य के अनुसार उपनिषदों का परम उपदेश यह है कि जहां, ब्रह्म, आत्मा और जगत प्रत्येक भिन्न हैं और समानरूप से नित्य हैं वहीं वे नितान्त अविभाज्य भी हैं। जिस बात पर जोर देना है वह यह है कि ये तीनों तत्व भिन्न-भिन्न हैं यद्यपि उनके बीच एक विलक्षण प्रकार का निकट सम्बन्ध है। इस पर जोर देने का कारण यह है कि इस मत को विशिष्टाद्वैत (अंग्रेजी में इसको सामान्यतः परन्तु अविवेक वशात Qualified monism कहा गया है) कहते हैं और इस कारण यह प्रायः भुला दिया जाता है कि तीनों तत्व विभिन्न हैं, यद्यपि उनमें विलक्षण रूप से परस्पर निकट सम्बन्ध है। इस दर्शन को अद्वैत (monism) कहने का अर्थ यह नहीं है कि इन तीनों तत्वों का संघात

भेदों का समन्वित एकत्व है, वरन् इसका अर्थ तो केवल यह है कि जिस रूप में ब्रह्म आत्माओं अथवा भूत-तत्व में निहित है वह एक ही है। आत्माओं तथा भूत-तत्व का तादात्म्य न तो उससे (ब्रह्म से) है और न परस्पर एक दूसरे से। यदि हम चाहें तो हम विशिष्टाद्वैत की व्याख्या इस प्रकार कर सकते हैं कि उसका अर्थ तीनों के इस विशिष्ट संघात के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

विशिष्टाद्वैत का इस प्रकार का अर्थ केवल तभी नहीं लगाया जाता है जब हमारा सम्बन्ध सत्य के साम्राज्य से रहता है वरन् उन सब पक्षों में भी जिनमें वह सम्बन्ध रहता है। इस तरह नीलकमल एक एकत्व है। वह इस अर्थ में कि कमल पुष्प का उपादानभूत द्रव्य, नीलत्व और कमलत्व इन दो ऐसे गुणों से विशिष्ट है जो उससे भिन्न होने के साथ साथ आपस में भी एक दूसरे से भिन्न हैं। इसी प्रकार एक व्यक्ति जो कि कभी युवक था और अब वृद्ध है एक माना जा सकता है जब कि उससे हमारा अर्थ पहले युवा और अब वृद्ध शरीर से बद्ध आत्मा से होता हो। दोनों दृष्टान्तों में अन्तर यह है कि एक में आश्रित द्रव्य सहवर्ती रहते हैं जब कि दूसरे में वे एक दूसरे के अनुवर्ती। इसको संक्षेप में इस प्रकार रक्खा जा सकता है कि विशिष्ट अथवा संघात एक है जब कि उसको विशिष्ट अथवा संघात करने वाले गुण नितान्त भिन्न हैं, यद्यपि वे उससे अविभाज्य हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि यहाँ रामानुज ने समान शक्ति वाले विरोधी वाक्यों की व्याख्या करने का एक ऐसा ढङ्ग ढूंढ निकाला है जो अत्यन्त चतुरता के साथ उनके पक्ष का समर्थन करता है। इसके द्वारा उन्होंने उपनिषदों द्वारा उपस्थित की हुई कठनाई को सफलता-पूर्वक दूर कर दिया है। जहाँ वे जगत अथवा आत्मा का ब्रह्म से भेद बताते हैं वहाँ वे वास्तविकता का प्रतिपादन करते हैं। जहाँ वे उनमें तादात्म्य स्थापित करते हैं वहां उनका अर्थ केवल यह होता है कि वे अविभाज्य

हैं, न यह कि उनमें तादात्म्य है। हां, इसमें संशय हो सकता है कि भाषा के प्रयोगों के प्रकारों से आध्यात्मिक निर्णयों पर पहुँचना ठीक भी है अथवा नहीं। यह तो बिल्कुल ऐसा ही होगा कि भाषा के व्याकरण को सत्य-तत्व का व्याकरण मान लिया जाय। परन्तु चाहे हम उस बात को टाल जांय तब भी यह विश्वास करना कठिन है कि इस मत का साम्य प्राचीन उपनिषदों की आत्मा से है। उनमें से प्रत्येक में केवल एक ऐसा अध्याय है जो प्रत्यक्ष रूप में उसका समर्थन करता प्रतीत होता है। ऐसे प्रत्येक अध्याय में ईश्वर को जीव और जगत् दोनों ही से भिन्न कहने पर भी उसे उनका "नित्य अन्तर्यामी" कहा जाता है। परन्तु यह समर्थन बहुत कमजोर हो जाता है। इसका कारण यह है कि यहां जो शिक्षा है वह याज्ञवल्क्य की है और याज्ञवल्क्य ने परमतत्व की जो भावना की है वह, जैसा कि उसी उपनिषद के अन्य भागों में प्रतिपादित किया गया है, सामान्य अर्थ में एकत्ववादी है। विचाराधीन अध्याय सम्भवतः परम सत्य के सर्वोत्कृष्ट और सर्व-व्याप्त स्वरूप को प्रकट करने से अधिक कुछ और नहीं करता है। यह विश्वास उत्तरकालीन वैदिक मत का एक सामान्य विषय है।

रामानुज ने केवल दो पदार्थों को माना है। इनको उन्होंने (अ) द्रव्य और (ब) अद्रव्य की संज्ञा दी है। न्याय-वैशेषिक में स्वीकार किये गये शेष पदार्थों में से उन्होंने कर्म को अद्रव्य के अंतर्गत रक्खा है और उसको उन्होंने संयोग और विभाग इन दो शब्दों के द्वारा समझाया है। उनके अनुसार सामान्य जैसे गोत्व आदि स्वतंत्र नित्य तत्व नहीं हैं। जैनमत की भांति सामान्य से उनका अर्थ केवल विचाराधीन विशेषों के अवयवभूत भागों की एक अपूर्व यवस्था है। यद्यपि उनमें समानता है तब भी वे एक दूसरे से नितान्त भिन्न हैं। वे सामान्य और विशेष को स्वीकार नहीं करते। उन्होंने अभाव को भी बहुत कुछ प्रभाकर के ढङ्ग से ही यह मान कर उड़ा दिया है कि इसे भावात्मक रूप से शब्दों में व्यक्त किया जा सकता है

(अ) द्रव्य :--द्रव्य उसे कहते हैं जो परिवर्तनशील हो अथवा जैसा वेदान्तदेशिक कहते हैं अवस्थावत (अवस्थाओं से युक्त) हो। द्रव्य के छः प्रकार हैं परन्तु यहाँ हम उनमें से प्रकृति, जीव और ईश्वर केवल इन तीन पर ही विचार करेंगे।

(१) यहाँ प्रकृति की भावना बहुत कुछ वैसी ही की गई है जैसी 'सांख्य योग' में है। दोनों में मुख्य अन्तर केवल ये हैं—(१) यहाँ उसे आत्म-तत्व (पुरुष) से स्वतंत्र नहीं माना गया है और (२) सत्व, रज और तम को उसके गुणों के रूप में लिया गया है न कि उसके अवयवभूत तत्वों के रूप में। उसे ईश्वर के वस्त्र अथवा शरीर के रूप में उसका वर्णन किया गया है जिससे यह तो स्पष्ट ही हो गया है कि वह ईश्वर से स्वतंत्र नहीं है। प्रकृति गुण उनका आश्रय है। इस मत का सांख्य-योग से यह जो दूसरा भेद है उसके विषय में यह कहा जा सकता है कि यह (भेद) रामानुज के द्रव्य और गुण में अन्तर मानने का परिणाम है। इस भेद को सांख्य-योग में स्वीकार नहीं किया गया है। संपूर्ण भौतिक जगत् अपने अनन्त भेदों के सहित ईश्वर के निर्देशन में उससे संसृत होता है। प्रकृति और उसके विकारों में अपृथक-सिद्धि का सम्बन्ध है क्योंकि जब तक उनका अस्तित्व रहता है वे, जिस अर्थ में ऊपर समझाया जा चुका है, उससे अविभाज्य रहते हैं। रामानुज ने इसे सत्कार्यवाद की संज्ञा दी है परन्तु यह, जैसा सांख्य में बताया जाता है कि अभिव्यक्त होने के पूर्व भी कार्य सत् था, उस अर्थ में सत्कार्यवाद नहीं है। हाँ, इस अर्थ में यह सत्यकार्यवाद अवश्य है कि यह स्वय सत् अथवा पहले से ही अस्तित्वभूत है, अर्थात् इसे कार्य के रूप में इसलिए ग्रहण किया गया है कि इसके स्वरूप और अवस्था (विकारों) में परिवर्तन होता रहता है। जिस बात पर यहाँ विशेषरूप से ध्यान देना है वह यह है कि यहाँ द्रव्य को द्रव्य के रूप

में (जैसे, उदाहरण के लिए मिट्टी को ही ले लीजिए) ही नहीं वरन् एक विकार (ढेला) के रूप में उपादानकारण माना गया है और कार्य एक अन्य विकार (बर्तन) से विशिष्ट वही द्रव्य है। विकारों का स्वरूप और प्रकृति से संसृत होने का उनका कम व्यावहारिक रूप में वैसा ही है जैसा कि सांख्य-योग में।

आगे बढ़ने के पूर्व एक दूसरे द्रव्य का संक्षेप रूप में उल्लेख कर देना आवश्यक है। इसे धर्म-भूत-ज्ञान कहते हैं। यह ईश्वर और जीवात्माओं में रहता है और उन पर ही पूर्णतया निर्भर होता है। इसे "धर्म-भूत ज्ञान" इसीलिये कहा गया है, क्योंकि ईश्वर और आत्मा की भांति जो अपेक्षतया स्वतंत्र हैं यह भी जैसा हम आगे देखेंगे चित्ति-स्वरूप और इस प्रकार द्रव्य की जो परिभाषा ऊपर दी गई है यह उसके अनुरूप है। यह दीप्तिवान है और अपने ही प्रकाश से प्रकाशित होता है, परन्तु यह जो कुछ प्रकाशित करना है वह सदा दूसरे ही के लिए होता है न कि स्वयं अपने लिये। इस प्रकार स्वभाव की दृष्टि से इसका स्थान जड़-द्रव्य और आत्म-तत्व के बीच का है। जिन पदार्थों के साथ इसका सयोग होता है उन्हें यह प्रकाशित करता है। जड़-द्रव्य में यह शक्ति सामर्थ्य नहीं है। परन्तु आत्म-तत्व की भाँति यह उन पदार्थों) को जानने में असमर्थ है। दुःख, सुख, राग, द्वेष, प्रवृत्ति ये सब उसके विभिन्न स्वरूप माने जाते हैं। कुछ अन्य दर्शनों की भांति यहाँ उन्हें अनुभूत नहीं वरन् अनुभव का प्रकार मात्र माना जाता है। ईश्वर पक्ष में यह सर्व व्याप्त होती है और यही उसकी सर्वज्ञता का कारण है। मुक्त आत्माओं के पक्ष में भी यह सर्व-व्याप्त ही रहता है, परन्तु लौकिक-जीवन में यह बहुत कुछ संकुचित रहता है। अस्तु, उस समय उसके कार्य अत्यधिक सीमित ही नहीं रहते अपितु वह ज्ञानेन्द्रियों जैसे बाह्य उपकरणों पर निर्भर रहते हैं। इस प्रकार इसका पूर्ण विकास मोक्ष का लक्षण है।

(२) जीव:—जीव ईश्वर से भिन्न है परन्तु उससे स्वतंत्र नहीं है। उसे ईश्वर का प्रकार कहा गया है। इसका अर्थ यह है कि वह उसका सहायक है न कि स्वरूपान्तर होने के अर्थ में उसका विकार। प्रकृति के समान ही यह ईश्वर का सहवर्ती है परन्तु उससे इसका अभेद नहीं है। इसको ईश्वर का शरीर माना जाना है, क्योंकि ईश्वर इसमें व्याप्त है और वह अन्दर से उस पर क्रियाशील रहता है और उसे परिचालित करता रहता है। वह अणु-परिणाम वाला है तब भी वह वस्तुओं का ग्रहण करने में समर्थ होता है चाहे वह बहुत दूर ही क्यों न हो। इसका कारण यह है कि उसके पास उसका नियत सहवर्ती धर्म-भूत-ज्ञान रहता है जो कितनी भी दूर जा सकता है। चित्त-स्वरूप होने के कारण यह स्वयं प्रकाशशील है और जो भी परिवर्तन होते हैं वे धर्म-भूत-ज्ञान ही के द्वारा होते हैं। इसके अतिरिक्त इसमें कोई परिवर्तन नहीं होते। आत्माएं अनेक हैं, और यदि वेद में कहीं उनके एकत्व का प्रतिपादन किया गया है तो उसका कारण यह है कि उनमें से सभी समान-रूप से चित्त-स्वरूप हैं और इसलिये वे एक और उसी वर्ग की हैं। स्वभावतः वे सुखी रहती हैं परन्तु पूर्व जन्म के कर्मों के कारण उनका आवागमन होता रहता है और वे दुःख को प्राप्त होती हैं। जीव तीन प्रकार के होते हैं। एक तो वे जो कभी बद्ध नहीं हुये और इस कारण सदैव मुक्त रहे, यथा गरुड़। दूसरे वे जो जीवन की कठोर यातनाओं से होकर गये हैं और सफल आत्म संयम के द्वारा मुक्त हो सके हैं और तीसरे वे जो अब भी आवागमन के चक्र में पड़े हुए हैं।

(३) ईश्वर प्रकृति और जीव दोनों में व्याप्त तत्व है। उनको उसके शरीर के रूप में निरूपित करने का यथार्थ महत्व यह है कि वे उसके द्वारा ही स्थित है। वे पूर्णतया उसके ही नियन्त्रण में रहते हैं और उसी का उद्देश्य सिद्ध करते हैं। अथवा जैसा रामानुज कहते हैं, ईश्वर का अस्तित्व स्वयं उसके लिए है, जब कि अनन्त भूत-

तत्व तथा आत्माओं का अस्तित्व उसके ही लिए है। प्रसंगानुसार हम यह कह सकते है कि यही बात जीव और उसके शरीर के विषय में भी लागू होती है। दूसरे शब्दों में ईश्वर आत्माओं तथा भूत-तत्व के सहित एक नैसर्गिक और सुघटित अवयवी है। यह ठीक उसी प्रकार है जिस प्रकार आत्मा अपने भौतिक शरीर के सहित एक नैसर्गिक तथा सुगठित इकाई है। इसका तात्पर्य यह है कि आत्मा और शरीर का सम्बन्ध अपृथकसिद्धि मात्र से अधिक घनिष्ठ है। इसका कारण यह है कि अपृथक सिद्धि का सम्बन्ध जड़ अवयवियों में भी, जैसे कि (दृष्टान्ततः) शिला और उसके वर्ण अथवा स्वरूप में, पाया जा सकता है, जहां उदाहरणतया एक दूसरे को नियन्त्रित करने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। जीव के समान ही ईश्वर भी चित्त-स्वरूप स्वयमेव प्रकाशित होने वाला है और धर्म-भूत-ज्ञान के द्वारा विषयों के ज्ञान को प्राप्त करता है। परन्तु इन बातों में वह जीव से भिन्न है कि वह समस्त दोषों से मुक्त और समस्त सद्‌गुणों के युक्त है। वह सर्वज्ञ शक्तिमान और सर्व व्याप्त है। वह करुणासिन्धु भी है और उसी की कृपा से, जैसा हम देखेंगे, मनुष्य मोक्ष प्राप्त करता है। वह जगत का सृष्टा है। परन्तु जैसा न्याय वैशेषिक में कहा गया है वह जगत का निमित्त कारण ही नहीं है। उससे पृथक ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जिससे वह अस्तित्व में आ सके, इसी कारण वह जगत् के उपादान कारण के रूप में भी निरूपित किया गया है। इस प्रकार यहां ईश्वर ही अद्वैत के ब्रह्म की भांति जगत का एकमात्र कारण है। इस व्यापक अर्थ में कारण के रूप में आत्माएँ तथा भूत-तत्व अव्यक्त रूप से ईश्वर के शरीर रूप में रहते हैं, और कार्य रूप में व्यक्त और विभिन्न रूपों में। यह न समझ लेना चाहिये कि इसका तात्पर्य यह है कि वह संसार में पाये जाने वाले दुःख और परिवर्तन जैसे दोषों से प्रभावित होता है, क्योंकि यह दोष विशेष रूप से केवल जीवात्माओं और भूत-तत्व में ही रहता है और

उनसे नितान्त विविक्त 'परम' ईश्वर को तो वह छू भी नहीं सकता।

(ब) दूसरा पदार्थ अद्रव्य अथवा गुण इस दर्शन में जिस विशद अर्थ में लिया गया है उसके अनुसार हम उसकी परिभाषा इस प्रकार कर सकते हैं कि वह अनिवार्यतः प्रथम पदार्थ (द्रव्य) पर आश्रित रहता है। इन गुणों की संख्या दस है। वे हैं, रूप, शब्द आदि ज्ञानेन्द्रियों के पांच विषय, सत, रज और तम प्रकृति के तीन गुण तथा संयोग और शक्ति, जो कार्योत्पादक प्रत्येक वस्तु में निहित माने जाते हैं, जैसे कि मीमांसा में। इस प्रकार रामानुज केवल कुछ पदार्थों को ही अस्वीकार नहीं करते हैं अपितु न्याय-वैशेषिक मत में माने जाने वाले कितने ही गुणों को भी। उदाहरणस्वरूप वे सुख, दुख, इच्छा द्वेष आदि आत्मा के विशेष गुणों को उसके केवल एक गुण बुद्धि (ज्ञान) का विकार-मात्र मानते हैं। न्याय वैशेषिक के अनुसार वे बुद्धि (ज्ञान) से भिन्न है और उनके विषय में यह कहा जाता है कि वे ज्ञेय अथवा अनुभव के योग्य हैं, परन्तु यहां उनके विषयमूलक मत को त्याग दिया गया है।

हम रामानुज के ज्ञान-विषयक मत को तो समझा ही चुके हैं कि उसका आत्मा से क्या सम्बन्ध है और वह किस प्रकार क्रियाशील होती है। अब उसके विषय में ध्यान देने के लिए दो बातें रह गई हैं:

(१) उनके अनुसार समस्त ज्ञान एक विशिष्ट अथवा संश्लिष्ट वस्तु का निर्देश करता है, और यह वह तथाकथित निर्विकल्प स्तर पर भी करता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि किसी ऐसी वस्तु की कल्पना जो कि नितान्त आकारहीन हो ठीक नहीं है। इसका कारण यह है कि सत-तत्व के स्वरूप को निश्चित करने में एकमात्र प्रतीति ही हमारी प्रदर्शक होती है। यह रामानुज के निर्गुण की विवेचना है जिसे अद्वैत भी स्वीकार करता है। उपनिषदों में 'नेति' 'नेति' जैसे निषेधात्मक वाक्य मिलते हैं जिनका उल्लेख वेदान्त अपने मत के समर्थन में उप-स्थित करता है। उनके विषय में रामानुज यह कहते हैं कि वे वाक्य

सभी गुणों का निषेध न करके केवल कुछ का ही निषेध करते हैं। उदाहरणतया जब कोई व्यक्ति यह कहता है कि घर में कुछ नहीं है तो वह केवल उसी वस्तु का निषेध करता है जिसका उस प्रसङ्ग में प्रत्यक्ष सम्बन्ध रहता है जैसे अन्न अथवा स्वर्णादिक, न कि प्रत्येक वस्तु का। उसी प्रकार यहां भी उपनिषदों का तात्पर्य केवल यह है कि ब्रह्म में कोई दुर्गुण नहीं है न कि यह उसमें कोई गुण ही नहीं है।

(२) उनके अनुसार तर्क की दृष्टि से भ्रम जैसी कोई वस्तु नहीं होती है, और प्रत्येक ज्ञान अनिवार्यतः सत्य होता है, भले ही वह पर्याप्त रूप से सत्य न हो। इस विषय में उन्होंने प्रकट रूप से मीमांसकों के प्रभाकर सम्प्रदाय का पक्ष लिया है। जब हम हाथ में किसी मशाल को लेकर शीघ्रता से चारों ओर घुमाते हैं तो हमें अग्नि का चक्र सा दिखाई देता है। यह एक भ्रम है और रामानुज कहते हैं कि जहाँ तक उसका सम्बन्ध है वह नितान्त सत्य है। इसका तात्पर्य यह है कि जह तक इस बात को ग्रहण करने का सम्बन्ध है मशाल का सिरा परिधि के प्रत्येक सम्भव स्थान पर रहता है, वह ठीक है, केवल इस बात को ध्यान में रखना भूल जाता है कि वह क्रम से ही उन विभिन्न स्थानों पर रहता है न कि एक साथ ही, जैसा एक वास्तविक वृत्त (चक्र) बनाने के लिए होना चाहिये। शुक्ति-रजत और स्वप्न के हाथी जैसे कुछ अन्य प्रकार के भ्रमों को समझाने में रामानुज का मत प्रभाकर के मत से कुछ भिन्न है, परन्तु यहां उन मतों का उल्लेख करना आवश्यक नहीं है। प्रभाकर की भांति ही वे यथार्थ और भ्रम के सुपरिचित अन्तर की विवेचना व्यावहारिक आधार पर ही करते हैं।

अद्वैतियों के छहों प्रमाणों को न मानकर रामानुज प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द केवल इन तीन ही को स्वीकार करते हैं। इनमें से अन्तिम (शब्द) के विषय में, जहां तक उसका तात्पर्य वेद है, कुछ शब्द कह देना पर्याप्त होगा। रामानुज ने वेद के कर्मकाण्ड सम्बन्धी

और परमसत्-ब्रह्म विषयक दोनों ही मार्गों को समान महत्त्व दिया है। दोनों में एक ही मत निहित है, अन्तर केवल यह है कि जहाँ दूसरे भाग में मुख्य रुपेण ईश्वर के स्वरूप पर विचार किया गया है, वहीं पहले में उसकी पूजा करने की रीतियों पर। यहां हमें रामानुज और शंकर के बीच एक महत्वपूर्ण अन्तर दिखाई देता है, क्योंकि शंकर के अनुसार वेद के दोनों भाग दो भिन्न प्रकार के व्यक्तियों के लिये हैं। पहला तो उन लोगों के लिये जो अपने को ब्रह्म-ज्ञान के अधिकारी बनाने के लिये प्रयत्नशील हैं, और दूसरा उन लोगों के लिये जिनका उद्देश्य ब्रह्म साक्षात्कार है। हम यह भी कह सकते हैं कि प्रस्तुत मत अपने पक्ष के समर्थन में पुराणों का आश्रय उससे कहीं अधिक लेता है जितना अद्वैत लेता है। इनमें हमें 'आगम' को भी जोड़ देना चाहिये। रामानुज ने आगम को वही स्थान दिया जो वेद को, परन्तु शंकर उसकी प्रामाणिकता को बिना किसी शर्त के स्वीकार करने से इन्कार करते हैं। इस सम्बन्ध में हम यह भी कह सकते हैं कि रामानुज के अनुसार प्रत्येक शब्द अन्ततः ब्रह्म का निर्देश करता है, जैसे प्रत्येक वस्तु अन्ततः उसी का अपने परमतत्व के रूप में संकेत करती है। अस्तु, साधारण मनुष्य की अपेक्षा ज्ञानी के लिये भाषा अधिक माने रखती है। प्रत्येक शब्द ज्ञानी को ईश्वर की स्मृति दिलाने वाले चिन्ह हैं। यह उसी प्रकार है जिस प्रकार उसके लिये प्रत्येक वस्तु ईश्वर का दर्शन करने के लिये एक वातायन है। इस प्रकार जो सिद्धान्त उपस्थित किया गया है वह हमको इस बात को समझाने में सिद्ध होता है कि रामानुज के अनुसार 'तत्वमसि' (वह तू ही है) उपनिषद के महावाक्य का क्या अर्थ है। यहां तत् (वह) शब्द उस ईश्वर का सूचक है, संपूर्ण जगत जिसका शरीर है और त्वं (तू) शब्द उस ईश्वर का सूचक है जिसका शरीर जीव है। इस महावाक्य को पूर्ण रूप से लेने पर उसका अर्थ यह होता है कि दोनों ही का शरीर अर्थात् ईश्वर एक दूसरे से अभिन्न हैं। इस बात को पहले भी समझाया जा चुका है।

[२]

जीवन का लक्ष्य नारायण के लोक की प्राप्ति और वहां उनके संरक्षण में पूर्ण मुक्ति और आनन्द की प्राप्ति ही है। इसके लिये दो प्रकार के साधन हैं। इनमें से एक प्रपत्ति कहा जाता है। यह हर एक के लिये है और इसका मूल मुख्य रूपेण वैष्णव मत में पाया जाता है। दूसरा भक्ति के नाम से प्रसिद्ध है। यह उपनिषदों की शिक्षाओं पर आश्रित है और केवल उच्च वर्ण वाले ही इसको ग्रहण कर सकते हैं। प्रपत्ति का अर्थ है नारायण की कृपा और शक्ति पर पूर्ण विश्वास के साथ पूर्ण रूपेण आत्म-समर्पण कर देना, और ऐसा विश्वास किया जाता है कि इस प्रपत्ति का एक प्रकार सद्यः मुक्ति प्राप्ति कराने में समर्थ होता है। परन्तु इसे नियमानुसार और योग्य गुरु से प्राप्त करना चाहिये। एक विशेष मनः प्रवृत्ति का निरूपक होने के कारण मुक्ति के इस साधन की विवेचना ज्ञान के एक प्रकार के रूप में की गई है, और रामानुज यह मानते हैं कि प्रपत्ति का विधान करके वे उपनिषद् के इस आदेश से ज़रा भी च्युत नहीं होते कि ज्ञान भक्ति का, यदि एकमात्र नहीं तो, मुख्य साधन तो है ही। भक्ति की साधना तीन अवस्थाओं में पूर्ण होती है। इनको कर्म-योग, ज्ञान-योग और भक्ति-योग कहते हैं। इन शब्दों को जिस अर्थ में यहां प्रयुक्त किया गया है उनको स्पष्ट करने की आवश्यकता है।

(१) यहाँ उनमें से प्रथम का वही महत्व है जो अद्वैत में है। इसका तात्पर्य अपने आश्रम-धर्मों को गीता की शिक्षा की भावना के अनुसार करना अथवा उनके उन फलों की प्राप्ति करना है जिनसे वे सामान्यतया संयुक्त रहते हैं। इस सम्बन्ध में जिन बातों पर हमें ध्यान देना है वे केवल दो हैं— (१) गीता के उपदेशों की विवेचना करते हुये हमने कर्म करने के लिये जिन दो प्रयोजनों का उल्लेख किया था, प्रस्तुत मत उनमें से केवल एक

पर ही, जो आस्तिकवाद पर आश्रित है, ज़ोर देता है और केवल ईश्वर को प्रसन्न करने मात्र के लिये ही कर्म करने का विधान करता है। दूसरा उद्देश्य जो हृदय को परिशुद्ध करना है, अस्वीकार नहीं किया गया है। उसको तो यहाँ ईश्वर के प्रति अपने समस्त कर्मों को इस प्रकार समर्पित कर देने का अनिवार्य फल ही माना गया है। (२) दूसरे यहाँ कर्म को जिस अर्थ में प्रयुक्त किया गया है उस अर्थ में उसमें वैदिक कर्मकाण्ड के अतिरिक्त बहुत सी बातों का समावेश रहता है, जैसे उदाहरणतया, आगमों में बताई गई मूर्ति-पूजा, मन्त्रों का जाप इत्यादि।

(२) ज्ञान-योग की व्याख्या यहाँ एक विशेष-रूप से की है यद्यपि दूसरे मतों की भांति यह विधान किया गया है कि उसे साधारणतः कर्मयोग का अनुसरण करना चाहिए। इसका उद्देश्य साधक को एक ओर तो अपनी आत्मा के स्वरूप को इस रूप में समझना है कि उसका ईश्वर से क्या सम्बन्ध है, और दूसरी ओर इस रूप में उसका अपने भौतिक कोशों से अथवा इसी को कुछ भिन्न-रूप में इस प्रकार कहिए कि संपूर्ण प्रकृति से क्या सम्बन्ध है। अतएव इसका अर्थ आत्मा का ध्यान पहले तो तत्वतः आत्मतत्व के रूप में और इसलिए भूत-तत्व से, जिससे वह संयुक्त हो जाता है, भिन्न रूप में और दूसरे ईश्वर से पूर्णतया गौण रूप में करना ही है। ज्ञान-योग को इस प्रकार समझाने का आधारभूत अभिप्राय यह है कि अद्वैत की भांति स्वयं आत्म-ज्ञान ही अपने में मनुष्य का लक्ष्य नहीं है, वरन् वह तो उसके आत्म-साक्षात्कार के लिए एक पूर्ववर्ती शर्त है।

(३) भक्ति-योग का अर्थ है ईश्वर का निरन्तर चिन्तन। भक्ति शब्द यहाँ अन्ध-विश्वास के प्रचलित अर्थ में नहीं आया है। इसका अर्थ है केवल भक्ति के लिए ही ईश्वर का परम-ज्ञान पर आश्रित प्रेममय चिन्तन। यह उस उपासना के समान ही है जो उपनिषदों की की व्यावहारिक शिक्षा का एक प्रमुख लक्षण है। यहाँ इस चिन्तन के

विषय में यह माना जाता है कि वह केवल "दृढ़-स्मृति" (ध्रुवानुस्मृति) की ओर ही ले जाता है न कि परमतत्व के प्रत्यक्ष ज्ञान तक, जैसा अन्य सम्प्रदायों में माना जाता है। हाँ, यह साधारण स्मृति से अधिक है क्योंकि इसकी विशिष्टता यह है कि यह अत्यन्त विशद और ध्येय अर्थ के लिए उत्कट प्रेम से युक्त रहती है। इसको 'प्रत्यक्ष ज्ञान के समान स्मृत' कहा जाता है और यह इसी जीवन में प्राप्य है। भौतिक बन्धनों के नष्ट होने पर ही यथार्थ मुक्ति की प्राप्ति होती है और तब आत्मा इस प्रकार विशिष्ट होकर ईश्वर का अपने ही परमतत्व के रूप में प्रत्यक्ष दर्शन कर लेती है। परन्तु उस अवस्था में आत्मा का ज्ञान सर्व-व्यापक हो जाता है और फल स्वरूप ज्ञानेन्द्रियों का व्यापार आवश्यक हो जाता है। इस कारण वह उस प्रकार का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता है जैसा साधारणतः माना जाता है और उसे एक प्रकार की अपूर्व प्रत्यक्ष प्रतीति नहीं कहा जा सकता है। इसी से रामानुज शंकर की भांति जीवन्मुक्ति को नहीं स्वीकार करते। यहाँ यह कहना शेष रह गया है कि मुक्ति का यह साधन भी अपनी अंतिम सफलता के लिए प्रपत्ति पर निर्भर रहता है और ऐसे किसी व्यक्ति को भी जो किसी न किसी अवस्था में अपनी इच्छा को ब्रह्म के लिए पूर्णतया समर्पित नहीं कर देता है और उसकी कृपा को नहीं प्राप्त करता है, जीवन की लक्ष्य-प्राप्ति का कोई भी अवसर नहीं मिलता। इस दर्शन पर वैष्णव सम्प्रदाय का इतना गहरा प्रभाव है कि इसमें भक्ति का आश्रय लिये बिना ही प्रपत्ति के द्वारा निःश्रेयस प्राप्ति की सम्भावना तो मानी गयी है, किन्तु केवल भक्ति से ही उसकी कोई सम्भावना नहीं मानी गयी है।

इस साधन में कर्म का अथवा इसी को इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि सन्यास का क्या स्थान है, इस सम्बन्ध में कुछ शब्द कहना अपेक्षित है। यह तो स्पष्ट ही है कि जब तक साधना की इन तीन अवस्थाओं को पार नहीं कर लिया जाता तब तक प्रत्येक मनुष्य के

लिए यथाशक्ति अपने आश्रम धर्मों का पालन करना आवश्यक है। शंकर भी इसको स्वीकार करते हैं। प्रस्तुत संप्रदाय की शिक्षा का विशिष्ट लक्षण, जिससे दूसरे से उसका अन्तर स्पष्ट हो जाता है यह है, कि उसमें बाद में आने वाली अवस्थाओं में भी उनके पालन करने पर जोर दिया गया है। वास्तव में इस मत का तात्पर्य ही यह है कि वेद के कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड दोनों ही विभाग एक ही और उसी प्रकार के मनुष्यों लिए हैं। कर्म को इस प्रकार अनवरत रूप से दृढ़ता से पालन करने के लिए जोर दिया गया है। पहला तो है कर्तव्य की अवहेलना के फल स्वरूप उत्पन्न होने वाले दोषों की, चाहे मनुष्य ने किसी भी अंश तक आध्यात्मिक उन्नति क्यों न प्राप्त कर ली हो, रोकना और दूसरा ईश्वर की कृपा को (मुक्ति प्राप्त करने के पहले जिसको प्राप्त करना आवश्यक है) पूर्ण रूप से उपलब्ध करना। यहां ईश्वर की कृपा दृष्टि ही, न कि सत्कर्मों अथवा उनके द्वारा प्राप्त होने वाले पुण्यों को, जैसा अन्य सम्प्रदायों में है, धर्म माना गया है। अधर्म इसके विपरीत है। कर्म पर जोर देने का महत्व यह है कि गृहस्थ भी उसके लिए प्रयत्नशील हो सकता है और मुक्ति प्राप्त कर सकता है। यदि उपनिषदों में गृहस्थ के लिए सन्यास अथवा नित्य कर्मों के त्याग का विधान किया गया है तो इसका अर्थ केवल यह है कि इसको ग्रहण कर लेने में मुक्ति को शीघ्र ही प्राप्त करने में सहायता मिलती है, न कि यह कि वह उसके लिए अनिवार्य प्रारम्भिक साधना है अथवा वेद विहित कर्तव्यों की उपेक्षा की जाय।

(ब) द्वैतः

इस मत की विशिष्टाद्वैत से इस अर्थ में समानता है कि यह भी आस्तिक है और इसमें भी ब्रह्म और नारायण अथवा विष्णु में, जैसा उन्हें यहां प्रायः कहा जाता है, तादात्म्य है। परन्तु यह अधिक स्पष्ट रूप से अनेकत्ववादी है। "विश्व के पदार्थ भिन्न और भिन्न धर्म

वाले हैं" मध्व के इस कथन से इसका सामान्य तात्विक पक्ष भली भांति लक्षित हो जाता है। इस प्रकार न केवल आत्माएँ ही एक दूसरे से और भूत-तत्व से भिन्न हैं वरन् भूत-तत्व स्वयं इसी प्रकार का है। यह मत वस्तुवादी भी है और इसमें अर्थ की कल्पना ज्ञान से बिलकुल अलग की गई है। वेदान्त के अन्य सम्प्रदायों की भांति यह भी अपने को उपनिषदों जितना ही प्राचीन बताता है और यह प्रतिपादित करता है कि मध्व तो बाद के केवल एक महान व्याख्याकार मात्र थे। उनका जन्म लगभग बारहवीं शताब्दी के अन्त में दक्षिण के कन्नड़ जिले में उडिपी के निकट एक ग्राम में हुआ था, और ऐसा विश्वास किया जाता है कि बहुत वृद्ध हो जाने के पश्चात् उन्होंने संसार को छोड़ा (११६६–१२७८ ई०)। जैसा स्वाभाविक ही था प्रारम्भ में उनका प्रभाव भारतीय प्रायद्वीप के पश्चिमी भागों तक ही सीमित था, परन्तु फिर वह बहुत आगे तक फैल चुका है। उनके माता-पिता ने उनका नाम वासुदेव रक्खा था, परन्तु उन्होंने जब संसार से सन्यास ले लिया तब उन्हें "पूर्ण-प्रज्ञ" (ज्ञानी) कहा जाने लगा। उन्होंने अपनी समस्त रचनाओं में अपने को आनन्दतीर्थ कहा है। उन्होंने मुख्य उपनिषदों, भगवद्गीता और वेदान्त सूत्र पर भाष्य लिखे हैं। इसके अतिरिक्त कितने ही अन्य ग्रन्थों पर भी उन्होंने एँकाटी लिखी हैं। संक्षिप्तता ही उनकी शैली का प्रमुख लक्षण है, परन्तु उन टीकाओं पर भी टीकाएँ है जो उनकी सूत्रमयी शैली के कारण दुर्बोध हो जाने वाली प्रत्येक बात को समझा देती है इन टीकाओं के लिखने वालों में सबसे श्रेष्ठ थे जयतीर्थ। ये नैनिक और विचारक दोनों ही थे और मध्व के पश्चात् उनके द्वारा उडिपी में स्थापित मठ के मठाधीश हुए। द्वैतमत के दूसरे विचारक जिनका उल्लेख हम यहां कर सकते हैं व्यास तीर्थ हैं। उन्होंने इस मत पर बड़े विद्वतापूर्ण और प्रामाणिक निबन्ध लिखे हैं जो उनके विस्तृत ज्ञान और उनकी महान तार्किक विद्वता के सूचक हैं।

(१)

जैसा ऊपर अभी कहा गया है इस मत के प्रमुख लक्षण ये हैं—पहला है सविशेष ईश्वर में विश्वास। इस ईश्वर का वैदिक काल से पुजते चले आने वाले देवता विष्णु से तादात्म्य है। अन्य लक्षण हैं इसका वस्तुवाद और अनेकत्ववाद। इनमें से वस्तुवादी स्वरूप का उल्लेख हम बाद में करेंगे और अब हम उसके अन्य दोनों लक्षणों पर विचार करेंगे। अनेकत्ववादी मत सामान्य अनुभव पर आश्रित है और यह कहा जाता है कि वेद इस मत का समर्थन करता है। यदि हम वेद के मन्त्र और ब्राह्मण इन प्रारम्भिक भागों को लेते हैं तो हमें यह पता हो जायगा कि इस कथन का अंतिम अंश नितान्त न्याय-संगत है, और यह कहा जाता है कि श्रुत होने के कारण वेद में कोई असंगति नहीं हो सकती और इसलिए उसे उपनिषदों में भी उसी सत्य का प्रतिपादन करना चाहिए। इस पक्ष के समर्थन में द्वैतमत का प्रतिपादन करने वाले कुछ अंशों का उल्लेख किया जाता है। ये अंश, जैसा उल्लेख ही किया जा चुका है, उपनिषदों में पाये ही जाते हैं। वह हम बाद में देखेंगे कि सत्यवाद की दृष्टि से महत्वपूर्ण अपेक्षतः कहीं अधिक अंशों की व्याख्या इस सम्प्रदाय किस भांति की गई है। ईश्वर में विश्वास रखना पूर्णतया शास्त्रों पर ही निर्भर है, यद्यपि अनैक्य के विषय में ऐसा नहीं है। इसक कारण यह है कि ईश्वर को मनुष्य की साधनाहीन इन्द्रियों और बुद्धि के परे माना जाता है। वह जगत का निमित्त कारण है और बहुत कुछ सांख्य-योग की भांति ही जगत का उपादान कारण प्रकृति को माना जाता है। हम जानते ही हैं कि रामानुज के अनुसार, जो एक महान आस्तिक दार्शनिक थे, ईश्वर उपादान कारण भी माना जाता है, परन्तु तब उसे जीवात्माओं और भूत-तत्व का सूक्ष्म शरीर माना जाना चाहिए। जैसा डा० भण्डारकर का मत है, मध्व उसके इस प्रकार के सम्बन्ध को इतना घनिष्ट मानते थे कि ईश्वर के सर्वोपरि ऐश्वर्य से

उसकी कोई सङ्गति ही नहीं हो सकती। अब तक हमने जो कहा है उससे यह प्रकट होता है कि द्वैतमत न्याय वैशेषिक के समान है। बहुत अंशों तक उनमें अत्यधिक भिन्नता भी है। इस प्रकार के भेद के दो दृष्टान्त हम दे ही चुके हैं। पहला है अनिश्चित संख्या वाले परमाणुओं के स्थान पर प्रकृति को ही भौतिक जगत का एकमात्र कारण मानना, दूसरा है तर्क के आधार पर नहीं बल्कि श्रुति के आधार पर ईश्वर में विश्वास रखना।

इस मत में भेद की जो भावना की गई है वह अत्यधिक महत्वपूर्ण है और इसलिए उसे कुछ विस्तार पूर्वक समझाना आवश्यक है। कितने ही दार्शनिक, विशेष रूप से अद्वैतवादी, इसका निराकरण क्यों करते हैं इसी को समझाते हुए हम इस पर विचार करना प्रारम्भ करेंगे। वे कहते हैं कि भेद का प्रत्यय सापेक्ष है और इस कारण भिन्न वस्तुओं का उल्लेख किये बिना उनका भेद भी अग्राह्य है। जैसे 'अ' और 'ब' को ही ले लीजिए। हम जब उनके भेद पर विचार करेंगे तो उन दोनों वस्तुओं के सर्वज्ञान को हमें स्वीकार ही करना होगा। परन्तु यह ज्ञान उनको 'दो' के रूप में सूचित करता है, इस कारण उसमें स्वभावतः ही भेद-प्रत्यय निहित है। इस प्रकार भेद-प्रत्यय में और उन वस्तुओं में जो भिन्न होती हैं अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है और इसलिए हम उनमें से किसी को भी दूसरे के बिना नहीं समझ सकते। इसी से अद्वैतवादी भेद-प्रत्यय को अपने ही में असंग मानते हैं और आभास मात्र कह कर उसका निराकरण करते हैं। इस सम्बन्ध में वे अन्य उक्तियां भी उपस्थित करते हैं, परन्तु हमें अपने ध्यान को केवल इस एक ही उक्ति तक सीमित रखना ही पर्याप्त होगा।

उपर्युक्त उक्ति का खण्डन करते हुए द्वैतवादी यह कहता है कि अन्योन्याश्रित सम्बन्ध की कठिनाई तो इस कारण उठती है कि उसमें यह स्वीकार कर लिया गया है कि भेद जिनसे उसका सम्बन्ध रहता है

उनसे कुछ अधिक है। उसके अ सार वास्तविकता यह है कि भेद उस वस्तु विशेष के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, अथवा जैसा कहा जाता है वह उसका स्वरूप मात्र है। उपर्युक्त दृष्टान्त में ,अ' ठीक वही है जो 'ब' से उसके भेद से हम समझते हैं; और 'ब' वही है जो 'अ' से उसका भेद है। अस्तु, जैसा कि आलोचक कहता है अ और ब से उसका भेद अथवा ब और अ से उसका भेद-अन्योन्याश्रित सम्बन्ध-के लिए इस प्रकार के दो खण्ड हो ही नहीं सकते। अब सम्भवतः एक प्रश्न उठेगा कि उस दशा में, जैसा प्रायः कहा जाता है, हम "ब से अ के भेद" के विषय में यह कैसे कह सकेंगे कि वे दोनों अर्थात् "भेद" और 'अ' एक दूसरे से भिन्न हैं। द्वैतवादी इसका यह उत्तर देते हैं कि किसी वस्तु और दूसरे से उसके भेद में जो तादात्म्य होता है वह एक विशेष प्रकार का तादात्म्य है। यह इस कारण है कि वह कभी-कभी-कभी इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है कि उनमें भेद स्थापित करता हुआ सा प्रतीत हो। वे इसे "सविशेष भेद" कहते हैं। जिस प्रकार विशिष्टा द्वैत में अपृथक सिद्धि का अत्यधिक महत्त्व है उसी प्रकार इस मत में विशेष की भावना का जिस पर सविशेष भेद का सिद्धान्त आश्रित है, अत्यन्त महत्वपूर्ण है। द्वैत पदार्थ के अन्तर्गत इसकी (विशेष की) विवेचना करने के पश्चात् भेद के इस प्रकरण का उल्लेख हम पुनः करेंगे। इस समय इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि इस सम्बन्ध में द्वैत तर्क का अन्तिम निर्णय यह निकलता है कि जब हम दो अथवा अधिक वस्तुओं के भेद के विषय में कहते हैं तो उससे हमारा अर्थ केवल यह होता है कि उन दोनों में से प्रत्येक स्वयं है। प्रत्येक वस्तु विलक्षण होती है और इसी विलक्षणता में ही दूसरी वस्तुओं से उसका भेद निहित रहता है।

भेद जो कि सत्-तत्व विषयक मत के लिए इतना मौलिक है पांच प्रकार का बताया जाता है: ईश्वर और आत्मा का, विभिन्न आत्माओं का,

ईश्वर और भूत-तत्व का, आत्मा और भूत-तत्वका, और अपने ही विभिन्न स्वरूपों में स्वयं भूततत्व का। ये सभी पूर्णतया भिन्न हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि जिन वस्तुओं में भिन्नता स्थापित की जाती है वे स्वतंत्र हों। उदाहरणतया भौतिक शरीर आत्मा पर निर्भर रहता है जिससे उसका सम्बन्ध रहता है, यद्यपि वह उससे पूर्णतया भिन्न है। विशेष रूप से यह ईश्वर और जगत के सम्बन्ध में है। दोनों के भेद के अन्तर का अर्थ यह नहीं है कि जगत का उससे कोई सम्बन्ध नहीं और उसके बिना भी उसका अस्तित्व रह सकता है। यहां हम स्वतंत्र उसे मानते हैं जो अपनी इच्छानुसार ही हो सकता है, जान सकता है और कार्य कर सकता है। केवल ईश्वर ही इस प्रकार का सत्व है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक अन्य वस्तु अन्ततोगत्वा उसी की इच्छा से अस्तित्व ग्रहण करती है, ज्ञान प्राप्त करती है और क्रियाशील होती है। ईश्वर के सम्बन्ध में भेद का तात्पर्य यह नहीं होता कि वह विश्व के बाहर केवल दर्शक मात्र सा रहता है। वह उसमें व्याप्त रहता है और बाहर से उसका नियन्त्रण करता है। ईश्वर की इस पूर्ण परम रूपता के आधार पर अथवा इसी को दूसरे शब्दों में इस प्रकार कहिए कि परम-प्रयोजन सम्बन्धी न कि संख्या सम्बन्धी एकत्व के आधार पर ही द्वैत कभी-कभी उपनिषद के "सर्व खल्विद ब्रह्म" जैसे अद्वैतवादी वाक्यों की विवेचना करता है।

प्रस्तुत मत में भेद को परम सत्य के रूप में स्वीकार किया गया है। इसी से यह मत न केवल शंकर के अद्वैतवाद से भिन्न है वरन् प्रत्येक प्रकार के एकत्ववाद (monism) से भी। परन्तु साथ ही हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि यह उस अर्थ में अनेकत्ववादी नहीं है जिस अर्थ में उसे साधारणतः ग्रहण किया जाता है। इसका कारण यह है कि उसमें केवल एक ही स्वतंत्र तत्व माना जाता है न कि अनेक, जैसे उदाहरणतः न्यायवैशेषिक में। मध्व तो इतने आगे बढ़ गये हैं कि ईश्वर ही को

प्रत्येक वस्तु की सत्ता का कारण बताते हैं। यद्यपि ऐसा प्रतीत होता है कि इससे उनका अर्थ केवल यह था कि प्रत्येक वस्तु उसकी इच्छा पर र्णतया आश्रित हैं न कि यह कि उनकी सत्ता ही उससे ली गई है, तथापि यह तो स्पष्ट ही है कि मध्व के अनुसार ईश्वर के अतिरिक्त ऐसा और कोई पदार्थ नहीं हो सकता जो अपने ही से अस्तित्व भूत कहा जा सके।

इस मत में दस पदार्थ माने गये हैं। वे हैं—द्रव्य, गुण, कर्म सामान्य, विशेष, विशिष्ट, अंशी, शक्ति सादृश्य और अभाव। इन पदार्थों में से कितनों पर ही हम किसी न किसी प्रसङ्ग में विचार कर ही चुके हैं और यहाँ उनकी जो भावना की गई है वह कुछ अधिक भिन्न नहीं है। शेष पदार्थों में से केवल द्रव्य और विशेष की विवेचना करना ही पर्याप्त होगा। परन्तु ऐसा करने के पूर्व हमें एक सामान्य बात का उल्लेख कर देना चाहिए। वह यह है कि द्रव्य और गुण के बीच में रहने वाले सम्बन्ध के विषय में द्वैत का क्या विचार है। मध्व का मत है कि यह सम्बन्ध दो प्रकार का हो सकता है। कुछ गुण तो तब तक रहते हैं जब तक उनके आश्रय रहते हैं। उदाहरण स्वरूप भौतिक पदार्थों का गुरुत्व। अन्य गुण ऐसे नहीं होते हैं। उनके मत में पहले प्रकार के गुणों और द्रव्य में जो सम्बन्ध रहता है वह सदैव अभेद का है। इसके विपरीत दूसरे में वे भेद और अभेद का सम्बन्ध मानते हैं। अर्थात् जब तक आश्रय गुणों से विशिष्ट रहता है तब तक जो सम्बन्ध रहता है वह अभेद होता है किन्तु जब ऐसा होना समाप्त हो जाता है तो वह सम्बन्ध भेद होता है। एक वस्तु कुछ समय तक श्वेत रहती है परन्तु उसके पश्चात् उसका वर्ण परिवर्तित हो सकता है। जब तक वह वस्तु श्वेतता से विशिष्ट रहती है तब तक श्वेतता का उससे तादात्म्य रहता है, परन्तु बाद में ऐसा नही होता, क्योंकि यदि ऐसा होता तो श्वेतता का गुण तिरोहित हो जाने पर

उस वस्तु को भी तिरोहित हो जाना चाहिए। गुण और द्रव्य के सम्बन्ध के इस मत का एक परिणाम यह है कि नित्य पदार्थों के मूलगत गुणों को विशिष्ट करने वाले गुण अनित्य होते हैं और जिस काल में वस्तुओं का अस्तित्व रहता है उसमें भी उनका उनसे तादात्म्य हो भी सकता है और नहीं भी।

(१) द्रव्य :—द्रव्य बीस हैं; परन्तु जैसा हमने वेदान्त के अन्य दो सम्प्रदायों के विषय में किया है हम अपना ध्यान उनमें से केवल तीन ही तक सीमित रखेंगे। ये तीनों ही समस्त दर्शनों और धर्मों के के प्रमुख विषय हैं।

(अ) ईश्वर :—इस मत के अनुसार ईश्वर के सर्वश्रेष्ठ स्थान का उल्लेख हम कर ही चुके हैं। वह सर्व ऐश्वर्य सम्पन्न माना जाता है। वह इस अर्थ में अद्वैत है कि हम श्रुति की सहायता से भी उसको पूर्णरूपेण नहीं जान सकते हैं न कि इस अर्थ में कि वह मन की पहुँच के बिलकुल परे है जैसा अद्वैत का ब्रह्म होता है। हम कह सकते हैं कि वह ज्ञेय तो है परन्तु ग्राह्य नहीं है। ईश्वर सत्व, रज और तम के परे हैं। जो यहाँ विशिष्टाद्वैत की भांति प्रकृति के गुण नहीं हैं वरन् उसके सर्वप्रथम कार्य अथवा विकार हैं। ज्ञानमय और आनन्दमय होने के अतिरिक्त ईश्वर के अपने भी गुण होते हैं, जैसे अनन्त शक्ति और अनन्त करुणा। यहाँ ईश्वर की भावना सविशेष रूप में की गई है, परन्तु उसका व्यक्तित्व पूर्ण और स्वतंत्र प्रकार का है। जैसा कहा भी जा चुका है ईश्वर सम्पूर्ण विश्व का केवल सृष्टा और संहारक ही नहीं है प्रत्युत वह उसके प्रत्येक स्वरूप का पूर्णतया नियमन भी करता है। मध्व कहते हैं—"जीव, द्रव्य काल और प्रत्येक वस्तु केवल उसके अनुग्रह के कारण

उनका कोई अस्तित्व ही न रहे।" इस दृष्टि से जैसा वह स्वयं कहते हैं, केवल दो ही पदार्थ हैं—एक स्वतंत्र तथा दूसरा अस्वतन्त्र। परन्तु यद्यपि

इस प्रकार प्रत्येक वस्तु का अस्तित्व उसी के लिए है और उसी के लिए वे व्यापारशील हैं तथापि स्वभावतः ही पूर्ण होने के कारण वे ईश्वर के लिए व्यापारशील हैं तथापि स्वभावतः ही पूर्ण होने के कारण उसे उनसे कुछ प्राप्य नहीं है। विश्व की विविध क्रियाएँ उसकी पूर्णता की सूचक मात्र हैं; और समस्त सृष्टि का तात्पर्य केवल यह है कि सबों को उचित आत्म संयम के द्वारा आत्म-साक्षात्कार का अवसर प्राप्त हो सके। यद्यपि ईश्वर एक है तथापि वह जो स्वरूप भी चाहे धारण कर सकता है, जैसे, उदाहरणस्वरूप, वह अवतार के रूप में अवतरित होता है। रामानुज के सम्प्रदाय के अनुसार वह समस्त शब्दों का परम अर्थ भी है।

(ब) जीव :—ये अनेक हैं इनमें से प्रत्येक अन्य दूसरों से मूलतः भिन्न है जैसा उनकी प्रतीतियों की भिन्नता से प्रकट होता है। प्रत्येक की अपनी-अपनी अपूर्णताएँ रहती हैं जैसे अज्ञानता और दुःख। प्रत्येक अणु-परिमाण वाला होता है। वे केवल एक दूसरे से ही भिन्न नहीं होते हैं वरन् ईश्वर से भी, परन्तु यह भेद अत्यन्त नहीं होता है जैसा भूत-तत्व के सम्बन्ध में होता है क्योंकि उनमें चैतन्य (यद्यपि विशिष्ट) जैसे कुछ लक्षणों का समावेश है जो कि उनमें और ईश्वर में समान रूप से पाये जाते हैं। सादृश्य के इसी सिद्धान्त के आधार पर ही मध्व कभी-कभी "तत्त्वमसि" जैसे औपनिषद वाक्यों को समझाते हैं। उनके अनुसार अद्वैत की भांति उनमें कोई तात्विक तादात्म्य नहीं है वरन् सादृश्यमात्र है। जीव तीन प्रकार के होते हैं:— पहले वे जो बद्ध रहते हैं परन्तु मुक्त हो सकते हैं, दूसरे वे जो नित्य ही संसार में एक योनि से दूसरी योनि में चक्कर खाया करते हैं और अंतिम वे जिन्हें सदा के लिए नरक की यातनाएँ भोगनी पड़ती हैं। अंतिम दो प्रकार के जीवों को स्वीकार करना इस मत का विचित्र लक्षण है और इससे यह प्रकट होता है कि मध्व समस्त भूत-समुदाय की मुक्ति के आदर्श को, जिसे कितने ही भारतीय दार्शनिकों ने माना है, नहीं

मानते हैं। एक ऐसे मत के लिए जो इतना पूर्णरूप से आस्तिक है और जो, जैसा हम देखेंगे, ईश्वरीय अनुकम्पा पर इतना अधिक विश्वास रखता है, ऐसे निर्णय पर पहुँचना जरा कुछ विचित्र सा है। यह केवल यही सूचित नहीं करता है कि असत् तत्व संसार में सदैव रहेगा वरन् मानवीय मुक्ति के क्षेत्र और ईश्वरीय अनुकम्पा की शक्ति को भी संकुचित कर देता है।

(स) प्रकृतिः—यही भौतिक जगत की परम कारण है। यह नित्य और जड़ है। जैसा कहा ही जा चुका है कि सत्व, रज और तम ये तीनों गुण उसके सर्व प्रथम कार्य माने जाते हैं। उनसे क्रम से महत, अहंकार मन, ज्ञानेन्द्रियाँ और पंचतत्व बहुत कुछ सांख्य-योग के समान ही निस्तृत होते हैं। कार्य-कारण सम्बन्ध के विषय में द्वैत का जो मत है वह अद्वैत के ही तद्विषयक मत से ही नहीं वरन् इस विषय में न्याय वैशेषिक और सांख्य-योग का जो मत है उससे भी भिन्न है। उत्पन्न होने वाले कार्य को उत्पत्ति के पहले (और ऐसा भी माना जाता है कि विनाश के बाद भी) न केवल सत् और न केवल असत् बल्कि सत् और असत् दोनों ही माना जाता है। (सदासत्कार्यवाद)। उस समय वह कारण के रूप में रहता है न कि कार्य के रूप में। उसे उपादान कारण के रूप में रहना चाहिये यह बात इससे प्रकट होती है कि कुछ विशेष कार्य कुछ विशेष कार्यों से ही उत्पन्न होते हैं, उदाहरण स्वरूप, पट सूत्र से और घट मिट्टी से। सत् और असत् उसके इन द्विविध वाचकों में कोई विरोध नहीं है क्योंकि दोनों एक ही दृष्टि से उसके लिये प्रयुक्त नहीं किये गये हैं। एक वस्तु का अस्तित्व कारण रूप में तो हो सकता है परन्तु कार्य रूप में नहीं। उत्पन्न होने के पश्चात् भी वह सत् और असत् दोनों ही होती है। वह उस समय केवल कार्य रूप में रहती है, कारण रूप में नहीं। अब तक हमने उपादान कारण के विषय में कहा है। अन्य मतों की भांति द्वैत में भी अपादान कारण भी स्वीकार किया

जाता है। हां, उसमें अपादान कारण और कार्य में जो सम्बन्ध होता है वह है अत्यन्त भेद का।

(२) विशेष :—जैसा कि कहा जा चुका है द्वैत तत्वमीमांसा (ontology) को ठीक ठीक समझने के लिये यह अत्यधिक महत्त्व-पूर्ण है। उदाहरण के लिये द्रव्य और गुण के सम्बन्ध पर विचार कीजिए। यहां हमारा तात्पर्य एक वस्तु और उसके नित्य गुण से है (जैसे एक मुद्रा और उसके गुरुत्व को ही ले लीजिए) न कि उसके अस्थाई गुण से। इसको हम तीन सम्भव रीतियों से समझा सकते हैं। दो को तो अभिन्न अथवा एक दूसरे से बिलकुल भिन्न माना जा सकता है अथवा उन्हें एक ही समय एक दूसरे से अभिन्न अथवा एक दूसरे से भिन्न दोनों ही माना जा सकता है। द्वैत के अनुसार इनमें से कोई भी विवेचना ऐसी नहीं है जो तर्क के सामने ठहर सके और द्वैतमत हमें यह बताता है कि उनमें से प्रत्येक में विशेष प्रत्यय निहित रहता है। पूर्व परिच्छेद में जो युक्तियां उपस्थित की गई है, उनमें से अंतिम वास्तव में कोई विवेचना ही नहीं है। अतएव, हम उसे छोड़कर शेष दो पर ही विचार करेंगे।

प्रथम विवेचना में मुद्रा और गुरुत्व में तादात्म्य स्थापित किया गया है, परन्तु गुरुत्व प्रायः हमारे विचार और बातचीत का विषय रहता है जिससे यह स्पष्टतया सूचित होता है कि उनमें अन्तर है और इसलिए यह उनके तादात्म्य की कल्पना के विरुद्ध है। इस मत के प्रतिपादकों को इस असंगति को समझाने के लिए मुद्रा में अथवा गुरुत्व में अथवा दोनों में किसी ऐसी वस्तु की कल्पना करनी चाहिए जो उनमें अन्तर स्थापित करना न्यायोचित ठहराती हो यद्यपि उनमें कोई वास्तविक भेद नहीं है। इस 'कुछ' को ही द्वैत ने विशेष की संज्ञा दी है। यदि हम द्वितीय मत को ग्रहण करते हैं कि मुद्रा और उसका गुरुत्व नितान्त भिन्न हैं तो एक त्रिवर्ग स्थापित हो जायगा। इनमें दो तो वे

होंगे जिनमें सम्बन्ध रहता है और तीसरा उनको विशिष्ट करने वाला भेद। अब यदि, जैसा कि स्वीकार कर लिया गया है, द्रव्य और गुण भिन्न भिन्न हों तो मुद्रा और उसके गुरुत्व में जो भेद होगा वह स्वयं गुण हो जायगा, क्योंकि वह एक द्रव्य (मुद्रा) को विशिष्ट करता है और इसलिए उसे उससे भिन्न होना चाहिए अर्थात् पहले को समझाने के लिए हमें दूसरे भेद की कल्पना करनी पड़ेगी और दूसरे को समझाने के लिये तीसरे की। इस प्रकार इस क्रिया से अनवस्था दोष उपस्थित हो जाता है। इससे बचने के लिए विचाराधीन मत के प्रतिपादकों को यह कल्पना करनी पड़ती है कि द्रव्य और गुण के भेद की व्याख्या स्वयं उसके आश्रय अथवा आधार से पृथक करना आवश्यक नहीं है। दूसरे शब्दों में उसे यह मानगा पड़ेगा कि द्रव्य और गुण भिन्न हैं इस नियम का कम से कम एक अपवाद तो है ही। इसी विवेचना में कि उनमें भेद करने की कोई आवश्यकता नहीं है यद्यपि वे कभी-कभी दो से प्रतीत होते हैं, द्वैतवादी उन सब दृष्टान्तों में विशेष के आधार पर लागू बताता है जहां कि भेद नहीं होता है परन्तु तब भी दोनों में अन्तर बताया जाता है। उसके मत में भेद एक ऐसा ही दृष्टान्त है क्योंकि वस्तु से उसका तादात्म्य होते हुए भी वह, जैसा कि ऊपर कहा ही जा चुका है, उनसे भिन्न भी कहा जाता है। यह ध्यान में रखना चाहिये कि विशेष भेद के समान ही नहीं है वरन् यह वह पदार्थ है जिससे हम एक ही सी समान वस्तुओं को भिन्न कहने में समर्थ होते हैं। ऊपर वस्तु और उसके अस्थाई गुण का एक उदाहरण दिया गया है। उसमें एक पुरानी समस्या को सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है। पाठक देखेंगे कि यहां भी वैसा ही प्रयत्न किया गया है। यह उन वस्तुओं की है जिनमें न तो पूर्णरूपेण तादात्म्य दिखाई देता है और न पूर्णतया भेद ही।

इसके अनुसार विशेष का अर्थ उस विशेषता से है जो वस्तुओं को

विशिष्ट करती है और प्रत्येक वस्तु में उतने ही विशेष माने जाते हैं जितनों की उपर्युक्त प्रकार के भाषा के प्रयोगों में आवश्यकता होती है (जब हम भाषा के प्रयोगों की बात कहते हैं तो उससे यह भी लक्षित होता है कि उनमें विचारों के तदनुरूप प्रकार भी निहित हैं)। इसकी कल्पना केवल द्रव्यों के सम्बन्ध में ही नहीं वरन् सभी पदार्थों—यहाँ तक कि अभाव—के सम्बन्ध में भी की गइ है। इसका कारण यह है कि उन सबों में ही ऐसी विशेषताएँ हैं जिन्हें सामान्य दृष्टि से कभी तो उनसे भिन्न बताया जाता है और कभी नहीं। न्यायवैशिषक में विशेष की जो भावना की गई है यहाँ हमें उससे भिन्नता मालूम पड़ती है। उसमें विशेष को केवल द्रव्यों तक सीमित कर दिया गया है। दोनों की भावनाओं में दूसरा महत्वपूर्ण अन्तर यह है कि न्याय-वैशेषिक में तो विशेष दो वस्तुओं में माना जाने वाला भेद समझाने के लिए स्वीकार किया गया है किन्तु यहाँ भेद करने के लिये स्वीकार किया जाता है जबकि वस्तुओं में भेद माना नहीं जाता।

ज्ञान प्राप्त करने की क्रिया न्याय-वैशेषिक के समान ही समझायी गई है किन्तु स्वयं ज्ञान की भावना में अत्यधिक भेद है। न्याय-वैशेषिक में इसे एक गुण माना जाता है। इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष जैसी कुछ शर्तों के पूरा हो जाने पर आत्मा में यह गुण उत्पन्न होता है। यहाँ उसे मन का परिणाम कहते हैं और इसीलिए वह मन ही को विशिष्ट करता है न कि आत्मा को। इस विवेचना से ऐसी कोई कठिनाई उपस्थित नहीं होती है कि कर्त्ता आत्मा को अपना ही न समझ सके। इसका कारण यह है कि इस मत के अनुसार आत्मा ही ज्ञान क्रिया को प्रारम्भ करने वाली कर्ता है और इसलिए वह उत्पन्न होने वाले ज्ञान से असम्बद्ध नही है। विशिष्टाद्वैत की भांति यहाँ भी यह माना जाता है कि समस्त ज्ञान एक विशिष्ट अर्थ की ओर संकेत करता है, फलस्वरूप किसी गुण रहित तत्व को स्वीकार करने के लिए कोई प्रमाण नहीं है।

हम यह कह ही चुके हैं कि यह मत वस्तुवाद का प्रतिपादन करता है। यह पूर्ण अर्थ में वस्तुवाद है क्योंकि मध्व इस बात का निराकरण करते हैं कि कोई ऐसा ज्ञान भी हो सकता है जिसका सम्बन्ध उससे अन्य किसी वस्तु से न हो, और जैसा हम शीघ्र ही देखेंगे, भ्रम के विषय में भी उनका यही विचार है। देश और काल में होने वाला अस्तित्व ही सत् की कसौटी है। जिस वस्तु का सम्बन्ध देश और काल से होता है वह अनिवार्यतः सत् होती है चाहे वह सम्बन्ध कितना ही क्षणिक अथवा कितने ही कम स्थान में क्यों न हों। द्वैत में अद्वैत के समान सत्य और व्यावहारिक अथवा व्यावहारिक और मिथ्या के बीच कोई अन्तर नहीं माना जाता है। तत्व-मीमांसा (ontology) की दृष्टि से केवल एक ही प्रामाणिक अन्तर माना जाता है. वह है सत्य और मिथ्या के बीच। यदि अद्वैत में केवल एक सत्य की कल्पना करके और शेष समस्त विश्व को उसी का आभासमात्र मान कर उपनिषदों के प्रमुख रूपेण एकत्वादी (obsolutistic) दृष्टिकोण को समझाया गया है तो द्वैत में इसी को ईश्वर की परमतत्व के रूप में कल्पना करके और शेष सभी को पूर्णतया उसी पर आश्रित मान कर समझाया गया है।

इस मत के वस्तुवाद (Realism) के अनुसार प्रमा की परिभाषा करते हुए उसे बाह्य अर्थ के अनुरुप कहा गया है। उसमें यथार्थ के समान ही विषयों को ग्रहण किया जाता है। स्वप्न और स्मृति को भी सत्य माना जाता है। परन्तु स्वप्न केवल उसी दशा तक यथार्थ होते हैं जहां तक स्वयं अपने में उनके विषयों का सम्बन्ध है। उस समय उनकी जो बहुरूपता अनुभव में आती है वह भ्रम मात्र मानी जाती है। उदाहरणतया स्वप्न में देखा गया हाथी, हाथी के रूप में तो सत है, परन्तु जब हम उसके अस्तित्व को, मान लीजिए, नगर के राजपथ पर देखते हैं तो वह मिथ्या है। स्वप्न के विषयों को सत्य मानने का कारण यह है कि बाद में उनका प्रतिषेध नहीं होता है। जगने पर स्वप्न द्रष्टा

को यह नहीं मालूम होता कि जिसे उसने देखा था वह हाथी नहीं था। उसे तो केवल यह मालूम होता है कि वह वहां बाहर नहीं है। स्मृति भी प्रमा होती है। यह तभी होता है जब हम स्मृत विषय को देश और काल के प्रसङ्ग में लेतें हैं जिसमें वह प्रकट होता है, किन्तु जिस देश और काल में वह स्मृत होता है उसके सम्बन्ध की दृष्टि से ऐसा नहीं होता है। अर्थात्, वह मिथ्या तभी होता है जब हम भूत वस्तु को वर्तमान सोचें और सुदूर को निकट।

न्याय और द्वैत के भ्रम-सम्बन्धी सिद्धान्त में बहुत समानता है। उनमें केवल एक महत्वपूर्ण अन्तर है, और इस कारण इसको कभी-कभी उसका नवीन तथा संवर्द्धित रूपान्तर (अभिनवान्यथाख्याति) कहते हैं। न्याय का मत यह है कि केवल रज्जु ही के उपस्थित होने पर जो सर्प देखा जाता है वह सत होता है, यद्यपि उस स्थान पर नहीं जहाँ वह दिखाई देता है। द्वैत इस बात को स्वीकार करता है कि जहां सर्प दिखाई देता है वहां वह नहीं रहता है, परन्तु वह इस बात को असम्बद्ध कह कर तिरस्कृत कर देता है कि उसका अस्तित्व अन्य स्थान पर सत है। इस प्रकार अत्यन्त असत् को सत रूप में ग्रहण करना ही भ्रम है। यही अन्यथा—ख्याति (अन्यथा ग्रहण करना) इस भ्रम में पायी जाती है। इस निर्णय पर कि सर्प का अत्यन्त अभाव है हम बाद में होने वाले उस ज्ञान से पहुँचते हैं जो हमें अपनी गलती बताता है। इससे हमें यह मालूम पड़ता है कि हमने जिसे सत् रूप में ग्रहण कर लिया था यथार्थतः सत् था ही नहीं। फलस्वरूप भ्रम का विषय न तो उस स्थान पर होता है जहां वह दिखाई पड़ता है और न अन्य कहीं ही। परन्तु तब भी यह कहा जाता है कि भ्रम का अपना विषय या अधिष्ठान होता है। यह विषय अत्यन्त अभाव होता है द्वैतवादी का यह विश्वास है, यद्यपि बहुत ऐसा नहीं मानते कि अभाव भी ज्ञेय है, जैसा उदाहरण-स्वरूप इस बात से सूचित होता है कि हम एक

सींग वाले जानवर और चौकोर वृत्त की बात कहते हैं असत का उल्लेख करना ही यह स्वीकार कर लेना है कि हम उसे जानते हैं। यद्यपि भ्रम का विषय असत होता है तब भी स्वयं भ्रम ज्ञान को नितान्त सत माना जाता है। इसीसे द्वैतवादी यह नहीं मानते हैं कि यदि ज्ञान का विषय मिथ्या है तो इसका अर्थ यह है कि वह ज्ञान भी मिथ्या है, जैसा अद्वैतवादी और वैसे ही कुछ अन्य दार्शनिक मानते हैं।

रामानुज की भांति ही मध्व ने भी केवल तीन ही प्रमाण स्वीकार किये हैं। वे हैं— प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द। परन्तु इसके अतिरिक्त वे स्वयं प्रमा को भी इस अर्थ में एक प्रमाण मानते है कि वह किसी यथार्थ विषय का संकेत करती है, इस अर्थ में नहीं कि वह प्रमा का साधन है। इस प्रकार प्रत्यक्ष तो प्रमाण के रूप में (उदाहरण स्वरूप) एक घट का संकेत प्रत्यक्ष-ज्ञान के द्वारा परोक्ष-रूपेण करता है। इसी प्रकार अनुमान प्रमाण रूप में अनुमिति के द्वारा परोक्ष रूप से वह्नि की विद्यमानता सूचित करता है, किन्तु प्रमा अपरोक्ष रूप से। इस प्रकार उन्होंने इन दो प्रकार के प्रमाणों के—जिन्हें कि केवल-प्रमाण और अनुप्रमाण कहा जा सकता है—बीच एक ऐसा अन्तर उठाया है जो इतना स्पष्ट प्रतीत होता है कि उसका प्रतिपादन करने की कोई आवश्यकता ही नहीं है। यहां अनुप्रमणों ही को त्रिविध रूप में विभक्त किया जाता है। उसके ये भेद हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द। इनमें हम केवल प्रत्यक्ष के विषय में ही कुछ शब्द कहेंगे। रामानुज की भांति ही, जहां तक शास्त्रों की आप्तता का सम्बन्ध है मध्व के मत से भी यही सूचित होता है कि उनका झुकाव आगमों और पुराणों के प्रति शंकर से अधिक है।

ज्ञानोपलब्धि का उपकरण भूत इन्द्रियों की संख्या सात मानी जाती है। इसमें केवल मन का ही नहीं अपितु साक्षी का भी अन्तर्भाव है। साक्षी की इन्द्रिय के रूप में जो भावना की गई है वह द्वैत का एक

दूसरा विशिष्ट लक्षण है। हम देख चुके है कि ईश्वर और आत्माएँ चैतन्य स्वरूप हैं। कुछ-कुछ अद्वैत की ही भांति यहां भी इसी चैतन्य को साक्षी माना गया है अर्थात् जैसा सामान्यतः सोचा जाता है यह किसी न किसी इन्द्रिय के द्वारा केवल उपस्थित वस्तुओं का ही ज्ञान नहीं प्राप्त करता है प्रत्युत चैतन्य स्वरूप होने के कारण यह उन्हें अपरोक्ष रूपेण भी जान सकता है। यह मत जैनियों के ज्ञानोपलब्धि के मत से आंशिक रूप में मिलता जुलता है। इस साधन के द्वारा जो ज्ञान प्राप्त होता है उसे नियत रूप यथार्थ माना जाता है। इस प्रकार अपनी आत्मा, दुःख, सुख, काल, देश जैसे कुछ तत्वों का ज्ञान अपरोक्ष रूप से प्राप्त होता है। इनके अतिरिक्त अन्य सबों को शेष किसी न किसी इन्द्रिय के द्वारा ही जान सकते हैं। मध्व के अनुसार जहां तक आत्मा का सम्बन्ध है वह अपने को अपने द्वारा ही जानती है। जैसा हम देख ही चुके हैं, शंकर ने इसी मत को विरोधोक्ति मात्र कह कर निराकृत कर दिया है। सुख-दुःख आदि का ज्ञान आत्मा में अपरोक्ष रूपेण होता है। इस सिद्धान्त को मानने का परिणाम यह होता है कि मन ज्ञान प्राप्त करने का एक सामान्य साधन मात्र रह जाता है और तब आत्मा को ज्ञान प्राप्त कराने के लिए अपने ही वि शष्ट विषयों को ग्रहण करने की उसकी क्रिया समाप्त हो जाती हैं, जैसा कितने ही अन्य मतों, उदाहरण-तया न्याय-वैशेषिक में ही, है। केवल स्मृति के सम्बन्ध में ही यह स्वयं एक उपकरण है।

(२)

अद्वैत की भाँति यहाँ भी अविद्या ही संसार का आदि कारण है। वह प्रत्येक जीव की अपनी-अपनी विशिष्ट है परन्तु यहां सत् रूप में उसकी भावना की गई है। वस्तुतः इस सम्प्रदाय में जो दस द्रव्य स्वीकार किये गये हैं अविद्या उनमें से एक है। उसके दो मुख्य स्वरूप

हैं। वह केवल मनुष्य से ईश्वर के सत्य-स्वरूप को ही नहीं, वरन् स्वयं उसके अपने स्वरूप को भी छिपा लेती है और उन दोनों को अभिभूत कर देना ही मोक्ष हैं। इनमें से आत्मा का यथार्थ ज्ञान तो शास्त्रों के अध्ययन से प्राप्त होता है, परन्तु यह परोक्ष ज्ञान होता है। जब ईश्वर के प्रसाद से परम मोक्ष प्राप्त होता है तब यह परोक्ष ज्ञान प्रत्यक्ष हो जाता है। इसका उल्लेख हम शीघ्र ही करेंगे। इस प्रकार मोक्ष के लिए जगत के स्रष्टा और सबों के प्रभु के रूप में ईश्वर का ज्ञान अधिक आवश्यक है। यह शास्त्रों के द्वारा भी उपलब्ध है परन्तु इसे प्रमुख रूप से निरन्तर स्थिर ध्यान के द्वारा ही प्रत्यक्ष-प्रतीति के रूप में परिवर्तित करना होता है। जीवात्माओं के द्वारा आनन्द की प्राप्ति ही जीवन का लक्ष्य है। यह आनन्द प्रत्येक आत्मा की अपनी वास्तविक योग्यता के अनुरूप होता है। इसीलिए एक आत्मा का दूसरी आत्मा से जो अन्तर होता है वह उन दोनों के मुक्त हो जाने पर मोक्षावस्था में भी बना रहता है। इस अवस्था में आत्मा का आनन्द और साथ ही उसका ज्ञान ईश्वर के अनन्त आनन्द और ज्ञान की तुलना में सीमित है; परन्तु तब भी लौकिक जीवन में इस प्रकार का आनन्द और ज्ञान पूर्णतया प्राप्त नहीं होता है जैसा मोक्ष के पश्चात् होता है। इस मत का दृष्टान्त देते हुए कहा गया है कि घट बड़ा अथवा छोटा हो सकता है और छोटा घट जल से पूर्ण हो सकता है और नहीं भी। जीवात्माओं के आवागमन और मोक्ष की अवस्थाओं में इसी प्रकार का भेद होता है।

हम इस बात की ओर संकेत कर चुके हैं कि मोक्ष के लिए ईश्वर का ज्ञान आवश्यक है। परन्तु वहाँ तक पहुँचने का अंतिम साधन ईश्वर का अविच्छिन्न प्रेम अथवा भक्ति है। यह भक्ति ईवश्र की महानता और दयालुता के अनुभव से उत्पन्न होती है। इस भक्ति के फल स्वरूप जीव को ईश्वर का प्रसाद प्राप्त होता है और मध्वाचार्य कहते हैं कि

इसी प्रसाद के कारण ही जीव मोक्ष प्राप्त करने में सफल होता है। शेष अन्य बातें इसके उपकरण मात्र हैं। इस सम्प्रदाय का आस्तिक स्वरूप कैसा है और जन साधारण में इसके इतने प्रचलित और आकर्षक होने का क्या कारण है, यह यहीं सबसे अच्छी तरह देखने में आता है। मनुष्य का जितना प्रेम अपने लिए अथवा अपनी किसी वस्तु के लिए होता है, यह प्रेम उससे अनन्त गुना अधिक तीव्र होना चाहिए और उसकी प्रेरणाएँ ऐसी होनी चाहिए कि अवरोध उनको विचलित करने में किसी प्रकार भी समर्थ न हो सकें, चाहे वे कितने ही अधिक क्यों न हों। ईश्वर की महानता और दयालुता का अनुभव मोक्ष का उपान्तिक साधन है। इस अनुभव का उदय गीता की भावना के अनुसार अपने कर्तव्यों का सम्पादन करके (कर्मयोग), पूर्ण अनासक्ति की भावना के अभ्यास, उसके पश्चात् योग गुरु से शास्त्रों के अध्ययन (श्रवण), दिये गये उपदेशों पर मनन तथा ध्यान द्वारा होता है। इसके लिए ऊपर जिस साधना का वर्णन किया गया है वह वही है जिसका विधान उपनिषदों में किया गया है और जिसका उल्लेख इसके पूर्व हम एक से अधिक बार कर चुके हैं। रामानुज की भांति मध्व भी जीवन्मुक्ति के आदर्श को स्वीकार करते हैं और अपने-अपने आश्रमधर्मों और साथ ही शास्त्रोक्त नित्यकृत्यों के अन्त समय तक पालन करने की आवश्यकता पर जोर देते हैं।

अनु. क्रमांक :-